PC. 68
5000

चीन में कृषि-सहकारी-संस्थाओं के अध्ययनार्थ गए भारतीय प्रतिनिधि-मंडल की रिपोर्ट

सत्यमेव जयते

भारत सरकार
योजना आयोग, नई दिल्ली
मई, १९५७

प्रेषण-पत्र

९, कोटा हाउस,

नई दिल्ली, २० फरवरी, १९५७

प्रिय श्री कृष्णमाचारी,

जो भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल चीन और जापान की कृषि-सहकारिता-संस्थाओं का अध्ययन करने के लिये वहाँ गया था, उसका प्रतिवेदन मैं इस पत्र के साथ आपकी सेवामें भेजता हूं।

२. प्रतिवेदन पर हस्ताक्षर करते समय, प्रतिनिधि-मण्डल के दो सदस्यों ने संकेत किया था कि वे अपना मतभेद पृथक् लिखेंगे। ज्योंही वह मुझे मिलेगा त्योंही मैं उसे अपने पत्र के साथ आपकी सेवा में भेज दूंगा।

भवदीय

(ह०) आर० के० पाटील

सेवा में—

श्री वी० टी० कृष्णमाचारी,
उपाध्यक्ष,
योजना आयोग,
राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली

इस प्रतिवेदन में निर्दिष्ट कुछ विदेशी नाप और तौल

चीन—

१ मऊ=० · १६ एकड़ अथवा ७७५ वर्ग गज अथवा पौन बीघे से कुछ कम।

१ एकड़=४८४० वर्ग गज।

१ कट्टी=१ · १० पौंड=८ · ८६ छटाँक या आधा सेर से कुछ अधिक।

१ युआन=२ रुपये।

१ टन=लगभग २७ १/२ मन।

१ पिकल=१३३ · ३ पौंड अथवा ६६ सेर ; डेढ़ और पौने दो मन के बीच का एक पैमाना।

चुई=लगभग तहसील के समान शासन की इकाई।

शियांग=परगने से मिलती जुलती शासन इकाई ; छोटे छोटे ग्रामों का ऐसा मण्डल व जिसकी आबादी लगभग २५०० हो।

जापान—

१ तान=० · २५ एकड़=१२१० वर्ग गज ; सवा बीघा से कुछ कम।

होक्टेयर=१० हजार वर्गमीटर अथवा २ १/२ एकड़ से कुछ कम।

१ कोकू=चावलों का एक नाप=३२१ · ८६ पौड ; ४ मन से कुछ कम।

१ येन=१ पुराने पैसे से कुछ कम अथवा १ · ३ नये पैसे। (१ रु० =७५ येन)।

खंड १

भूमिका और यात्रा का विवरण

पहला अध्याय

भूमिका

१. दिसम्बर १९५५ में जब श्रीमती सनयातसेन भारत आई थी तब उनके साथ आये हुये प्रो० चेन–हेन्सेंग ने योजना-आयोग के सदस्यों से मिलकर, चीन ने कृषि की सहकारिता-संस्थायें संगठित करने में जो प्रगति की है उसके विषय में उनसे विचार-विनिमय किया था। चीन और भारत की कृषि संबंधी समस्यायें परस्पर मिलती-जुलती हैं। (दोनों देशों में भूमि तो सीमित है परन्तु अपनी आजीविका के लिये केवल उस पर आश्रित रहने वालों की संख्या बहुत बड़ी है।) इसलिये योजना-आयोग ने निश्चय किया कि एक प्रतिनिधि-मंडल चीन भेजकर, "वहां कृषि की सहकारिता-संस्थाओं का विकास करने के लिये जिन उपायों का अवलम्बन किया गया है उनका विस्तार-पूर्वक अध्ययन" कराया जाये। इस प्रतिनिधि-मंडल के सदस्य ये सज्जन थे :

१. श्री आर० के० पाटील—नेता,

२. श्री देवकान्त बड़ुआ, मंसद्-सदस्य—सदस्य,

३. श्री एच० वी० त्रिपाठी, संसद्-सदस्य—सदस्य,

४. श्री हर्षदेव मालवीय, अ० भा० कांग्रेस-कमिटी के आर्थिक तथा राजनीतिक गवेषणा विभाग के मंत्री—सदस्य,

५. श्री वी० जे० पटेल, अ० भा० को-आपरेटिव यूनियन, नई दिल्ली के अवैतनिक जनरल सेक्रेटरी—सदस्य,

६. श्री एफ० एन० राना, भारतीय-शासन-सेवा के सदस्य और बम्बई राज्य की को-आपरेटिव सोसायटियों के रजिस्ट्रार—सदस्य,

७. श्री एम० पी० भार्गव, खाद्य-तथा-कृषि मन्त्रालय में सहकारिता के परामर्श-दाता—सदस्य तथा मंत्री,

श्री पी० वी० राजनेकर संकेत-लिपिक सारी यात्रा में प्रतिनिधि-मंडल के साथ रहे।

भारत में आरंम्भिक कार्य

२. चीन जाने से पूर्व प्रतिनिधि-मंडल ने प्रधान मंत्री, वित्त-मंत्री, योजना मंत्री और खाद्य तथा कृषि मंत्री से मिलकर अपने कार्य क्षेत्र के संबंध में विचार-विनिमय किया। मंडल के नेता ने योजना-आयोग के उपाध्यक्ष से भी विचार-विनिमय किया। १ से ३ जुलाई १९५६ तक मसूरी में राज्यों के सहकारिता-मंत्रियों एक का संमेलन हुआ था, जिसमें सहकारिता द्वारा करने की समस्याओं पर विचार किया गया था। प्रतिनिधि-मंडल उस सम्मेलन में भी सम्मिलित हुआ। कुछ सदस्यों ने उत्तर प्रदेश, पंजाब, भूतपूर्व पेप्सू, दिल्ली, बंबई, मैसूर और मद्रास जाकर वहां कृषि की कुछ सहकारिता-संस्थायें देखीं और उनकी कार्य-प्रणाली से परिचय प्राप्त किया। इन यात्राओं के प्रसंग में, इन सदस्यों ने, इन संस्थाओं के कार्यकर्ताओं और राज्यों के सहकारिता-विभागों के अधिकारियों के साथ, सहकारिता-पूर्वक खेती करने की कठिनाइयों और समस्याओं के विषय में भी विचार-विनिमय किया। इसी समय एक और प्रतिनिधि मंडल चीन की कृषि-विषयक योजनाओं और प्रणालियों का विशेष अध्ययन करने के लिये वहां जा रहा था। उसके साथ भी इस मंडल के सदस्यों ने विचार-विमर्श किया।

३. हम दिल्ली से २२ जुलाई १९५६ को चले और २४ जुलाई १९५६ को कैन्टन होते हुये २५ जूलाई १९५६ को पेकिंग पहुंच गये। हम, सब मिलाकर दो महीने, चीन में रहे और इस बीच हमने वहां के निम्न ८ प्रान्तों में उत्पादकों की १९ सहकारिता-संस्थायें देखीं :

१. लियाउनिंग,

२. शेन्सी,

३. ज़ेचुआन,

४. क्यागंसू,

५. चेकियांग,

६. शांगहाइ के उपनगर,

७. होपेई और

८. क्वांगतुंग।

अध्ययन की पद्धति

४. यहां यह बतला देना उचित है कि हमने अपना अध्ययन किस प्रकार किया, जिससे कि पाठक यह निर्णय कर सकें कि हमने जो विचार प्रकट किये हैं और जो कुछ हमने देखा वह सब कहां तक ठीक है। हमारी सब आवश्यकताएं पूरी करते रहने का काम, चीन की कम्यूनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के देहात-विभाग के उपसंचालक के सपूर्द किया गया था। यह सज्जन हमारी यात्रा में आदि से अन्त तक हमारे साथ रहे। इनकी उपस्थिति से हमें बहुत-सी बातें मौके पर ही समझ लेने में सहायता मिलती रही, वरना शायद ये बातें अनसमझी रह जातीं। तीन दुभाषियें भी हमारे प्रार्थना करने पर हमारे साथ कर दिये गये थे। उनके कारण हमें यह सुविधा हो गयी कि हमने अपना काम कई छोटे दलों में बंटकर भुगता लिया। हमारे पेकिंग पहुंचने के कुछ ही दिन पश्चात्, भारतीय दूतावास ने भी कृपा करके, अपने चीनी दुभाषिये श्री रोजर लो को हमारे साथ कर दिया। हमारे कैन्टन में ठहरने के चार दिन छोड़कर, वह सारी यात्रा में हमारे साथ रहे। हमें सब कुछ समझाने का प्राय: सारा भार उन पर ही पड़ा और हम उनके कार्य से पूर्णतया सन्तुष्ट हुए। दुभाषियों का बिचौलियापन, तथ्यों का निश्चय करने और लोगों की मनोवृत्ति समझने में, बाधक तो अवश्य होता है, परन्तु इस अनिवार्य उपाय का सहारा लेने के अलावा कोई चारा था भी नहीं ; इससे अच्छी अन्य कई व्यवस्था हो ही नहीं सकती थी।

५. पहले हमारी यात्रा का एक क्रम चीनियों ने ही तैयार किया था, परन्तु पीछे उसमें हमारी सलाह से कुछ परिवर्तन कर दिया गया था। हमने जिन मित्रों से राय ली उन्होंने सलाह दी कि हमें ज़ेचुआन प्रान्त अवश्य देखना चाहिये, क्योंकि वहां कम्यूनिस्ट राज सबसे पीछे हुआ था और वहां की अवस्थायें भारत से मिलती जुलती हैं। पहले के यात्रा-क्रम में कुछ ऐसी सहकारिता-संस्थायें भी सम्मिलित थीं जिनका हाल हम पढ़ चुके थे ; हमारे ख्याल में वे प्रदर्शन की वस्तु बन चुकी थीं। इसलिये हमने इन संस्थाओं को अपने यात्रा-क्रम में से निकलवा दिया। अपने चीनी मेज़बानों से कहकर हमने अपने यात्रा-क्रम में कुछ ऐसी संस्थाओं को सम्मिलित करवा लिया जिनका अध्ययन पहले किया जा चुका था, जिससे कि हम उनकी तब और अब की अवस्थाओं में तुलना कर सकें। चीनी मेजबानों ने हमारी ये प्रार्थनायें बिना किसी आनाकानी के मान लीं। यद्यपि देखने के लिये सहकारिता-संस्थाओं का चुनाव हम चीनियों की ही सहायता से कर सकते थे, परन्तु हमने जो देखा और जो समझा उसकी तुलना हमें उस प्रतिनिधि-मंडल के साथ भी करने का अवसर मिल गया जो कि भारत से चीन की कृषि-योजनाओं और उसकी प्रणालियों का विशेष अध्ययन करने गया था। उसी समय एक प्रतिनिधि-मंडल युगोस्लावियासे भी, चीन की कृषि-सहकारिता-संस्थाओं का अध्ययन करने, वहां आया हुआ था। हम उससे भी मिले। इन सब परिस्थितियों के कारण हमारा ख्याल है कि हमें चीन की भली, बुरी और औसत, सभी प्रकार की सहकारिता-संस्थाओं के खासे नमूने देखने को मिल गये होंगे।

६. प्रत्येक प्रान्त की राजधानी में पहुचकर हम पहले तो देहाती सहकारिता-संस्थाओं के अधिकारी से बातचीत करते थे, और उसके बाद उन संस्थाओं को देखने जाते थे जो कि हमें दिखाने के लिये चुनी गई होती थीं। हम अपना पूछताछ का काम या तो किसी स्कूल की इमारत में करते थे या सहकारिता-संस्था के दफ्तर में। इस समय साधारणतया संस्था के प्रधान पदाधिकारी उपस्थित रहते थे और हम अपने सब प्रश्न उन्हीं से करते थे। केवल एक बार हम एक ऐसी सहकारिता-संस्था देखने गये थे जो हमारे कार्यक्रम में सम्मिलित नहीं थी। ऐसा हमने तब किया था जब हमारे वायुयान को अकस्मात् सीयान में उतर जाना पड़ा था। हम वहां के स्कूल में गये तो सारा गांव हमारे इर्द-गिर्द इकट्ठा हो गया।

७. हमारी जांच का क्रम यह रहता था कि पहले तो हम संस्था के अध्यक्ष से कहते थे कि वह हमें अपनी संस्था का इतिहास सुना दे, उसके बाद हम कुछ प्रश्नोत्तर करके कई टोलियों में बंट जाते थे, प्रत्येक टोली के साथ एक एक दुभाषिया रहता था और प्रत्येक टोली अपनी जांच, उत्पादन, भूमि-सुधार, ऋण की प्राप्ती या संगठन आदि में से किसी एक पहलू तक ही सीमित रखती थी। सहकारिता-संस्था के पदाधिकारियों और सदस्यों के अतिरिक्त, हम ऐसे किसानों में से भी एक एक से व्यक्तिशः बातचीत करते थे जो संस्था के सदस्य नहीं बने होते, या जो सदस्य बनकर हट गये होते या जो भूतपूर्व जमींदार होने पर भी सदस्य बन गये होते थे। हम, लोगों के घरों में जाकर भी उनसे बात करते थे। हमने एक एक रात सहकारिता-संस्था के दफ्तर और चुई (तहसील के लगभग बराबर शासन की इकाई) के प्रधान कार्यालय में भी बिताई थी, और जो भीड़ हमारे आस-पास इकट्ठी हो गई थी उसके विचार तथा हालचाल जानने का यत्न किया था। हम जिन लोगों के संपर्क में आते थे उनमें विभिन्न पेशों वालों से भी बातचीत करने का यत्न करते थे।

८. हम दलों और टोलियों के नेताओं से भिलते थे, सदस्यों को काम करते हुये देखते थे, उनके साथ प्रबन्ध और संगठन के विषय में बातचीत करते थे, परन्तु इस सबके बावजूद हम सहकारिता-संस्थाओं का दिन-प्रति-दिन का कार्य नहीं देख सके, और उसके बिना सदस्यों और प्रबन्धकर्ताओं के आपसी संबंधों का वास्तविक ज्ञान किसी को नहीं हो सकता। ऐसा किसी सहकारिता-संस्था में अधिक समय तक ठहरकर किया जा सकता था, परन्तु उससे चीन के विभिन्न भागों की सहकारिता-संस्थायें देखने से रह जातीं। यदि किसी व्यक्ति को महीना-भर या लगभग इतना समय एक ही संस्था में रहकर उसके सब काम देखने का अवसर मिलता तो वह सहकारिता-संस्थाओं की कार्य-प्रणाली का अधिक निकट परिचय प्राप्त कर सकता था। हमारे लिये ऐसा करना संभव नहीं था।

९. चीनी अधिकारियों में सभी ने हमारे साथ सहृदयता और मित्रता का व्यवहार किया और हमारे कार्य को यथाशक्ति सरल बनाने का प्रयत्न किया। हमने उनसे जो जानना चाहा वह उन्होंने पता लगाकर भी हमें बतलाया। हमारे प्रश्नों का उत्तर उन्होंने निःसंकोच दिया और हमें उनमें किसी में भी कुछ छिपाने या जानकारी को दबाने की प्रवृत्ति दिखलाई नहीं पड़ी। इसके विपरीत, हमें लगा कि वे उन सब तथ्यों और अंकों को प्राप्त करने में हमारी सहायता करते थे जो कि हमारे अध्ययन के लिये उपयोगी हो सकते थे।

१०. हमारे पैकिंग पहुंचने पर चीन के प्रधान-मंत्री श्री चाउ-एन-लाइ हमसे दो बार मिले। पहली बार १७ अगस्त १९५६ को उनके साथ हमारी बातचीत अढाई घंटे तक हुई ; तब चीनी कृषि-योजनाओं का अध्ययन करने गया हुआ भारतीय प्रतिनिधि-मंडल भी हमारे साथ था। दूसरी बार उनके साथ हमारी बातचीत १८ सितम्बर १९५६ को एक घंटे तक हुई। उपप्रधान-मंत्री श्री तेंग-जे-हुई ने भी हमारे साथ अलग डेढ घंटे तक वार्तालाप किया। कृषि-मंत्री श्री लियाउ-लू-येन ने कृषि संबंधी विविध प्रश्नों की चर्चा करने में सब मिलाकर लगभग १८ घंटे का समय हमारे साथ व्यतीत किया। उनके अतिरिक्त सरकारी विभागों या कम्यूनिस्ट पार्टी या सहकारिता-संगठनों के अन्य भी अनेक ज़िम्मेवार अधिकारियों और कार्यकर्त्ताओं के साथ हमारी बात-चीत देर देर तक होती रही। इसी प्रकार, प्रान्तों की राजधानियों में भी, उपराज्यपालों, कृषि तथा अन्य सरकारी विभागों के अधिकारियों और सहकारिता-संस्थाओं के पदाधिकारियों ने, निजी कष्ट तथा कठिनाई की परवाह न करके, हमें समझाया कि उनके देश में विकास कहां तक हो चुका है और वे क्या क्या काम कर रहे हैं।

आभार

११. चीन की सरकार, उसके प्रधान मंत्री श्री चाउ-एन-लाइ, उपप्रधान-मंत्री श्री तेंग-ज़े-हुई, कृषि मंत्री, अन्य मन्त्रियों, केन्द्रीय और प्रान्तिक सरकारों के अधिकारियों और सहकारिता तथा अन्य संस्थाओं के नेताओं और अधिकारियों ने उदारता-पूर्वक हमारी जो सहायता की उसके लिये मंडल के हम सब सदस्य उनका आभार मानते हैं।

१२. (हमारे लिये जो यात्रा-क्रम और कार्यक्रम बनाया गया था वह पूर्णतया सफल रहा और निर्धारित क्रम के अनुसार संपन्न हो गया। इसका प्रधान कारण यह था कि चीनी सरकार ने जो कार्यकर्त्ता हमारे साथ कर दिये थे वे पग-पग पर हमारी सहायता करने का पूर्ण ध्यान रखते रहे।) हम सब, इन कार्यकर्त्ताओं के नेता श्री चिआंग-वेई-चुंग, मंत्री श्रीमती कान-लिआइ और दुभाषियों के परम कृतज्ञ हैं। भारतीय दूतावास के सब कर्मचारी, और विशेषतः राजदूत श्री आर० के० नेहरू, हमारी सहायता सदा तत्परता और उत्साह से करते रहे।

जापान में

१३. चीन का काम समाप्त करके हम २५ सितम्बर १९५६ को जापान चले गये। योजना-आयोग ने हमें वहां जाने की हिदायत, चीन से रवाना होने से कुछ ही पहले भेजी थी। हमने अपना कार्यक्रम उसी के अनुसार बना लिया और हम २८ सितम्बर १९५६ को टोकियो पहुंच गये। जापान में हमने टोचीगी और नगानों के दो ज़िलों का भ्रमण किया, तीन बहूद्देश्यीय आरम्भिक सहकारिता-संस्थायें देखीं और दो ज़िला-सहकारिता-संस्थाओं के संघों के कार्यालयों का काम समझने का यत्न किया। टोकियों में रहकर हमने कृषि-मंत्रालय, कृषि-अर्थव्यवस्था को राष्ट्रीय अनुसंधान-केन्द्र और विभिन्न राष्ट्रीय सहकारिता-संगठनों के अधिकारियों के साथ वार्तालाप और विचार-विनिमय किया। इनमें से कृषि-सहकारिता संस्थाओं के केन्द्रीय संघ, विक्रय-संघ, क्रय-संघ और केन्द्रीय बैंक के नाम उल्लेखनीय हैं।

१४. जापान का कार्यक्रम हमने एशिया-कियो-काई की सहायता से तैयार किया था। हमें दुभाषिये भी उसी ने दिये थे। परन्तु जापान में भाषा की कठिनाई उतनी नहीं हुई जितनी चीन में। जापान-सरकार और सहकारिता-संस्थाओं के पदाधिकारियों ने हमारी सब प्रकार सहायता की। उनका हम धन्यवाद करते हैं। एशिया-कियो-काई के अधिकारियों का हम विशेष धन्यवाद करते हैं।

१५. हम १६ अक्टूबर १९५६ को जापान से चलकर २२ अक्टूबर १९५६ को भारत वापिस आ गये। मार्ग में १७ से २१ अक्टूबर तक हम बैंगकौक में रुक गये थे।

१६. हमें अपने मंडल के मंत्री श्री एम० पी० भार्गव से निरन्तर सहायता मिलती रही। उनके हम आभारी हैं। योजना-आयोग के श्री ए० एन० सेठ ने यह विवरण तैयार करने में हमारी सहायता की है। उनका भी हम धन्यवाद करते हैं।

दूसरा अध्याय

हमारी यात्रा और हम पर उसका प्रभाव

सीमा से कैण्टन को प्रस्थान

१. हम २२ जुलाई १९५६ के प्रातःकाल नयी दिल्ली से चले और २४ जुलाई को, हांगकांग प्रदेश और चीन की मुख्य भूमि के मध्य का पुल पार करके, चीनी भूमि में जा उतरे। हमारा स्वागत करने के लिये, पैकिंग के टेक्निकल-सहयोग-विभाग की श्रीमती सु और कैण्टन के कृषि-कार्यालय का एक अधिकारी, वहां उपस्थित थे। चीनी रेल की प्रथम यात्रा का प्रभाव हमारे मन पर कुछ बहुत अच्छा नहीं पड़ा। जब तक रेल गाड़ी से आये हुये यात्री स्टेशन से बाहर नहीं निकल जाते थे तबतक जाने वालों को प्लेटफार्म पर नहीं आने दिया जाता था। इसका कारण हमें यह बतलाया गया कि इससे यात्रियों को टिकट केवल नियत मात्रा में दिये जा सकते हैं और रेल में भीड़ भाड़ नहीं होने पाती इस गाड़ी की चाल भी सुस्त थी, और इसमें यात्रियों को हिदायतें देने और उनका मनोरंजन करने के लिये निरन्तर लाउड स्पीकर (ध्वनि विस्तारक) का प्रयोग किया जा रहा था। यात्रियों में स्त्रियां भी खासी थीं। हम कैण्टन दोपहर-पीछे पहुंचे, और तुरन्त ही हमें होटल में ले जाया गया। कैण्टन की आबादी लगभग १५ लाख है। यह शहर दिल्ली जितना बड़ा होगा। शाम को हम शहर में घूमने निकले। तब हमें सनयातसेन-स्मारक नाटक-घर और एक नया बना हुआ खेल का मैदान दिखलाये गये। हमें शहर की गलियों में किसी वस्तुका अभाव-सा लगा; हम शीघ्र ही समझ गये कि यहां मोटर गाड़ियों की आमद-रफ्त नहीं है। लगभग घंटे-भर की सैर में, अपनी मोटरगाड़ियों के अतिरिक्त, हमें कठिनाई से छः सात मोटरें दिखाई दीं। शेनयांग, दैरेन, चुंगकींग, सीआन और हैंगची आदि चीन के अन्य नगरों में भी यही कुछ देखने में आया। परन्तु पैकिंग और शांगहाइ में अपेक्षाकृत अधिक मोटरगाड़ियां दिखाई पड़ीं। हमें बतलाया गया कि निजी मोटरकार किसी-किसी के पास ही है। साधारणतया, केवल उच्च अधिकारी कारों का प्रयोग करते हैं और वह भी केवल सार्वजनिक कार्यों के लिये। शहर में घूमकर पहला प्रभाव हमारे मन पर यह पड़ा कि यहां के निवासियों में, भारत के नगरवासियों जैसा ऊंच-नीच का अन्तर अधिक नहीं है। लोगों का पहरावा प्रायः एक-सा था, परन्तु शहर की इमारतें, भारत के इतने ही बड़े किसी भी नगर की तुलना में, घटियां और फीकी थीं।

पैकिंग में

२. पैकिंग हम २५ जुलाई को दोपहर-पीछे पहुंचे। वहां हमारा स्वागत कृषि-उपमंत्री और हमारे राजदूत श्री नेहरू ने किया। अगला सप्ताह हमने पैकिंग में ही बिताया और चीन के शासन की जिन विभिन्न समस्याओं का हम अध्ययन करना चाहते थे उनसे परिचित होने के लिये हम विभिन्न मन्त्रियों और सरकार के विभागाध्यक्षों से बात चीत करते रहे। इन भेंटों और वार्तालापों से हमें शीघ्र ही पता चल गया कि चीन का आर्थिक विकास शीघ्रता से करने में वहां की कम्यूनिस्ट पार्टी का कितना बड़ा हाथ है। हम कुछ गैर-कम्यूनिस्टों से भी मिले, उन्होंने भी पार्टी की सफलता की चर्चा मुक्त कण्ठ से की, और बतालाया के उसके सदस्यों ने न केवल विभिन्न आन्दोलनों का संगठन किया, अपितु जनता के सन्मुख उचित व्यवहार का आदर्श भी उपस्थित किया। उदाहरणार्थ हमें बतलाया गया कि चीन के नगरों में गलियों की सफाई का संगठन कम्यूनिस्ट पार्टी ने किस प्रकार किया था। एक गली को चुनकर उसमें रहने वाले प्रत्येक गृहस्थ को कहा जाता था कि अपने घर के सामने की गली की सफाई तुम स्वयं किया करो, घरों के सामने एकत्र कूड़े को उठाकर नागरिक बारी-बारी से नियत स्थान पर जमा कर देते थे, और वहां से उसे म्यूनिसिपल गाड़ियों उठाकर घरे घर फेंक आती थीं।

३. चीन में वेतन भारत से कम तो हैं ही, न्यूनतम और अधिकतम वेतनों में अन्तर भी बीस गुणा से अधिक नहीं है। कुछ उच्च विशेषज्ञों, कलाकारों और टेक्निशियनों को छोड़कर, किसी को भी अधिकतम बेतन ६०० यूआन (१२०० रुपये) से अधिक नहीं दिया जाता—राष्ट्रपति माओ-त्से तुंग का वेतन भी इतना ही है। भारत में दिये जाने वाले वेतनों की इससे कोई तुलना नहीं हो सकती। न्यूनतम वेतन ३० यूआन (६० रुपये) है। परन्तु हमें पता चला है कि हाल में निम्न वेतनों में कुछ वृद्धि कर दी गयी है और अब न्यूनतम वेतन ४० यूआन (८० रुपये) हो गया है। चीन में रहते हुये हमें वहां की सरकार और चीनी कम्यूनिस्ट पार्टी के परस्पर घनिष्ठ संबंधों का भी कुछ परिचय मिला। कृषि-मंत्री ने एक पूरा दिन हमारे साथ रहने की कृपा की, और बहुत-सी ज्ञान भरी तथा मनोरंजक बातचित के पश्चात् हमारे बहुत-से प्रश्नों का उत्तर भी दिया। स्त्रियों के लोकतन्त्री-संघ और युवक-संघ के साथ भी हमारा विचार-विनिमय हुआ। शाम का और अपना फालतू समय हम प्रतिदिन नगर के दर्शनीय स्थान देखने में व्यतीत करते थे। पैंकिंग, चीन की राजधानी और सबसे बड़ा नगर तो है ही, इसका इतिहास भी बहुत प्राचीन है। इन सब दृष्टियों से देखने पर यह नगर हमें बहुत घटिया लगा। केवल "निषिद्ध नगर" के कुछ भाग शानदार हैं। इसका कारण शायद यह है कि चीनी सम्राट की आज्ञा थी की शहर में कोई भी मकान दु-मंज़िला न बनाया जाय। परन्तु इसका भी, मकानों के बाहरी फीके धुसर रंग के साथ कोई मेल नहीं बैठता। परन्तु अब पेंकिग नगर नया बसाया जा रहा है, और वहां सर्वत्र तामीर का काम असाधारण मात्रा में हो रहा दिखाई पड़ता है। हमने ग्रीष्म-प्रासाद और "निषिद्ध नगर" भी देखे। चीन के सम्राट ग्रीष्म ऋतु में इसी प्रसाद में रहा करते थे। अब इसे एक सैरगाह में बदल दिया गया है, और पैंकिग से केवल कुछ मील दूर होने के कारण, छुट्टी के दिन यहां सैर करने वालों की अच्छी भीड़ रहती है। "निषिद्ध नगर" प्राचीन राज्य-प्रासाद था। इसका यह नाम इस कारण पड़ा कि यह चारों ओर से ऊंची दीवार द्वारा घिरा हुआ है और उसके भीतर जो कुछ होता था उसका किसी को कुछ पता नहीं चलता था। अब इसे एक अद्भुतालय में परिणत कर दिया गया है; संसार के अन्य राष्ट्रों से चीन को जो उपहार मिलते हैं वे यहीं रक्खे जाते हैं।

४. हमने चीनी मूक-अभिनय और कला बाजों के करतब भी देखे। हमारे दुभाषिये हमें इन अभिनयों की कहानी और मुख्य दृश्यों का भाव समझाते जाते थे। एक बात की ओर हमारा ध्यान विशेष रूप से गया। एक मज़दूर फटे-चिथे कपड़ों में सबसे आगे की पंक्ति में एक कुरसी पर विराजमान था। चीन में हम जहां कहीं गये वहां हमने देखा कि जनता के विभिन्न वर्गों की क्रय-शक्ति में बहुत अन्तर नहीं था। स्त्रियां भी देश के सार्वजनिक जीवन में प्रमुख भाग लेती दिखलाई पड़ी। हमने उन्हें ट्रामगाड़ियों, दफ्तरों और दुभाषियों के रूप में तो काम करते देखा ही, यह भी देखा कि वे हाथ-गाड़ियां खींचने और नाव खेने आदि के भारी काम भी करती थीं। अन्य सब देशों में साधारणतया स्त्रियों की सार्वजनिक स्थानों पर काम करते हुये यह भावना रहती है कि वे स्त्रियां है, चीन की स्त्रियों में हमें यह भाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ। उनका ध्यान अपने वेश-भूषा और अपने स्त्रीत्व की ओर प्रायः नहीं रहता था। ये सब परिवर्तन हाल में ही हुये हैं। हमें बतलाया गया कि "मुक्ति" से पूर्व चीन में स्त्रियां बहुत पिछड़ी हुई थीं।

लियाउनिंग प्रान्त की सहकारिता-संस्थायें

५. ३ अगस्त को हम पैंकिंग से उत्तर-पूर्वी प्रांत लियाउनिंग की ओर रवाना हुये। इस बार हमारा रेल-यात्रा का अनुभव सर्वथा भिन्न रहा गाड़ी अधिक सुखदायक और दृतगामिनी थी। पैंकिंग से शेनयांग तक ६४० मील की यात्रा हमने १४ घंटे में पूरी कर ली। गाड़ी के पीछे एक डब्बे में सब यात्रियों के लिये खेलने और आराम और मनोरंजन करने का प्रबन्ध था। वहां पत्र-पत्रिकायें और भीतरी खेलों का सामान रखा था, और पिछे लगे हुये कांच में से गाड़ी के बाहर का सुन्दर दृश्य दिखाई देता था। शेनयांग हम प्रातःकाल पहुंचे। यह नगर हमारे अब तक देखे हुये दो नगरों, कैण्टन और पैंकिंग, से बहुत भिन्न था। नगर का नक्शा सुव्यवस्थित और इमारतें आधुनिक थीं। यह पैंकिंग से अधिक समृद्ध और सम्पन्न लगता था। अगले दिन दोपहर पीछे हमने प्रथम बार एक चीनी सहकारिता-संस्था देखी। यह शाक-भाजी की सहकारिता-संस्था थी और नगर से दस मील

र थी। यह संस्था खूब फलती-फूलती जान पड़ी। इसने काम के १००० पैमाने बनाये हुये थे, जिनके द्वारा यह अपने सदस्य-कार्यकर्ताओं के काम का अन्दाज़ा लगाती रहती थी। इसे बने कोई ३ वर्ष हुये थे, परन्तु इतने ही समय में न केवल इसकी आय बढ़ गयी थी, यह अपने सदस्यों को अनेक सुख-सुविधायें पहुंचाने में भी सफल हुई थी। वयस्क कन्याओं के लिये इसके पास एक होस्टल, शिशुओं के लिये एक विश्रामग्रह, और युवकों के लिये एक मनोरंजनघर तथा बैण्ड बाजा बजाने का स्थान था। इसका अध्यक्ष बहुत योग्य व्यक्ति जान पड़ता था। इस प्रथम चीनी सहकारिता-संस्था और इसके नेताओं का हमारे मन पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा।

६. लियाउनिंग प्रान्त में हम १३ अगस्त तक रहे। इतने समय में हमने शेनयांग और देरेन नगर और पांच सहकारिता-संस्थायें देखीं। यह प्रान्त चीन के उत्तर-पूर्व में है। यहां मकई, काउलिंग (एक प्रकार की ज्वार), सोया बीन (एक प्रकार की सेम के बीज), गेहूं और कुछ चावल की खेती होती है। वर्षा का वार्षिक औसत यहां का ३० इंच है, और खेती की अवस्थायें कुछ-कुछ पश्चिमी भारत से मिलती हैं। हमने जो फ़सलें देखी वे बहुत अच्छी हालत में और हमारे यहां की फसलों की अपेक्षा अधिक इक्कसार थीं। इधर के प्रदेश में भूमि-सुधार और सहकारिता-संस्थाओं का कार्य, केन्द्रीय और दक्षिणी चीन से पहले आरम्भ हो गया था, और इस कारण यहां सहकारिता आन्दोलन अधिक विकसित अवस्था में दिखाई दिया। यहां की सहकारिता-संस्थायें बड़ी भी थीं। साधारणतया एक शियांग (लगभग २,५०० की आबादी का ग्राम मंडल) पीछे एक सहकारिता-संस्था थी। खेती में सुधार के प्रधान काम ये थे। सिंचाई की सुविधाओं में वृद्धि, मकई और ज्वार की ज़मीन में चावल और ज्वार की में मकई की बुवाई, और खेती के नये औजारों और नयी पद्धतियों का चलन बढ़ाना। पैदावार बढ़ाने के कामों में, सदस्य उत्साहपूर्वक सक्रिय भाग लेते जान पड़े हमें बतलाया गया कि उन्होंने पैदावार बढ़ाने के लिये सहकारिता-संस्थाओं को शानदार सहायता दी है। शैनयांग नगर के कार्यकर्त्ताओं ने ग्रामों में कुओं पर पम्प बिठाने के लिये दल संगठित किये थे, और कारीगर लोग सहकारिता संस्थाओं के प्रतिनिधियों को कुयें खोद खोद कर दिखलाते थे। बाद को ये प्रतिनिधि अपने अपने ग्रामों में स्वयं ही कुयें खोदने लगे।

७. हमने सहकारिता संस्थाओं के सदस्यों के घरों में जा-जाकर देखा कि वे कैसे रहते-सहते हैं और उनका जीवन कितना संगठित है। लोग सुखी और संतुष्ट जान पड़े। सहकारिता-संस्थाओं की सहायता से उनको समाचारपत्र, डाक की सुविधायें, खेल-कूद के साधन और जीवन के अन्य अनेक सुख उपलब्ध हो जाते हैं। ग्रामों में साफ़ पानी मिलने का कोई प्रबन्ध नहीं था। बहुत-से कुओं का मूंह ज़मीन के साथ समतल था, इस कारण उनका पानी कूड़े-करकट से गन्दा हो जाता था हमें लगा कि सड़कों, औषधालयों, स्कूलों और सरायों आदि अनेक सामान्य सुविधाओं की दृष्टि से हमारें गांव की अवस्था कहीं अच्छी है। चीनियों ने हमें बतलाया कि उनकी नीति पहले अपनी सारी शक्ति सहकारिता संस्थाओं के सदस्यों की आय बढ़ाने पर लगा देने की है, जब इन संस्थाओं में लोगों का विश्वास जम जायगा तब वे इन सुविधाओं पर व्यय करने की चिन्ता आप ही करने लगेंगे। चीनियों का विचार है कि जीवन की सुविधाओं पर व्यय, आय बढ़ने के पश्चात् ही करना चाहिये।

८. सहकारिता संस्था के प्रत्येक सदस्य को अपने घर के समीप भूमि का एक छोटा टुकड़ा सब्जी बोने के लिये दिया गया था। यदि भूमि घर के समीप नहीं मिल सकती थी तो गांव के पास के खेतों में कुछ ज़मीन दे दी जाती थी। साधारणतया सब सहकारिता-संस्थाओं में इसी पद्धति से काम किया जाता जान पड़ता था। सदस्य इन भूमियों से बहुत ध्यान-पूर्वक अधिकतम पैदावार लेने का यत्न करते थे, और उनमें से बहुत-सों को सब्ज़ी की बढ़िया खेती करते देखकर हमें परम प्रसन्नता हुई।

९. गांव में बस्ती की ओर से मल-मूत्र को ठिकाने लगाने की नियमित व्यवस्था कोई नहीं थी। प्रत्येक घर में इस काम के लिये एक छोटासा बाड़ा था, उसी में घर वाले मलत्याग करते थे, एकाध सप्ताह के पश्चात् मल को उठाकर या तो खाद बनाने के लिये ढेर कर देते थे और या सीधा ही खेत में डाल देते थे। खाद के इस स्रोत का उपयोग करन के लिये हम चीनियों की प्रसंशा करते हैं। परन्तु

वे जिस ढंग से मल एकत्र करते हैं उसमें हमारे अपनाने या उससे नया कुछ सीखने की बात हमारे लिये कोई नहीं है। भारत को इस काम के लिये अपनी ही विधियों निकालनी चाहियें, प्रत्यूत जो कई विधियां हम पहले से जानते हैं—उदाहरणार्थ, खाइयों की या गोपुरी टट्टियां बनाने की—वे अधिक अच्छी हैं।

१०. इस प्रान्त से चलने से पहले, कृषि के शासन-संगठन के विषय में उसके निर्देशक के साथ हमारा विचार-विनिमय खुलकर हुआ; और हम उसकी बुद्धिमत्ता, योग्यता और प्रबन्ध-कुशलता से बहुत प्रभावित हुए। इस सबके बावजूद उसका रुख बहुत नम्रता का था। उसने हमसे पूछा कि आपको मेरे प्रबन्ध में क्या क्या कमियां दिखाई दीं और उसमें मुझे क्या क्या सुधार करने चाहिये। ऐसी ही प्राथना हमसे कृषि मंत्री और प्रधान मंत्री तक ने की।

११. यह बात, हम जहां कहीं गये, हमने सर्वत्र देखी। जिस किसी से हम बातचीत करते थे उसकी स्थिति चाहे जो हो, वह चाहे कृषि मंत्री हो चाहे सहकारिता संस्था का अध्यक्ष, वह बातचीत की समाप्ति पर हमसे यह प्रार्थना अवश्य करता था कि आप हमारी कमियां बतलाइये और हमें अपना काम सुधारने के लिये सलाह दीजिये। वे कहते थे कि हमें अभी शासन का अनुभव पर्याप्त नहीं है और हमारे लिये यह काम नया होने के कारण हमसे भूलें हो सकती हैं। उनकी इस नम्रता और आत्मालोचना की वृत्ति से हम बहुत प्रभावित हुए। इस पर अमल वे बार बार करते थे। शायद मार्क्सवाद और लेनिनवाद का यह भी एक प्रमुख सिद्धान्त है।

प्रधान मंत्री से हमारी प्रथम भेंट

१२. १४ अगस्त, १९५६ को हम पैकिंग लौट गये। पैकिंग की हमारी यह दूसरी यात्रा थी। एक दूसरा भारतीय प्रतिनिधि मंडल भी उसी दिन पैकिंग लौटा था। वह चीन की आर्थिक योजना और उसकी पूर्ति के उपायों का अध्ययन करने वहां गया था। हमने पैकिंग में रुककर उसके साथ अपनी देखी हुई बातों का मुकाबला किया। हमने चीन के ऊत्तर-पूर्वी भाग की सहकारिता-संस्थायें देखी थीं और इस प्रतिनिधि-मंडल ने पूर्वी और पश्चिमी भाग की। उत्तर-पूर्व की सहकारिता-संस्थाओं के सम्बन्ध में हमारे अनुभव, पूर्व और पश्चिम की संस्थाओं के सम्बन्ध में इस प्रतिनिधि-मण्डल के अनुभवों से बहुत मिलते-जुलते निकले।

१३. १७ अगस्त को दोपहर पश्चात्, हम और इस प्रतिनिधि-मण्डल के सदस्य, चीन के प्रधान मंत्री श्री चौ-एन-लाइ से मिले। आरम्भिक उपचार-विनिमय के पश्चात् चीनी प्रधान मंत्री ने हमें बतलाया कि चीन के आर्थिक विकास में सहकारिता-संस्थायें क्या योग दे रही हैं? चीन में जमीन का बहुत बड़ा हिस्सा अभी अन-तोड़ा पड़ा है, खेती उसमें भी की जा सकती है परन्तु वैसा करना बहुत खर्चीला है—एक एकड़ जमीन तोड़ने पर लगभग १०० रु० लागत बैठ जाती है। इस कारण उन्हें अपनी पैदावार बढ़ाने के लिये वर्तमान खेतों पर ही निर्भर करना पड़ रहा है, और इसके लिये इन्हीं खेतों से अधिकतम पैदावार लेने के उपाय का सहारा लेना पड़ता है। अभी तक का उनका अनुभव बतलाता है कि वे अपने उद्देश्य में सफल हो रहे हैं। इस समय उनका कृषि के उत्पादन में वृद्धि का औसत लगभग ४·३ प्रतिशत है। उन्हें आशा है कि इस हिसाब से अपनी द्वितीय पंचवर्षीय योजना में वे इस औसत को दुगना कर लेंगे।

१४. खेती में यंत्रों के प्रयोग के विषय में उनका ख्याल था कि इसमें उन्हें बहुत समय लगेगा, और तब तक उन्हें अपनी पैदावार बढ़ाने के लिये घनी खेती पर अर्थात् शारीरिक श्रम द्वारा ही अधिकतम उत्पादन कर लेने पर निर्भर करना पड़ेगा। हमने देखा कि चीन में मजदूरी इतनी सस्ती है कि यन्त्रों का प्रयोग उससे महंगा पड़ता है। इसके अतिरिक्त, उन्हें पेट्रोल और पुर्जे आदि विदेशों से मंगाने पड़ते हैं, जिससे खर्च और भी बढ़ जाता है। पश्चिमी देशों में यान्त्रिक कृषि का विकास शीघ्र हो जाने का एक कारण वहां मजदूरों की दुर्लभता भी था। चीन में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने की सम्भावना कम है। इसी प्रसंग में हमें यह भी बतलाया गया कि यन्त्रों के प्रयोग से, खेती में लगे हुए प्रति व्यक्ति पीछे तो पैदावार की औसत अवश्य बढ़ जाती है,

परन्तु यह आवश्यक नहीं कि उससे प्रति एकड़ पैदावार में भी वृद्धि अवश्य हो जाय, इसलिये चीन जैसे देशों में, जहां कि आबादी बहुत घनी है, खेती में यन्त्रों के प्रयोग का मूल्य सन्दिग्ध है। चीनी प्रधान मंत्री ने कहा कि सम्भव है कि इस तर्क को पश्चिमी देश न समझ सकें, परन्तु चीन और जापान में यह सुगमता से दिमाग में बैठ जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे यन्त्रों का महत्व बिल्कुल नहीं मानते; उनका भी महत्व है, और उनका प्रयोग धीरे-धीरे और क्रमशः किया जायगा, परन्तु चीन की परिस्थितियों में वे सीमित मात्रा में ही उपयोगी हो सकेंगे।

१५. इसी प्रसंग में यह प्रश्न भी उठा कि पूर्वी देशों में आबादी का दबाव तो सदा रहेगा ही, तो क्या वे आर्थिक विकास के उस स्तर पर कभी भी नहीं पहुंच सकेंगे जिस पर कि पश्चिमी देश पहुंच चुके हैं। प्रधान मंत्री ने उत्तर दिया कि चीन को अपना आर्थिक विकास भली प्रकार करने के लिये कई पंचवर्षीय योजनाओं में से होकर गुजरना पड़ेगा, परन्तु हम पश्चिमी स्तर तक पहुंचने की आशा शायद कभी नहीं कर सकेंगे।

१६. आबादी की चर्चा से हमारी बातचीत परिवार-नियोजन की ओर को मुड़ गयी। हमारे साथी प्रतिनिधि-मण्डल के एक सदस्य ने बतलाया कि इसके लिये भारत में क्या-कुछ किया जा रहा है। हमने सुना था कि चीनी लोग आबादी में बढ़ोतरी का स्वागत करते हैं और बे कुनबा बढ़ जाने की चिन्ता नहीं करते। ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधान मंत्री मि० ऐटली ने चीन की यात्रा के पश्चात् इस विषय में अपने विचार निम्न प्रकार व्यक्त किये थे:—

> "आबादी की समस्या पर चीनी सरकार का रुख यह जान पड़ता था कि आबादी का बढ़ना अपने आप में एक अच्छी बात है। जब उनसे पूछा गया कि अधिक आबादी का निर्वाह के साधनों पर भी तो अधिक दबाव पड़ेगा, तब उन्होंने कहा कि हमारे देश में बहुतेरी जमीन अभी अनबोयी पड़ी है। जब उन्हें बतलाया गया कि यह अन्तर कुछ समय के लिये ठीक हो सकता है, और अन्य देशों के अनुभव का, उदाहरणार्थ भारत का हवाला दिया गया, तब उन्होंने जवाब दिया कि आवश्यकता अधिक उत्पादन बढ़ाने की है।
>
> 'इस पर उन्हें सुझाया गया कि वास्तविक महत्व उत्पादन के परिमाण और उपभोक्ताओं की संख्या में अनुपात का है और अभीष्ट लक्ष्य लोगों के रहन-सहन को ऊंचा उठाना होना चाहिये, तब वे कोई प्रभावशाली उत्तर नहीं दे सके। उन्होंने इतना ही कहा कि चीन आबादी का बढ़ना अच्छा समझता है, क्योंकि इससे वस्तुओं का भी उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा होती है।
>
> 'मेरा ख्याल है कि असली बात यह है कि चीन पिछड़ा हुआ देश तो है ही, वह संसार में प्रभावशाली स्थिति प्राप्त करने के लिये, अपनी योग्यता की कमी को संख्या के बल से पूरा करने की आशा करता है। यह एक चिन्तनीय विचार है।"

परन्तु हमें चीनी प्रधान मंत्री की रुचि परिवार नियोजन में देखकर आश्चर्य हुआ, और जब उन्हें पता लगा कि भारत में इसके लिये बहुत कुछ किया जा चुका है तब उन्होंने यहां तक कहा कि चीनी स्त्रियों के एक प्रतिनिधि-मण्डल को इस प्रश्न का अध्ययन करने के लिये भारत भेजना अच्छा रहेगा*।

१७. इसके बाद यह प्रश्न उठा कि कृषि-सहकारिता-संस्था कितनी बड़ी होनी चाहिए, जिससे कि वह बड़ी संस्था के आर्थिक लाभ तो सब उठा सके परन्तु इतनी बड़ी न हो जाय कि उसके सदस्यों में परस्पर सहयोग की भावना ही दब सी जाय। उत्तर पूर्वी प्रान्त की यात्रा के प्रसंग में हमनें 'सुख-मार्ग' नामक एक सहकारिता संस्था देखी थी जो ४६६० व्यक्तियों के ९८५ परिवारों को मिलाकर बनायी गयी थी। इसके सब सदस्य-परिवार मिल कर १११ सदस्यों की एक प्रतिनिधि सभा का चुनाव करते थे, वही साधारण सभा का काम देती थी। इसका फल यह निकला

*इसके पश्चात् चीनी स्त्रियों का एक प्रतिनिधि-मण्डल भारत आ चुका है।

था कि बहुत से सदस्यों को संस्था के काम में भाग लेने का अवसर ही नहीं मिलता था। स्पष्ट था कि यह प्रवृत्ति इष्ट नहीं थी। प्रधान मंत्री चौ-एन-लाइ ने जवाब दिया कि इस प्रश्न का हल करने में बहुत-सी कठिनाइयां हैं और अब तक हमने ऐसा कोई सामान्य निर्णय नहीं किया है कि सहकारिता-संस्थायें कितनी बड़ी होनी चाहियें। विभिन्न प्रदेशों की परिस्थितियां एक-सी नहीं हो सकतीं। जो संस्था किसी एक प्रदेश के लिये बहुत बड़ी जान पड़े वही किसी दूसरे प्रदेश के लिये छोटी हो सकती है। संस्था के नेतृत्व पर भी बहुत-कुछ निर्भर करेगा। हम इस प्रश्न का अध्ययन कर रहे हैं। इतना तो स्पष्ट ही है कि बहुत बड़ी संस्था में काम भली प्रकार नहीं हो सकेगा और कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। इस प्रसंग में उन्होंने एक ऐसी संस्था का जिक्र किया जिसके साथ राष्ट्रीय जन कांग्रेस (चीनी संसद्) के एक सदस्य का सम्बन्ध था और उसकी सदस्य-संख्या २५ हजार थी। उन्होंने स्वयं आश्चर्य प्रकट किया कि इतनी बडी संस्था किस प्रकार निर्विघ्न चल रही होगी। उन्हें लगा कि इतनी बड़ी सहकारिता-संस्था की अपेक्षा तो शायद आनशान-आयरन-ऐण्ड-स्टील वर्क्स जैसे बड़े कारखाने को चलाना अधिक सुगम होगा। इस कारण, उन्होंने जांच करने के लिये एक दल वहां भेजा और उसने लौटकर बतलाया कि संस्था सन्तोषजनक ढंग से चल रही है, और इसका कारण यह है कि उसके सभी सदस्यों की भूमि-रक्षण की एक योजना में समान रूप से रुचि है।

१८. चीनी प्रधान मंत्री ने कहा कि ऐसा मानकर चलना ठीक नहीं कि जो कुछ चीनी-सरकार कर रही है वह सब ठीक ही है। बहुत बार सरकार अपने उत्साहातिरेक में ऐसी कारवाइयां कर बैठती है तो अनुभव के पश्चात् उसे लौट देनी पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, उन्होंने दो पहियों और दो फालों के हलों की चर्चा की। कृषि-विभाग इन्हें सारे चीन में चलाना चाहता था। कोई डेढ़ लाख हल पहले से चल भी रहे थे। विभाग इस संख्या को बढ़ा कर ५० लाख तक पहुंचा देना चाहता था। बहुत वाद-विवाद के पश्चात् २५ लाख हल चालू करने का कार्यक्रम बनाया गया। उत्साह की बाढ़ में मन्त्रालय ने १० लाख हल बेच भी डाले और सहकारिता-संस्थाओं ने उन्हें खरीद लिया। परन्तु कुछ संस्थाओं ने देखा कि ये हल हमारे यहां के हालात के लिये ठीक नहीं हैं और भैंसे इनको खींच नहीं सकते। परिणाम यह हुआ कि बहुतसी-संस्थाएं उन्हें खरीदकर भी उनका उपयोग नहीं कर सकीं और सरकार को उन्हें वापिस ले लेना पड़ा।

१९. जब हम उठने लगे तब चीनी प्रधान मंत्री ने संकेत किया कि हमें सहकारिता-संस्थायें देख चुकने के पश्चात् उनसे फिर मिलना चाहिये, क्योंकि तब हम उनके सुधार के विषय में अपने सुझाव अधिक भली भांति दे सकेंगे। उन्होंने कहा कि हमारे अतिथि बहुधा हमारी प्रशंसा ही प्रशंसा करते हैं, जिसके कारण हम लापरवाह हो जाते हैं और हमें अपनी कमियों का पता नहीं चलता। हमारे अतिथि हमारी कमियों को समझ तो अवश्य जाते होंगे परन्तु वे संकोचवश उन्हें बतलाते नहीं, और इस कारण हमें अपना सुधार करने का अवसर नहीं मिलता। उन्होंने कहा कि इसलिये अगली बार जब आप मुझसे मिलें तब बातचीत आप ही कीजिये और हमें निःसंकोच बतलाये कि आपकी दृष्टि से हमारी सहकारिता-संस्थाओं मे कमियां क्या-क्या हैं।

ऋतु के कारण यात्रा में विघ्न

२०. अगले प्रातःकाल हम वायुयान द्वारा जेचुआन प्रान्त की सहकारिता-संस्थाओं का अध्ययन करने के लिये रवाना हुए, हमें सीआन में रुक जाना पडा। क्योंकि ऋतु १० हजार फुट ऊंची त्सीन-लींग की पर्वत-माला पार करने के लिये अनुकूल नहीं समझा गया। सीआन में उतरकर हमने शुआन-चुआंग के स्मारक और एक सहकारिता-संस्था को, अपने आगमन की पूर्व सूचना दिये बिना, देखा। उत्तर-पूर्व में जब हम सहकारिता-संस्थायें देखने गये थे तब पहले दो-तीन बार हमारे वहां पहुंचने पर लोगों की बड़ी भीड़ एकत्र हो गई थी, परन्त पीछे ऐसा होना बन्द हो गया था। यहां फिर बहुत भीड़ इकट्ठी हो गयी। हमने देखा कि सब युवकों और युवतियों ने रबर के बूट पहने हुए थे। यह मौसम बरसात का था, चीन में इस मौसम में रबर के बूट पहनने का रिवाज है, परन्तु बूढ़े लोगों ने बक्कल या लकड़ी के बने जूते पहन रखे थे। देखभाल चुकने के पश्चात् हमने उनसे पूछा कि आप सब क्या सहकारिता-संस्थाओं में सम्मिलित होना पसन्द करते हैं। इसका उत्तर सबने 'हां' में दिया।

जेचुआन प्रान्त में

२१. अगले प्रातःकाल हम जेचुआन प्रान्त की राजधानी चेंगतु पहुंच गये। यहां हमारा स्वागत कुछ असाधारण हुआ। जिन बालिकाओं ने हमारा स्वागत किया वे आकर्षक वेश-भूषा और बहुत से साज-सिंगार में सज-धजकर आयी थीं। चीन में यह दृश्य हमारे लिये नया ही था। हमने हंसकर अपने चीनी मित्रों से कहा कि चीनी स्त्रियां शायद इस मामले में भी अपनी पश्चिमी बहनों से पीछे नहीं रहना चाहतीं।

२२. यह प्रान्त चीन का चावल का खलिहान कहलाता है। यहां पाला प्रायः कभी नहीं पड़ता, इसलिये यहां खेती वर्ष के सब ऋतुओं में हो सकती है। यहां चावल की दो फसलें तो सदा ही बोयी जाती हैं, परन्तु अब वे तीसरी फसल भी बो रहे थे। चेंगतु के चारों ओर ४०—४० मील तक के प्रदेश में सिंचाई की व्यवस्था बहुत प्राचीन है। उसे २ हजार वर्ष पूर्व ली-पिंग और उसके पुत्र इरवांग ने कायम किया था। मीन नदी पहाड़ों में तो बहुत उछलती-कूदती और अपने साथ खूब पत्थर और रेत मिट्टी बहाती हुई बढ़ती है, परन्तु मैदानों में आकर उसकी चाल सुस्त पड़ जाती है। नतीजा यह होता है कि पहाड़ों से लायी हुई गाध को पानी आगे नहीं धकेल पाता और जल की धारायें उससे पट जाती हैं। ली-पिंग ने इस समस्या को समझ लिया और आज्ञा दी कि एकत्र हुई गाध को प्रति वर्ष शीत ऋतु में भली भांति साफ कर दिया जाय। नहरों के ऊपर उसकी स्मृति में एक मन्दिर बना हुआ है। उसमें ये शब्द खुदे हुए हैं :'शेन ताओ तान, त्सि त्सो येन', अर्थात् धारा की खुदाई गहरी करो और प्रवाह को चलता रक्खो। यह न किया जाता तो धारायें और नहरें सदा भर जातीं और बाढ़ का पानी किनारों को लांघ कर खेतों को बहा ले जाता। लोगों ने अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये ली-पिंग और उसके पुत्र की स्मृति में एक मन्दिर बना दिया। मन्दिर के साथ एक छोटी सी प्रदर्शनी भी संलग्न है, उसमें दिखलाया गया है कि ली-पिंग ने नदी के प्रवाह की दिशा बदलने के लिये क्या-क्या उपाय किये थे।

२३. इस व्यवस्था के कारण इस प्रदेश में सब ऋतुओं में सिंचाई हो सकती है और सब चीजों की फसल बोयी जा सकती है। और इसी कारण यहां और सिंचाई बढ़ाने और सिंचाई के सहारे भूमि को सुधारने की और गुंजायश नहीं है। इसलिये यहां की सहकारिता-संस्थाओं ने अपना ध्यान खेती के ढंग सुधारने, दो से अधिक फसलें बोने और अधिक खाद तथा रासायनिक उर्वरक डालने पर केन्द्रित किया है। यहां जमीन के ही सहारे गुजर-बसर करने वालों की संख्या भी बहुत अधिक है। प्रति किसान पीछे जमीन का औसत केवल एक मऊ (लगभग .१६ एकड़) बैठता है। इसकी तुलना में, उत्तरी-पूर्वी प्रान्तों में यह औसत तीन मऊ है। इस कारण यहां की देहाती सहकारिता-संस्थाओं ने अपने कामों में सहायक पेशों को ऊंचा स्थान दिया है। इन पेशों में, सुअर और मुर्गियां पालने के अतिरिक्त, बढ़ई गिरी, ईंट और खपरैल पाथना और सोयाबीन की वस्तुयें तैयार करना भी शामिल है। कुछ संस्थाओं ने जल-धाराओं का लाभ उठाकर चावल कूटने और पीसने आदि की पनचक्कियां भी लगायी हैं। एक संस्था ने तो एक छोटा सा बिजली घर भी लगाया है, जो जल-धारा से चलता है। जेचुआन प्रान्त, पहाड़ों से घिरा होने के कारण हाल तक यह शेश चीन से अलग-अलग पड़ा था और यहां आने जाने के मार्ग बहुत कम थे। इसी कारण यहां की पैदावार को बाजार में भेजने की एक बड़ी समस्या थी, पेकिंग और शांगहाई की तुलना में यहां चीजों के दाम बहुत सस्ते थे। अब चीनी सरकार ने चेंगतु से चूंगकिंग तक रेल बना दी है। इससे यहां की खेती की पैदावार बाहर भी जाने लगी है और आशा है कि यह प्रदेश शीघ्र ही समृद्ध हो जायगा। चेंगतु के वाइस-मेयर ने हमें बतलाया कि यहां के लोग इस रेलवे की बहुत समय से प्रतीक्षा कर रहे थे। इसके लिये लोगों ने बहुत-सी धन-राशी भी एकत्र की थी और वह चियांग-काइ-शेक की सरकार को दे दी थी कि वह रेल बना दे, परन्तु उसने इस धन का दुरुपयोग कर डाला। पुरानी सरकार की प्रतीज्ञा को वर्तमान सरकार ने पूरा कर दिया है, इसलिये लोग इसके कृतज्ञ हैं।

२४. यह प्रान्त शेष चीन से अलग-अलग पड़ा था और यहां आने-जाने के मार्ग नहीं थे, इस कारण साम्यवादी शासन यहां सबसे अन्त में पहूंचा। बहुत समय तक यह शेष चीन की घटनाओं से प्रायः अप्रभावित पड़ा रहा इसी कारण यहां के जमींदार—जागीरदार बाहर के अधिकारियों

अथवा प्रभावों से अछूते रहकर फलते-फूलते रहे, और चीन के अन्य सब जागीरदारों से अधिक अत्याचारी हो गये। अधिकतर, जमीन के मालिक भी वही थे। बचारे गरीब किसान तो टूटी-फटी मंडैयाओं में रहते थे और जमींदारों के बड़े-बड़े महल उनके बीच में जहां-तहां सिर उठाकर खड़े दिखाई पड़ते थे। अंजेन के इलाके का प्रधान जमींदार जनरल लिउ था। हम वहां की एक सहकारिता-संस्था देखने गये तो हमने प्रथम बार पुराने शासन के समय किसानों की दुर्गति का हाल अपने कानों सुना। किसान पूर्णतया जमींदारों की मेहरबानी के आसरे थे, वे उनसे बे-सिर पैर का लगान वसूल करते और उनकी स्त्रियों के साथ मनमाना सलूक करते थे। वहीं हमने प्रथमबार जमींदारों पर अभियोग लगाने वाली सभाओं का और अपराधी जमींदारों को मौत के घाट उतारे जाने का हाल सुना।

२५. सबके अन्त में 'मुक्त' किया जाने के कारण, इस प्रान्त में सहकारिता आन्दोलन का विकास भी मन्द गति से और रुक-रुककर हुआ। दो तीन वर्ष तक तो परस्पर-सहायक दलों की ही दशा चलती रही। जब हम वहां गये तब भी अधिकतर किसान आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं के ही सदस्य बन पाये थे। वहां की सहकारिता-संस्थायें भी उत्तर-पूर्व की संस्थाओं से बहुत छोटी-छोटी थीं। उत्तर-पूर्व में प्रायः एक शियांग (लगभग ऐसे १० ग्रामों का मण्डल, जिनकी आबादी मिलकर २५०० तक पहुंचे) में एक ही सहकारिता-संस्था थी, परन्तु वहां १० से १२ तक थीं। वहां सहकारिता-संस्था का क्षेत्र औसतन केवल १०० एकड़ था, उत्तर-पूर्व में यह औसत एक हजार एकड़ तक पहुंचती थी।

२६. जेचुआन में कई सहकारिता-संस्थाओं के नेताओं से हम बहुत प्रभावित हुए। एक संस्था का अध्यक्ष तो पेकिंग की राष्ट्रीय जन कांग्रेस (संसद्) का भी सदस्य था। कोई २३ वर्ष की एक युवती में हमने संगठन और नेतृत्व की असाधारण योग्यता देखी। भूमि-सुधार के समय वहां बहुत अशांति रही होगी, परन्तु अब तो सर्व शान्ति ही शान्ति दिखाई पड़ती थी। लोग अपने-अपने कामों में शान्ति और निश्चिन्तता से लगे हुए थे।

२७. चेंगतु में ठहरने के अन्तिम दिन हमने कुछ गृहोद्योगों की सहकारिता-संस्थाओं के संगठन का अध्ययन किया। हमें रेशम में सुन्दर नमूने बने हुये दिखलाये गये।

शांगहाई के प्रदेश में

२८. एक दिन चुंगकिंग में रुककर २० अगस्त को हम शांगहाई पहुंचे। वहां दो दिन हमने शांगहाई के उपनगरों की और दो दिन पड़ोस के क्यांगसू प्रान्त की सहकारिता-संस्थायें, देखने में लगाये। शांगहाई चीन का सबसे बड़ा नगर है। 'मुक्ति' से पूर्व, यह अपने रात के अड्डों, गुण्डों और वेश्या-वृत्ति के लिये बदनाम था। आज के शांगहाई में इन सब बुराइयों का अन्त हो चुका है, और कोई अकेली स्त्री तक रात के किसी भी समय कहीं भी स्वतन्त्रता से आ-जा सकती है।

२९. शांगहाई के आसपास की सहकारिता-संस्थायें मुख्यतया साग-सब्जी और कपास की खेती करती हैं। हमें बतलाया गया कि पहले शांगहाई शहर की साग-सब्जी की आवश्यकता का केवल २५ प्रतिशत आसपास के खेतों वाले पूरा कर पाते थे, शेष सब दूर-दूर से आता था। परन्तु अब स्थिति बदल गयी है। अब शांगहाई की ७५ प्रतिशत आवश्यकता अड़ोस-पड़ोस की सहकारिता-संस्थायें ही पूरी कर देती हैं, केवल २५ प्रतिशत बाहर से पूरी करनी पड़ती है। कपास की खेती भी बहुत बढ़ गयी है। 'मुक्ति' से पूर्व के समय की तुलना में अब कपास का उत्पादन ३०० प्रतिशत होने लगा है। निःसन्देह यह उन्नति अपेक्षाकृत छोटे-से प्रदेश में, शांगहाई के आसपास के केवल कुछ लाख एकड़ में, हुई है। हमें बतलाया गया कि कपास का उत्पादन बढ़ने के प्रधान कारण, अधिक अच्छे बीजों तथा कृमि-नाशक औषधियों का प्रयोग और बुवाई शीघ्र कर देना हैं। कपास और साग-सब्जी, दोनों के उत्पादन में वृद्धि होने का एक बड़ा कारण नगर के कूड़ा-करकट का बड़ी मात्रा में उपयोग भी है। पहले यह सबका सब समुद्र में फेंक दिया जाता था। अब इसे और नगर-निवासियों के मल-मूत्र को लेकर, सहकारिता-संस्थायें उसका 'कम्पोस्ट' बना लेतीं और खाद के रूप में उपयोग करती है।

३०. क्यांगसू प्रान्त में हमने एक सहकारिता-संस्था देखी। उसके अध्यक्ष श्री चेन यूंग-कांग एक विशिष्ट व्यक्ति निकले। उन्होंने चावल की एक नयी किस्म और उसके पनीर को फलाने की एक नयी विधि का विकास किया था। य दोनों इतनी सफल हुईं कि उन्हें आसपास के किसानों ने अपना लिया और कृषि-विभाग ने उसका प्रचार अन्यत्र भी करने का जिम्मा लिया। चावल की इस किस्म का नाम रक्खा गया है लाउ-लाइ-चींग याने सदा-बहार। उनकी सहकारिता-संस्था इस बात का नमूना थी कि अनुभवी किसान खती की उत्तम विधियों के विस्तार के लिय क्या कुछ कर सकते हैं।

चेकियांग प्रान्त में

३१. २ ता० के दोपहर पश्चात् हम शांगहाई से चलकर उसी दिन शाम को हैंगचाऊ पहुंच गये। हगचाऊ जिस प्रदेश में बसा हुआ है वह चीन का तालाबों का इलाका कहलाता है। नगर एक बड़े तालाब के किनारों पर बसा और कई पर्वत-शृंखलाओं से घिरा हुआ है। इस कारण यह देखने में बहुत सुन्दर लगता है। हैंगचाउ की एक ख्याति यह भी है कि भारत से जो बौद्ध प्रचारक पहले-पहले चीन गये वे इसी नगर में जाकर बसे थे।

३२. इस नगर में प्रथम बार हमने सहकारिता-संस्थाओं को चाय और जूट बोते और रेशम उत्पन्न करते देखा। हमें बतलाया गया कि व्यापारिक फसलों के लिये सहकारिता-संस्थायें संगठित करना सुगम होता है, क्योंकि उनका व्यवसाय करने में लाभ अधिक मिलता है। इन फसलों के व्यवसाय में लोगों को अतिरिक्त काम-काज भी बड़ी मात्रा में मिल जाता है। चीन में चाय तैयार करना एक गृहोद्योग है, भारत में ऐसा नहीं है।

पहले चीन में रेशम कीड़ों के घरों (Cocoon) के रूप में बेच दिया जाता था। उनसे तार निकाल कर लपेटने का गृहोद्योग वहां प्रचलित नहीं था। अपनी व्यापारिक फसलों के कारण इस प्रदेश की सहकारिता-संस्थायें खूब फल-फूल रही और प्रधानतया खाद्य पदार्थों के उत्पादन पर निर्भर रहने वाली संस्थाओं की अपेक्षा अच्छी चल रही हैं।

३३. हम यहां की एक सहकारिता-संस्था देखने गये तो हमें नहर की तली में से गाध निकाल कर और उसे खेतों में प्राकृतिक खाद की भांति डालकर दिखलाया गया। इस प्रक्रिया में पहला काम गाध को नहर की तली में से निकाल कर नौकाओं में भरने का होता है। फिर नाव को किनारे पर लाया जाता है और गाध को बाल्टियों में भर-भर कर कन्धों या सिरों पर ढोकर खेतों में ले जाया जाता है। खेत नहर से जितनी दूर होता है उतनी ही खाद की लागत अधिक बढती है। यह काम भारी और मेहनत का है। परन्तु चीनी लोग अपने खेतों में खाद डालने जसा महत्वपूर्ण काम करते हुए कठिन शारीरिक श्रम की कुछ परवाह नहीं करते।

३४. एक दिन हमने हैंगचाउ के आसपास के दर्शनीय स्थान देखने में लगाया। हमने देखा कि एक पुराने बुद्ध-मन्दिर की मरम्मत की जा रही थी। यद्यपि आज के चीनियों ने पुराने मन्दिरों में जाना बन्द कर दिया है, फिर भी चीन-सरकार उनकी मरम्मत पर धन का व्यय कर रही है। प्रतीत होता है कि चीन के देहाती जीवन में परम्परागत धर्म का अब वह आदर नहीं रहा जो जो पहले था। हम ७ ता० को शांगहाई लौटे और ८ को पेकिंग के लिये चल पड़े।

प्रधान मंत्री से हमारी दूसरी भेंट

३५. पेकिंग में रहते समय १८ सितम्बर १६५६ की रात के १०–३० बजे हम दूसरी बार चीन के प्रधान मंत्री से मिले। दो घंटे तक उनके साथ हमारी बातचीत होती रही। प्रधान मंत्री स्वयं हमसे मिलने आये थे, जिससे कि वह अपने देश की सहकारिता-संस्थाओं के विषय में हमारे विचार सुन सकें और यह जान सकें कि हमें उनमें क्या-क्या कमियां दिखाई दीं। हमने उन्हें बतलाया कि चीन में पशु पर्याप्त संख्या में न होने के कारण चीनी किसानों को ऐसे काम भी अपने हाथों से

ही करने पड़ते हैं जो पशुओं द्वारा अधिक अच्छी प्रकार हो सकते हैं। हमारा विचार है कि पशुओं का अधिक प्रयोग करने से चीनी किसानों की जानमारी भी कम हो सकती है। इससे कुछ लाभ और भी होंगे। चीन में दूध बहुत कम होता है और इस कारण उनके भोजन में पौष्टिक अंश की कमी रहती है। यदि चीनी लोग पशुओं का पालन दोनों प्रयोजनों से करने लगें तो उन्हें न केवल दूध अधिक मिलने लगेगा, खेती के कामों में भी वे पशुओं का प्रयोग अधिक कर सकेंगे। पशुओं से यन्त्र चलवाने पर समय की बचत होगी, काम अच्छा होगा और पैदावार बढ़ाने में सहायता मिलेगी। खेती में नये यन्त्रों का प्रयोग भी अधिक सुगमता से किया जा सकेगा। हमने यह संकेत भी कर दिया कि चीनियों को गो-मांस खाने से तो परहेज है ही नहीं, इसलिये उन्हें बेकार पशुओं को जीवित रखने की उस समस्या का सामना नहीं करना पड़ेगा जिसका हमें भारत में करना पड़ता है। फिर हमारी बात निचान के उन स्थानों से पानी का निकास करने पर चल पड़ी जिनमें बरसात के मौसम में पानी भर जाता है। चीनी प्रधान मंत्री ने हमसे पूछा कि हम भारत में इन स्थानों को खेती योग्य बनानें के प्रयोजन से इनमें से पानी निकालने के लिये कुछ कर सकें हैं या नहीं। हमने उन्हें बतलाया कि हमारे यहां इस प्रकार की बड़ी योजना तो कोई नहीं है, परन्तु छोटे प्रदेशों में से पानी निकालने के कुछ कार्यक्रम हमने बनाये ह। इसी प्रसंग में हमने उन्हें बतलाया कि असम के कुछ भागों में 'बोड़ो' नाम का एक प्रकार का धान बोया जाता है जो पानी से भरे हुए खेतों में ही उत्पन्न होता है। धान के पौधे पानी की सतह के साथ-साथ उंचे उठते जाते हैं, परन्तु शर्त यह रहती है कि पानी की सतह भी धीरे-धीरे ही उठनी चाहिये। यदि पानी एकदम बढ़ जाय तो खेती बिगड़ जाती है। चीनी प्रधान मंत्री ने कहा कि हमारे कृषि-प्रतिनिधियों का एक दल भारत जाने वाला है, मैं ये सब बातें उन्हें बतला दूंगा। उन्होंने बतलाया कि हम सहकारिता-संस्थाओं को एक सूत्र में संगठित करने का काम आरम्भ करने वाले हैं और आगामी वर्षों में हमारा प्रमुख कार्य यही रहेगा।

क्वाण्टूंग प्रान्त में

३६. लगभग १० दिन पेकिंग में अन्तिम विचार-विनिमय के लिये लगाकार हम २० सितम्बर को कैण्टन की ओर चल पड़े। कण्टन में हमने एक खाद का कारखाना देखा, जो नगर के कूड़े-करकट और मल-मूत्र को मिलाकर खाद तैयार करता था। इसकी मनेजर प्रौढ़ आयु की एक स्त्री थी। उसने बतलाया कि यह कारखाना खड़ा करने और इसमें उत्पादन शीघ्र आरम्भ करने में, हमारी टेक्निकल सहायता रूसियों ने की है। कारखाना नदी के तटपर है। उसमें नगर का कूड़ा-करकट और मल-मूत्र नावों द्वारा पहुंचाया जाता है। पहले जमीन पर कूड़े-करकट की एक मोटी तह बिछा कर उसके ऊपर मल-मूत्र की पतली तह डाली जाती है। फिर उस पर कूड़े-करकट की दूसरी मोटी तह और मल-मूत्र की पतली तह बिछायी जाती है। इसी प्रकार करते-करते यह ढेर जमीन से नौ-दस फुट ऊंचा उठ जाता है। इस ढेर में एक छेद मलबे के जल्दी सड़ने के लिये छोड़ दिया जाता है। चार से छ: सप्ताह के समय में मलबा गल जाता है। अब इसे सुखाकर चलनियों में से छाना जाता है। बारीक छानस में अमोनियम-सल्फेट और केल्सिअम-सुपरफोस्फेट मिलाकर और उस पर पानी छिड़क कर उसे मशीन में दबाया जाता है, और उसमें से दानों के रूप में तैयार खाद निकल आता है। इसे सुखाकर बाजार में बेच दिया जाता है। यह दानेदार खाद कहलाता है। चीनी किसानों में यह बहुत लोक-प्रिय है। उनका खयल है कि इसका प्रभाव दो-तीन वर्ष तक रहता है।

३७. दो दिन हमने तुरशान चुई (लगभग तहसील के बराबर शासन की इकाई) में यह देखने के लिये बिताये कि यन्त्रों से खेती करने और धान को पंक्तियों में बोने से क्या लाभ होता है। चीनियों के प्रथम परीक्षण तो आशापूर्ण हैं। उनसे जान पडता है कि चावल के खेतों को भी ट्रैक्टरों (यान्त्रिक हलों) से जोता जा सकता है। चीन में बैलों की कमी है। इसलिये वहां इन परीक्षणों का विशेष महत्व है। चावल पंक्तियों में बोने से मेहनत कम और पैदावार अच्छी होती है। पनीर को फैलाने में जो श्रम और समय लगते हैं उनकी बचत हो जाती है। अन्वेषण-केन्द्र के संचालक ने हमें बतलाया कि इन परीक्षणों से इतनी पर्याप्त जानकारी एकत्र की जा चुकी है कि अब इन्हें खेतों में करके देखा जा सकता है। हमारे कृषि-वैज्ञानिकों को भी ये परीक्षण अपने देश में करके देखने की सम्भावना पर विचार करना चाहिये।

३८. हमें लगता है कि आर्थिक और समाजिक दृष्टियों से चीनी लोग हमारी अपेक्षा अधिक समान और एक हैं। वहां गरीबी और अमीरी का अन्तर भारत की अपेक्षा बहुत कम है। उनमें जात-पात का विभाजक भेद भी नहीं है। स्त्रियों का उद्धार हो चुका है और वे भी राष्ट्र के विकास में पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर काम कर रही हैं। अपितु यथार्थता यह है कि स्त्रियों का उद्धार और उन्नति, चीनी क्रान्ति के प्रभावशाली पहलू हैं। देहाती लोगों को खाने को पर्याप्त मिलता है, परन्तु उनका पहरावा वैसा नहीं है। चीन के बाजारों में दुकानें हमें भारत की अपेक्षा कम भरी-पूरी दिखाई पड़ीं और व्यापारिक आदान-प्रदान भी कम होता जान पड़ा। दुकानदार दाम एक ही बोलते हैं। ग्राहक उनके साथ सौदे-बाजी नहीं करते। चीन में मकानों के किराये इतने कम हैं कि उधर ध्यान जाये बिना नहीं रह सकता। हमारे दुभाषियों ने बतलाया कि हमें वेतन तो लगभग ७० यूआन मिलता है, परन्तु बोर्डिंग हाउस में रहने का केवल एक या दो यूआन मासिक देना पड़ता है। भोजन सस्ता है। उसके मूल्य लगभग वहीं हैं जो भारत में, परन्तु कपड़े, जूते और नित्य उपयोग की अन्य वस्तुयें बहुत महंगी हैं। चीन के लोग सन्तुष्ट प्रतीत होते हैं। उन्हें विश्वास है कि हमारे देश की उन्नति उचित दिशा में हो रही है।

३९. चीन के देहातों की एक विशेष बात हमें यह लगी कि लोग स्थानीय वस्तुयें पसन्द करते हैं और उनकी प्रवृत्ति तपस्वी जीवन बिताने की है। चीन में पशु कम हैं, इसलिये वहां चमड़े की भी कमी है। परन्तु यह कभी विदेशों से चमड़ा या जूते मंगा कर नहीं, प्रत्युत रद्दी कपड़ों से जूते बनाकर पूरी की जाती है। हमने ऐसे जूते बनाने का एक कारखाना भी देखा। हमारा खयाल है कि ऐसे जूते भारत में भी बन सकते हैं और यहां रबर-सोल के जिन जूतों का इतना चलन है उनकी जगह ये खासा काम दे सकेंगे। चीनी लोग छतरियां बांस की खपच्चियों पर भी मोमियाई मोटा कागज तानकर बनाते हैं, और उन्हें थामने के लिए उनके बीच में बांस की एक डण्डी लगा देते हैं। इस प्रकार के उदाहरणों से चीनियो की सूझ-बूझ और परिस्थितियों के अनुसार अपना काम निकाल लेने की समर्थता प्रकट होती है।

जापान में

४०. हम २५ सितम्बर को हांगकांग पहुंचे, और वहां से २८ सितम्बर को चलकर उसी रात को टोकियो पहुंच गये। चीन में हमें अध्ययन की जो सुविधायें मिलीं उनसे जापान में मिली हुई सुविधायें बहुत भिन्न थीं। चीन में हमें ये सुविधायें देने की जिम्मेवारी चीनी सरकार की थी और उसने हमारी आवश्यकता पूरी करने के लिये कुछ उठा नहीं रक्खा था। जापान में हमारी सब आवश्यकताएं "एशिया किओकाइ" ने पूरी की थीं। उन्होंने हमें दुभाषिये दिये और हमारी यात्रा का प्रबन्ध करके हमें बतला भी दिया कि हमें कहां-कहां जाना और क्या-क्या देखना चाहिये।

४१. जापान की अवस्थायें, चीन और भारत से इतनी भिन्न हैं कि यह बात तुरन्त ध्यान में आ जाती है। जापान एक सुविकसित देश है और वहां का औद्योगिक उत्पादन बहुत बढ़ा-चढ़ा हुआ है। टोकियो का विकास और विस्तार देखकर हममें से कइयों को लण्डन का स्मरण हो आया। जापान देखने में एक पश्चिमी देश लगता है। उसके औद्योगिक उत्पादन और व्यापार की विशेषतायें भी वैसी ही हैं। जापान की दुकानें माल से इतनी भरी-पूरी हैं कि उन्हें देखकर चीन और भारत की दुकानों से उनका अन्तर एकदम स्पष्ट हो जाता है। वहां सड़कों और रेलों में भी यातायात की रेल-पेल रहती है।

४२. जिस दिन हम जापान पहुंचे उससे अगले ही दिन प्रातःकाल का भोजन करते हुए हमें जापानी भूकम्प का प्रत्यक्ष अनुभव हो गया। अकस्मात् ही घरघराहट की आवाज हुई और दीवारें कांपने लगीं। भोजन-गृह के विभाजन फलक गिर गये और सब लोग इधर-उधर दौड़ने लगे। यह धक्का लगभग एक मिनट तक रहा।

४३. ऊपर से देखने में तो जापान पश्चिमी देश लगता है, परन्तु जापानी मकानों के भीतर की सजावट और फर्निचर आदि सब जापानी ढंग का होता है। जापान की स्त्रियों ने रंग-ढंग तो बिल्कुल पश्चिमी अपना लिये हैं, परन्तु शायद उनको स्वतन्त्रता उतनी नहीं है जितनी उनकी चीनी बहनों को। जापान के देहातों में प्रातःकाल मन्दिर में जाने का रिवाज अब भी बहुत प्रचलित है।

४४. जापान में कृषि का उत्पादन बहुत विकसित अवस्था में है। चावल की पैदावार एशिया के किसी भी अन्य देश से अधिक होती है, और जमीन पर जहां कहीं भी खेती की जा सकती है वहां फसल बोयी हुई दिखाई देती है। हाल में, पशु-पालन और दूध के पदार्थ उत्पन्न करने में भी बड़ी उन्नति हुई है। भारत से पूर्व की ओर के सब देशों में, दूध और दूध से बनी वस्तुओं का उत्पादन सबसे अधिक जापान में ही होता है। फलों की खेती भी उन्नत अवस्था में है। नगानो जिले के बड़े-बड़े मीठे सेव देखकर हमारा चित्त प्रसन्न हो गया। स्थान का उपयोग जापानी लोग बड़ी किफायत से करते हैं। यह बात किसी भी इमारत में देखी जा सकती है—वह चाहे रहने का मकान हो, चाहे होटल, चाहे दुकान, और चाहे औद्योगिक कारखाना। दीवारें लकड़ी के चौकोर फ्रेम में कागज मढ़कर बनायी जाती हैं। जापानी मकान अति सुन्दर और कलापूर्ण होते हुए भी, हलके सामान से बनाये जाते हैं।

४५. हमने जापान के राष्ट्रीय-कृषि-विश्वविद्यालय के प्रोफेसरों के साथ तीन बार विचार-विनिमय किया और हमें उनसे जापान के छोटे किसानों के विषय में बहुत उपयोगी जानकारी प्राप्त

खण्ड २

चीन

तीसरा अध्याय

कृषि-सहकारिता संस्थाओं का इतिहास और विकास

सहकारिता-संस्थाओं से पहले की दशा

१. चीनियों का विचार है कि उनके देश में एकता होने और सम्मिलित कार्रवाई करने के लिए अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न ही इस कारण हुई कि चीन के किसान अति दरिद्र थे। देश में एकता होने के पश्चात् जो परिवर्तन हुए वे इतने शीघ्र और इतनी बहुसंख्या में किस प्रकार हो गए, यह भलीभांति समझने के लिए आवश्यक है कि पहले देहातों में बसे हुए किसानों का हाल जान लिया जाए। हम जब सहकारिता-संस्थाएं देखने जाते थे तब साथ-साथ देहातों का हाल भी मालूम करते जाते थे। हमें जो ज्ञात हुआ वह, स्थान-भेद से कुछ भिन्न होते हुए भी, साधारणतया यह था कि चीनी किसान लालची और लुटेरे जमींदारों के अत्याचारों से पीड़ित रहते थे। इन जमींदारों का प्रभाव स्थानीय शासकों पर इतना अधिक था और वे स्वयं इतने ऊंचे पदों पर प्रतिष्ठित रहते थे कि उनके विरुद्ध कोई याचना-प्रार्थना या अपील करने का फल प्रायः कुछ नहीं निकलता था। सम्भव है कि लोगों ने अपनी भूत और वर्तमान दशा में अन्तर की अत्यन्तता प्रकट करने के लिए कुछ अत्युक्ति भी की हो परन्तु उन्हें स्वयं उसका भान तक न हुआ हो। उदाहरणार्थ, जेचुआन प्रान्त की एक चुई (लगभग तहसील के समान शासन की एक इकाई) अन्जेन में, एक सहकारिता-संस्था की युवती अध्यक्षा ने हमारे एक प्रश्न का उत्तर देते हुए हमें बतलाया कि उस गांव में यह आम रिवाज था कि जो बहुएं विवाहित होकर आती थीं वे अपनी पहली रात जमींदारों के यहाँ बिताती थी। वहीं पर एक और स्त्री ने बतलाया कि मेरा पति अपने लगान का चौथाई भाग चुकाने में असमर्थ था, केवल इस कारण मुझे एक सप्ताह तक एक बिल्कुल अन्धेर-घुप्प तहखाने में कैद करके वहां मुझे दो-तीन फुट गहरे पानी में खड़ा रक्खा गया। उस पानी में मेरी ही तरह जमींदार के कोप का शिकार बने हुए अन्य अनेक व्यक्तियों की लाशें तैर रही थीं। मेरे पीछे मेरे पति को लगान-वसूली के लिए तंग किया, सताया और मारा-पीटा जाता रहा। अन्त को वह बेचारा मर गया। हमारे कहने पर हमें वह तहखाना दिखलाया गया तो हमारा ख्याल हुआ कि उस स्त्री ने वहां की अवस्थाओं का वर्णन बहुत बढ़ा-चढ़ा कर किया था। हां, तहखाना वहां अवश्य विद्यमान था। इस प्रकार की बातों से हमारा विचार यह बना है कि देहातों की 'मुक्ति' से पूर्व की दशाओं का सच्चा दिग्दर्शन, पुराने कागजात और एतद्-विषयक प्रामाणिक पुस्तकों से ही हो सकता है।

२. इस समय चीन की आबादी ५८ करोड़ ३० लाख है। ११ करोड़ परिवार अर्थात् सारी आबादी के ८६.७ प्रतिशत लोग देहातों में रहते हैं। १९१७–१८ में किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार खेती से अपना निर्वाह करने वाले परिवारों की संख्या ६ करोड़ ९० लाख और व्यक्तियों की संख्या ३४ करोड़ ५० लाख थी। यह १९२६ में अन्दाजी गई जन-संख्या का ७१ प्रतिशत बैठता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि 'मुक्ति' से पूर्व खेती पर निर्वाह करने वालों का अनुपात ७१ प्रतिशत से भी अधिक रहा होगा। इन सब मतों का सारांश यह है कि पहले के चीन में लगभग तीन-चौथाई लोगों का पेशा खेती ही था।

३. 'मुक्ति' से पूर्व, काश्तकारों या मालिक-किसानों के अतिरिक्त, कितने लोग खेतों में मजदूरी करते थे, इसका कोई हिसाब नहीं मिलता। निःसंदेह सब प्रान्तों में अवस्था एक-सी नहीं थी, परन्तु सब मिलाकर ऐसा प्रतीत होता है कि निरे खेत-मजदूरों का अनुपात देहाती आबादी में थोड़ा ही था। चुई तींग के समीप ५२५५ परिवारों का अध्ययन करने से पता चला कि १३ वर्ष से ऊपर की आयु के १०८०३ पुरुषों में ९०११ अथवा ८३ प्रतिशत तो किसान थे, और केवल १३९ अथवा १.३ प्रतिशत मजदूर। एक अन्य अध्ययन प्रो० बक ने, पूर्वी, मध्य और उत्तरी चीन के १७ विभिन्न भागों में स्थित २८६६ खेतों का किया था; उसके अनुसार, प्रति वर्ष मजदूरी के ही आसरे रहने वाले मजदूरों की

संख्या केवल ६६३, अर्थात् प्रति ४ १/२ खेतों के पीछे केवल १, निकलती थी। इन तथ्यों से एक परिणाम यह निकलता है कि चीन की भूमि-समस्या में, भारत के समान, बे-जमीन खेत-मजदूरों की कोई बड़ी उलझन नहीं थी। चीन की देहाती आबादी का नमूना ऐसा किसान था जिसके पास काश्तकार की हैसियत से जमीन थी, वह बे-जमीन और निरा मजदूर नहीं था।

४. काश्तकारों की संख्या विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न थी। उत्तर में काश्तपर जमीन देने का रिवाज इतना प्रचलित नहीं था जितना दक्षिण में, वहां (उत्तर में) दो-तिहाई से तीन-चौथाई तक किसान अपनी जमीन के मालिक भी आप ही थे। दक्षिण में केवल काश्त पर जमीन लेकर खेती करने वाले किसानों की संख्या बहुत बड़ी थी—क्वान्तुंग में ६६ प्रतिशत और हूनान में ८० प्रतिशत। मोटे हिसाब से कह सकते हैं कि कृषक वर्ग में आधे जमीन के मालिक थे और आधे काश्तकार (अर्थात् जमींदार की जमीन काश्त पर लेकर खेती करने वाले)।

५. काश्तकारों की दशा भी विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न थी। कुछ प्रान्तों में तो—उदाहरणार्थ: चेकिआंग, क्वान्तुंग और किआंगसू में—काश्तकारों की अधिकारों की जड़ जम गई जान पड़ती थी, अर्थात् वे जमीन पर काश्त के अपने अधिकार का पटा बार बार नया करवा सकते थे। जब तक वे लगान देते रहते थे तब तक उन्हें बेदखल कोई नहीं कर सकता था। वे काश्त का अपना अधिकार किराए पर दे सकते, बेच सकते और रहन भी रख सकते थे। दूसरी ओर, ऐसे काश्तकार भी थे जिनकी काश्त की जमीन उनके पास मालिक की मरजी या जमींदार की खुशी से ही रह सकती थी। वे उसे किसी अन्य को नहीं दे सकते थे। कइयों को तो जमींदार की बेगार भी करनी पड़ती थी। काश्तकारों और जमींदारों में झगड़े बहुधा होते रहते थे, और बहुत बार जमींदार जोर-जबरदस्ती भी करते थे। अधिकतर काश्तकारों की स्थिति इन दोनों के बीच की थी।

६. असाधारण ऊंचे लगानों की वसूली तो एक नियम सा बन गया था। पैदावार का जो हिस्सा जमींदार, लगान के रूप में ले लेता था, वह प्राय: ५० प्रतिशत होता था, परन्तु कहीं कहीं उसका परिमाण ८० प्रतिशत तक पहुंच जाता था। १९३७ में चिआंग-काइ-शेक के शासन ने लगान का दर घटा कर सब स्थानों पर एक-सा, अर्थात् ३७.५ प्रतिशत, कर देने का यत्न किया था। परन्तु इसमें उसे सफलता नहीं हुई, क्योंकि एक तो तब अवस्थाएं अस्थिर थीं और दूसरे शासन की प्रवृत्ति जमींदारों का पक्षपात करने की थी।

७. भूमि का बंटवारा और खेतों के खण्ड-खण्ड हो जाने की प्रथा भी बहु-प्रचलित थी। चीनी किसान खेतों को खण्ड-खण्ड कर देने का यह कह कर समर्थन करता था कि जमीन की किस्म हर बीघा पीछे बदल जाती है। इसलिए प्रत्येक किसान को भली या बुरी जमीन के लाभ हानि में भी बराबर का भाग मिलना चाहिए। इसके अतिरिक्त, किसान को पशु चराने और ईंधन के लिए तो पहाड़ी और खेती के लिए हमवार जमीन मिलनी चाहिए। उनकी एक दलील यह भी थी कि भूमि की किस्में बंट जाने पर वह सूखे या बाढ़ से हुई हानियों का सामना अधिक भली प्रकार कर सकता है। १९३० में एक कानून जमीनों की चकबन्दी के लिए बनाया गया था, परन्तु उससे इस उद्देश्य की पूर्ति प्राय: कुछ नहीं हुई दीखती।

८. निम्न तालिका से ज्ञात होगा कि चीन में कितनी कितनी भूमि के मालिक किस किस प्रकार के व्यक्ति थे :—

वर्ग	समस्त किसान परिवारों में इन वर्गों का प्रतिशत	समस्त भूमि में प्रत्येक वर्ग के स्वामित्व का प्रतिशत
१. खेती न करने वाले जमींदार	३	२६
२. सम्पन्न किसान (खूब खाते-पीते)	७	२७
३. मध्यम स्थिति के किसान (निर्वाह मात्र करने में समर्थ)	२२	२५
४. दरिद्र किसान (सर्वदा ऋण-ग्रस्त)	६८	२२

इससे प्रकट है कि किसानों में ६८ प्रतिशत की दशा दरिद्र थी, परन्तु वे मालिक केवल २२ प्रतिशत भूमि के थे। उनके, विपरित जमींदारों और सम्पन्न किसानों का अनुपात किसान आबादी में केवल १० प्रतिशत होते हुए भी वे स्वामी ५३ प्रतिशत भूमि के बने हुए थे।

९. कृषि-तथा-व्यापार विभाग ने एक सर्वेक्षण किया था। उससे विदित हुआ था कि जिन ४९० लाख खेतों का सर्वेक्षण किया गया था उनमें से—

३६ प्रतिशत का नाम १०*मऊ से कम

२६ प्रतिशत का १० से २९ मऊ तक

२५ प्रतिशत का ३० से ३९ मऊ तक

१० प्रतिशत का ५० से ९९ मऊ तक

और ६ प्रतिशत का १०० मऊ अथवा इतने से भी ऊपर था।

सारे चीन में खेतों का औसत नाप २४ मऊ अर्थात् ४ एकड़ से कुछ कम था। परन्तु विभिन्न प्रान्तों में खेतों का नाप भी विभिन्न था।

१०. खेतों के इतना छोटा होने के कारण चीनी किसान को अपनी जीविका उसी में घनी पैदावार करके कमानी पड़ती थी। कुछ लेखकों ने तो यहाँ तक लिखा है कि चीनी खेत एक प्रकार के बाग होते थे।

जमीन का उपजाऊपन बनाये रखने पर बहुत जोर दिया जाता था, और इसलिए खेती एक प्रकार का चक्कर बांधकर की जाती थी, अर्थात् जमीन से फसल लेते हुए जो कुछ प्राप्त होता था उसका बहुत-सा पोषक अंश खाद के रूप में वापिस जमीन में ही डाल दिया जाता था। चीनी किसान सब प्रकार की बेकार चीजों का खाद बना लेने की कला में परम प्रवीण है। परिस्थितिवश उसका सौभाग्य खुली जमीन में आराम से खेती करने का कभी नहीं हुआ, इस कारण उसे कुछ ऐसी सूझ-बूझ हो गयी है कि उसके पास जितनी जमीन हो उतनी से ही वह, अपने अल्प साधनों में भरसक श्रम और निपुणता का पुट देकर, अधिकतम लाभ कमा लेता है।

११. अन्दाजा लगाया गया है कि खेती से जितनी पैदावार होती थी उसका लगभग ५३ प्रतिशत बेच दिया जाता था। इसमें कोई एक-तिहाई चावल, आधा गेहूं, सेमों के बीज और मटर, दो-तिहाई जौ और तीन-चौथाई तिल तथा साग-सब्जी होते थे। रास्ते खराब और माल ढोने के साधन दकियानूसी होने के कारण, बाजार में माल पहुंचाने का व्यय बहुत भारी बैठता था। हैंगचाउ में जो चावल १० डालर को बिकता था वही उसी प्रदेश के पहाड़ी भागों में १५ डालर में मिलता था। जेचुआन में गेहूं, पूर्वी प्रान्तों के बाजार-दर से दसवें मूल्य पर, बिक जाने की बात सुनी जाती है।

१२. फसल से पहले जब माल बाजार में कम होता था तब तो मूल्य बहुत बढ़ जाते, और फसल के बाद एकदम नीचे उतर आते थे। फसल के तुरन्त बाद बाजार भाव १० डालर प्रति पिकल (लगभग ६२.५ सेर) के आसपास रहता था। परन्तु वसन्त ऋतु में यह २८ डालर तक जा पहुंचता था। इस प्रकार व्यापारी १८० प्रतिशत तक लाभ कमा लेते थे। होनान में उत्पन्न हुई और शांगहाई के बाजार में बिकी मुंगफली के ३० सौदों की जांच करने से पता चला कि ग्राहक को जो मूल्य देना पड़ा उसका केवल आधे से दो-तिहाई तक किसान के हाथ में पहुंचा।

१३. 'मुक्ति' से पूर्व के चीन में किसान को सब से बड़ी कठिनाई ऋण मिलने की थी। ऋण-प्राप्ति का सब से बड़ा सूत्र गांव का महाजन होता था, और वही बहुधा जमींदार भी होता था। ऋण देने वाली सहकारिता-संस्थाएं कम, छोटी और असंगठित थीं। यद्यपि व्याज की अधिकतम

---

*१ मऊ—०.१६ एकड़ अथवा ३/४ बीघा से कुछ कम ये अंक टानी-लिखित 'लैण्ड एण्ड लेबर इन चायना' अर्थात् 'चीन की जमीन और मजदूर' पुस्तक में से लिए गए हैं।

कानूनी दर २० प्रतिशत थी, परन्तु किसानों को ३० से ५० प्रतिशत तक व्याज निजी महाजनों को देना पड़ता था। इन परिस्थितियों के कारण किसान को अपनी आजीविका कमाने के लिए तन-तोड़ मिहनत करनी पड़ती थी। अनेक पुस्तकें उसकी दरिद्रता पर लिखी गई हैं। इनमें दिखलाया गया है कि अधिकतर चीनी किसान भूख और नंग के दरवाजे पर खड़े रहते थे। अपनी अत्यल्प आय के कारण किसान और उनके परिवार किसी प्रकार जीवित भर रह पाते थे। शीत काल में लोग यथाशक्ति घटिया और थोड़ा भोजन करके भी जान-मारी करते रहते थे।

१४. भारतीय लोग स्वभावत: अपने यहां के किसानों की अवस्था की तुलना चीनी किसानों की अवस्था के साथ करना चाहेंगे। चीन में बिन-जमीन खेत-मजदूरों की समस्या नहीं थी, वरना और सब बातों में,—जमीन पटे पर उठाने की पद्धति, खेतों के परिमाण और कृषि की अवस्थाओं आदि में—वहां के किसानों की दशा बहुत-कुछ हमारे किसानों से मिलती-जुलती थी। भारत के कुछ भागों में तो किसानों की अवस्था उससे बिल्कुल भिन्न नहीं जान पड़ती जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। एक वड़ा अन्तर यह लगता है कि चीनी जमींदार क्योंकि सरकार का भी प्रतिनिधि था, इसलिए गांव में उसका अधिकार और नियन्त्रण बहुत अधिक चलता था। चीनी गांवों में कानून के शासन का अर्थ प्राय: कुछ नहीं था, वहां के किसान हमारे किसानों की अपेक्षा कहीं अधिक सताए और लूटे जाते थे।

१५. १९११ की राज-क्रान्ति के पश्चात् चीन में मंचू राजवंश का अन्त हो गया था। उसके पश्चात् १९४९ में हुई 'मुक्ति' तक, चीन के शासन में अस्थिरता रही। डा० सन-यात-सेन की क्रान्तिकारी हलचलों के कारण मंचू राज-वंश का पतन तो हो गया, परन्तु उसके स्थान पर वह अपनी सत्ता दृढ़ नहीं कर सके और विभिन्न सेनापतियों के आपसी लड़ाई-झगड़ों में विभिन्न प्रान्तों पर उन्हीं का शासन जमता-उखड़ता रहा। १९२५ में डा० सन-यात-सेन का देहान्त हो गया। उससे कुछ ही वर्ष पूर्व उन्होंने घोषणा की थी कि चीनियों को सोवियत रूस के साथ मित्रता करके उससे सहायता लेनी चाहिए और चीन की आर्थिक प्रगति उन द्वारा निर्धारित तीन प्रसिद्ध सिद्धान्तों के आधार पर होनी चाहिए। उनके पश्चात्, उनके दल कुओ-मीन-तांग के नेता चिआंग-काइ-शेक हो गए, १९४८ में वह भागकर तैवान (फारमोसा) चले गए, परन्तु तब तक कुओ-मीन-तांग के नेता वही माने जाते रहे। चीन में कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना १९२१ में हुई। आरम्भ में तो कम्यूनिस्टों की नीति कुओ-मीन-तांग के साथ मिल कर काम करने की रही, परन्तु १९२७ में, जब चियांग-काइ-शेक ने उन्हें समाप्त कर देने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया तब वे उससे सर्वथा पृथक् हो गए। बहुत-सों को तो अपनी जान हथेली पर रख कर भागना पड़ा। एक या दो वर्ष, किसी प्रकार कठिनाई से, दक्षिण में ही बिताने के पश्चात् माओ-त्जे-तुंग के नेतृत्व में एक छोटी सी सेना, वर्ष-भर में ७००० मील की मजिल तय करके उत्तर-पश्चिम में येनान पहुंच गयी और उसने अपने डेरे वहीं जमा दिये। मार्ग में कुओमीन-तांग ने कई बार उन्हें नष्ट करने का प्रयत्न किया, परन्तु वे उनके आक्रमणों को निरन्तर विफल करते रहे। चिआंग-काइ-शेक का इरादा कम्युनिस्टों की बची-खुची सेना को अन्त तक नष्ट कर डालने का रहा, परन्तु इसी बीच (१९३७ में) चीन पर जापानियों ने आक्रमण कर दिया और देश-भर में जापानियों का सामना मिलकर करने की पुकार उठने लगी। इसी कारण सीआंग की वह प्रसिद्ध घटना घटित हुई, जिसमें चिआंग-काइ-शेक के ही एक सेनापति ने उसे गिरफ्तार कर लिया और येनान-सरकार के प्रतिनिधि चाउ-एन-लाई के साथ समझौता करने को विवश किया। इसके पश्चात् बहुत समय तक चिआंग-काइ-शेक की कुओ-मीन-तांग पार्टी और कम्युनिस्टों में सन्धि रही और दोनों में मिल कर जापानियों का सामना करने का समझौता चलता रहा। परन्तु वस्तुत: दोनों एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते रहे, और दोनों ने मिल कर जापानियों का सामना प्रभावशाली ढंग से नहीं किया। फल यह हुआ कि जापानियों ने चीन के बहुत बड़े भाग पर अधिकार कर लिया और चिआंग-काइ-शेक को अपनी राजधानी, पूर्व में नानकिंग से हटा कर, पश्चिम में चुंगकिंग ले जाने के लिए विवश होना पड़ा। इसी समय द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ गया और चिआंग-काइ-शेक की सरकार को मित्र-राष्ट्रों की सहायता प्रचुर परिमाण में मिलने लगी। १९४५ में जापानियों की हार और वापिसी के बाद चिआंग-काइ-शेक की सेना ने उत्तरी चीन के भी नाके के स्थानों पर अपना अधिकार कर लिया। परन्तु वहां की किसान जनता चिआंग-काइ-शेक के पक्ष में नहीं थी।

इसके पश्चात् जो गृह-युद्ध हुआ उसमें कुओ-मीन-तांग की सेनाएं हारती चली गयीं और शीघ्र ही समस्त चीन पर कम्यूनिस्टों का अधिकार हो गया। चिआंग-काइ-शेक को चीन की मुख्य भूमि से भाग कर फारमोसा में आश्रय लेना पड़ा। इस प्रकार सारे चीन पर कम्यूनिस्ट शासन हो गया। पहली नवम्बर १९४९ को कम्यूनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष माओ-त्से-तुंग ने पेकिंग में चीनी जनता का लोकतंत्री गणराज्य स्थापित हो जाने की घोषणा कर दी।

भूमि सुधार

१६. गणराज्य की स्थापना के तुरन्त पश्चात् ही चीन की कम्यूनिस्ट सरकार ने भूमि का वितरण, अपनी घोषित नीति और लक्ष्य के अनुसार, आरम्भ कर दिया। उनके भूमि-सुधार का लक्ष्य यह था कि 'भूमि के स्वामित्व की उस प्रणाली का अन्त हो जाए जिसमें जागीरदार लोग किसानों का शोषण किया करते थे, और उसके स्थान पर किसानों के ही भूमि का स्वामी होने की प्रणाली चल पड़े, जिससे कि देहातों में उत्पादन की शक्तियां उन्मुक्त हो जाएं, और कृषि के उत्पादन का विकास होकर नए चीन में औद्योगिक उन्नति की नींव पड़ जाए।' इससे स्पष्ट है कि भूमि का वितरण देहातों की उत्पादन-शक्ति बढ़ाने की दिशा में प्रथम चरण मात्र था। इसके पश्चात् अन्य उपायों का भी अवलम्बन किया जाने वाला था, जो इस नई उत्पादन-शक्ति का विकास करने में सहायक होते। इस शक्ति का विकास करने के लिए, भूमि के स्वामित्व की प्रणाली का नहीं, प्रत्युत भूमि पर जागीरदारों के ऐसे स्वामित्व की प्रणाली का अन्त करना अभीष्ट था जिसमें किसानों का शोषण किया जाया करता था। वस्तुतः भूमि-सुधार के कानून में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि भूमि-सुधार के पश्चात् जनता की सरकार भूमि के स्वामित्व के प्रमाणपत्र जारी करेगी और भू-स्वामियों का यह अधिकार मानेगी कि वे भूमि का प्रबन्ध, क्रय, विक्रय और उसे किराए पर उठा देना आदि स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते हैं। और जैसा कि हम आगे बताएंगे, यह अधिकार केवल कानून की किताब में नहीं लिखा रहा, इसका व्यवहार में भी प्रयोग किया गया।

१७. भूमि-सुधार के कानून में, भूमि के प्रयोग की विधि और उससे उपलब्ध लाभों के अनुसार, चार प्रकार के भू-स्वामी माने गए हैं :—

१. जमींदार
२. सम्पन्न किसान
३. मध्य-वित्त किसान और
४. गरीब किसान।

कौन व्यक्ति इनमें से किए वर्ग में आता है इस बात का निश्चय "ग्रामीण जनता की सरकार के नेतृत्व में, गांव के किसानों की सभा और गांव के प्रतिनिधियों का सम्मेलन करके, उसमें उस व्यक्ति के अपने अन्दाजे और सार्वजनिक वाद-विवाद के पश्चात्, लोकतन्त्री निर्णय की विधि से किया जाएगा"। जमीन के कानून में प्रत्येक व्यक्ति का वर्ग निश्चित करने के लिए बहुत-से नियम बना दिए गए थे।

१८. जमीन के जागीरदारी शोषण की व्याख्या यह की गई थी कि कोई व्यक्ति स्वयं तो वास्तविक श्रम करता न हो और जमीन के लगान अथवा अन्य व्यक्तियों के श्रम के रूप में उनसे लाभ कमाता हो। 'वास्तविक श्रम' से अभिप्राय यह है कि केवल ऊपरी श्रम न करके, उत्पादन के असली कामों में एक नियत समय तक भाग लिया जाय। जमींदार और सम्पन्न किसान में अन्तर इसी आधार पर किया गया था। जमींदार वह था जो अपना निर्वाह केवल शोषण के द्वारा करता था। सम्पन्न किसान वह था जो स्वयं वास्तविक श्रम तो करता था परन्तु जिसे अपने परिवार की आय का २५ प्रतिशत से अधिक शोषण द्वारा प्राप्त होता था। मध्य-वित्त किसान उसे माना गया था जो साधारणतया अपनी जमीन का मालिक आप ही था, उसमें खेती स्वयं करता था, और न अन्य किसी का श्रम खरीदता न अपना श्रम किसी को बेचता था। दूसरों की जमीन पर काश्त करने वाले काश्तकार भी इसी वर्ग में आ जाते थे। गरीब किसान उसे माना गया था, जिसकी जमीन और औजार दोनों घटिया होते थे, जिसे जमीन किराए पर लेनी पड़ती और अपनी मजदूरी भी बेचनी पड़ती थी।

१९. जमीदारों की तमाम जमीन, बोझ ढोने वाले पशु, खेती के औजार, फालतू अन्न और फालतू मकान जब्त करके, गरीब किसानों में बांट दिए गए थे। परन्तु जमींदार को भी अपना निर्वाह वास्तविक श्रम द्वारा करने देने के लिए गरीब किसान के समान जमीन उसके पास रहने दी गई थी। भूमि-सुधार के आरम्भ में, सम्पन्न किसानों के साथ भी जमींदारों के समान ही व्यवहार किया गया था, और जिस जमीन में वे अपने वास्तविक श्रम द्वारा खेती नहीं कर रहे थे वह सब जब्त कर ली गयी थी। परन्तु पीछे जब नीति में परिवर्तन किया गया तब सम्पन्न किसानों के साथ नई अर्थ व्यवस्था में कुछ रियायतें कर दी गईं। केवल उस सम्पन्न किसानों के साथ अर्ध-जमींदारों का सा व्यवहार किया गया जिनकी शोषण द्वारा होने वाली आय अपनी खेती की आय से अधिक थी। उनकी फालतू जमीन जब्त कर ली गयी। मध्य-वित्त किसानों की जमीन को नहीं छेड़ा गया।

परिणाम

२०. हम यहां इन भूमि-सुधारों के विस्तार और भलाई-बुराई की चर्चा में पड़ना नहीं चाहते। इतना ही लिख देना पर्याप्त है कि भूमि का वितरण एक नियमित व्यवस्था और शियांग (ग्राम-मण्डल) की आबादी के अनुसार कर दिया गया। पर वितरण करते हुए इस बात का ध्यान रखा गया कि गांव में खेती का पेशा करने वाले प्रत्येक परिवार को भूमि अवश्य मिल जाए। इस प्रकार किसान को जो भूमि मिली, वह यदि उसके पास पहले से कुछ भूमि थी तो उसे मिला कर, वितरण से पहले की अपेक्षा अच्छी और अधिक हो गई। इस प्रकार पुनर्वितरण के पश्चात् गांव के सब परिवार भूमि के मालिक बन गए और साधारणतया गांव के किसी भी आदमी के पास औसत खेत से दुगने की अपेक्षा अधिक भूमि नहीं रही। इसका फल यह हुआ कि सम्पन्न, मध्य-वित्त और गरीब किसानों में अन्तर घट गया।

किसानों का पंचायत-राज

२१. विभिन्न किसानों के वर्गों का निर्धारण किसानों की ही सभाओं में किया गया और इस पद्धति का नाम रखा गया 'लोकतन्त्री अन्दाजा'। किसानों की सभाओं का आधार जो सिद्धांत था उसका नाम ही चीन में 'लोकतन्त्री केन्द्रीकरण' है, अर्थात् व्यक्ति समूह के सामने, अल्पमत बहुमत के सामने और निम्न संगठन उच्च संगठन के सामने गौण माने जाएं।

२२. चीनियों का विचार था कि जब तक जागीरदारों का प्रभाव नष्ट नहीं कर दिया जाएगा तब तक किसानों की जागीरदारों से दब कर रहने की प्रवृत्ति और उनमें सूझ-बूझ के अभाव का अन्त भी नहीं होगा। इसके अतिरिक्त बहुत-से जमींदार भूतकाल में अनेक गम्भीर अपराध कर के भी अ-दण्डित रह गए थे। भूमि-सुधार लागू होने से पहले, किसानों की सभाएं कर के उनमें, जमींदार पर खुल्लमखुल्ला उसके पिछले अपराधों का अभियोग लगाया जाता था, और तब सारी सभा मिलकर अपने निर्णय की घोषणा करती थी। बहुधा जो अधिक अपराधी होते थे उन्हें मृत्यु दण्ड दे दिया जाता था। अधिकतर शियांगों (ग्राम-मण्डलों) में शायद ऐसा ही हुआ। हमने चीनियों से इन घटनाओं के विषय में पूछा तो उन्होंने बतलाया कि हम प्रत्येक जमींदार को नष्ट करना नहीं चाहते थे। इसके विपरीत, हमने बहुतसे जमींदारों को इतनी पर्याप्त भूमि दी कि वे वास्तविक श्रम करके शेष सब गरीब किसानों के समान, उससे अपना निर्वाह कर सकें। परन्तु जमींदारों को उनके पिछले अपराधों का दण्ड तो देना ही था। उनके साथ न्याय जनता की इच्छा के अनुसार ही किया गया। जब हमने कहा कि सारी ही जनता जमींदारों के विरुद्ध भड़क जाए तो न्यायपूर्वक निर्णय करने में उसका सन्तुलन स्थिर नहीं रह सकता, तब हमें बतलाया गया कि इन सब निर्णयों पर इसी प्रयोजन से बनाए हुए विशेष न्यायालयों में पुनर्विचार किया जाता था।

२३. इस सम्बन्ध में दो बातों का जिक्र विशेष रूप से कर देना चाहिए। पहली यह कि भूमि-के सब काम किसान-पंचायतों द्वारा ही पूरे करवाए जाते थे। कुछ विशेष किसान ऐसे थे हें भूमि-सम्बन्धी कानूनों पर अमल कराने की जिम्मेवारियां निभाने के लिए प्रशिक्षित कर लिया जाता था, स्वभावतः गांवों के भावी नेता उन्हीं में से तैयार हुए। भूमि-सुधार सम्बन्धी कानूनों पर अमल कराते हुए उन्हें अनेक सम्मिलित कामों के लिए इकट्ठा होना ही पड़ता था। इससे भविष्य में परस्पर-सहायक दलों और सहकारिता-संस्थाओं के विकास में सहायता अवश्य मिली होगी। दूसरी

बात यह है कि काम करने की शैली इस प्रकार की थी कि किसानों को अनुभव हो जाए कि सब निर्णयों के लिए उत्तरदायी वे ही हैं। किसान-पंचायतों के निर्णयों के विरुद्ध निःसंदेह अपील की जा सकती थी, परन्तु अपीलों का फैसला करते हुए पंचायतों को दलीलों द्वारा निश्चय करवा दिया जाता था कि उनसे भूल हो गई है।

२४. बहुधा एक प्रश्न यह किया जाता है कि चीनियों ने भूमि का वितरण क्या जान-बूझकर अधिकतम लोगों में किया था, जिससे कि प्रत्येक परिवार इतनी थोड़ी थोड़ी भूमि का स्वामी बने कि भविष्य में सहकारिता के आधार पर काम करने के लिए आपसे आप अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न हो जाएं, अथवा भूमि-सुधार का कानून बनाते हुए उन्होंने पहले से ही यह ध्यान में रख लिया था कि हमें अपना भावी भौमिक विकास परस्पर-सहायक दलों और सहकारिता-संगठनों द्वारा करना है। इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर देना कुछ कठिन है। इतना तो राष्ट्रपति माउ के १९४० तक लिखे हुए लेखों से भी पता चलता है कि उनकी दृष्टि कृषि की एक ऐसी समाजवादी व्यवस्था पर थी जिसमें अन्ततोगत्वा व्यक्तियों की निजी खेती का सर्वथा अन्त हो जाना था। यह बात तर्क-संगत भी नहीं जान पड़ती कि भूमि के इतने व्यापक वितरण का कार्यक्रम भूमि के भावी पुनर्गठन का कोई भी विचार किए बिना, अकस्मात् और सर्वथा स्वतन्त्र रूप में आरम्भ कर दिया गया होगा। परन्तु इतना अवश्य जान पड़ता है कि पार्टी और सरकार के विचार, भावी भूमि-संगठन तथा प्रबन्ध के विषय में, चाहे जो रहे हों, आरम्भिक कार्रवाइयों का प्रयोजन किसानों को जमीन का ऐसा पूरा पूरा मालिक बना देने का था कि उसे अपनी जमीन पट्टे पर उठा देने आदि की और बेच डालने की तक की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाए। चीनी कार्रवाइयों का बड़ा गुण यही दिखलाई पड़ता है। यद्यपि उनका प्रत्येक पग, घटनाओं की विशिष्ट शृंखला की एक कड़ी थी, परन्तु वह पृथक् रूप से अपने आप में इतना पूर्ण था कि वह देखने में निरी कड़ी नहीं लगता था।

२५. यहां हमें भूमि के व्यापक वितरण के कारण उत्पन्न हुई एक अन्य समस्या की भी चर्चा कर देनी चाहिए। भूमि-सुधारों के तुरन्त पश्चात् कुछ गरीब किसानों ने अपनी जमीनें बेचना शुरू कर दिया और सम्पन्न किसानों में अपने गरीब पड़ौसियों की जमीनें खरीदकर सम्पन्नतर बन जाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होने लगी। दिसम्बर १९५५ में, होपेइ प्रान्त के पार्उतिंग शासन-प्रदेश की ११ चुइयों (लगभग तहसील के समान शासन की इकाइयों) में कुछ आंकड़े एकत्र किए गए थे। उनसे पता चलता है कि १९४९ में ४३,८९० मउ (१ मउ=०.१६ एकड़) और १९५१ में १ लाख १५ हजार १८८ मउ जमीन बेची और खरीदी गई थी। परन्तु जब सहकारिता से खेती करने का आन्दोलन आरम्भ किया गया तब परिस्थिति में परिवर्तन होने लगा। १९५२ में उक्त संख्या घटकर ९१,४२० और १९५३ में ७८,४५० रह गई। १९५४ में यह ३६,२४५ और १९५५ में ८,२९० मउ थी। १९५५ में किरीन प्रान्त की फुरगु चुई के तीन ग्रामों में एकत्रित तथ्यों से पता चला कि ७ किसान परिवारों ने १६५ मउ जमीन बेची थी। १९५१ में इन्हीं ग्रामों के ९ परिवारों ने २१० मउ जमीन बेची थी। परन्तु १९५३ में सहकारिता की खेती का चलन फैल जाने पर कोई जमीन बेची और खरीदी नहीं गई। आज भी चीनी कानून के अनुसार तो, यदि किसान किसी उन्नत सहकारिता-संस्था का सदस्य न हो तो उसे जमीन बेचने का अधिकार है, परन्तु व्यवहार में इस अधिकार का प्रयोग करने से उसे निरुत्साहित किया जाता रहता है।

परस्पर-सहायक दल

२६. भूमि-वितरण के पश्चात् कृषि का पुनर्गठन करने के लिए पहला कदम यह उठाया गया कि स्थायी और अस्थायी परस्पर-सहायक दलों का संगठन किया गया। हमें बतलाया गया कि भूमि-सुधार लागू कर देने के बाद जो स्थिति हो गई थी उसमें उपस्थित हुई समस्याओं का समाधान परस्पर-सहायक दलों के द्वारा ही हो सकता था। जमींदारों के फालतू अनाज, मकान, पशु और औजार जब्त करके गरीब किसानों में बांट देने से, चालू पूंजी का प्रबन्ध करने की समस्या का केवल आंशिक हल हो सकता था। इसका वास्तविक हल परस्पर-सहायक दलों के द्वारा ही किया जा सका। हमने बहुतेरा प्रयत्न किया कि हम किसी परस्पर-सहायक दल को काम करते देखें, परन्तु हमें जवाब दिया गया कि अब तो एक भी ऐसा दल शेष नहीं रहा, उन सब को उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाओं में परिणत किया जा चुका है। इस कारण हम काम करते हुए एक भी परस्पर-सहायक दल को नहीं

देख सके। ये दल जब विद्यमान थे तब इनकी कार्य-प्रणाली कुछ इस प्रकार थी। बिना-जमीन के या जमीन-वाले कुछ परिवार मिलकर, अपने श्रमद्वारा एक दूसरे की सहायता करने के लिए, एक परस्पर सहायक दल में संगठित हो जाते थे। दल के जिन सदस्य-परिवारों के पास फालतू पशु या औजार होते थे और जिन्हें उनकी चालू फसल में जरूरत नहीं होती थी, वे उन्हें दल को उधार दे देते थे। दल का प्रत्येक सदस्य पशुओं, औजारों अथवा अपने हाथ-पांव द्वारा जितना काम करता था, उतने के लिए उसे अंक दे दिए जाते थे। हाथ-पांव के, औजारों के, और पशुओं के काम के लिए, और काम के प्रकार और परिमाण के लिए भी, विभिन्न अंक मिलते थे। जिस किसी के खेत में जिस दिन परस्पर-सहायक-दल काम करता था, वह व्यक्ति उस दिन उन कागजों पर हस्ताक्षर कर देता था जिनमें प्रत्येक व्यक्ति के अंक, उसके काम के अनुसार लिखे रहते थे। फसल के पश्चात् पैदावार की बिक्री हो जाने पर, अंकों की परिचियों का हिसाब लगाया जाता था और प्रत्येक व्यक्ति को उसके कमाए हुए अंकों का मूल्य नकद या माल के रूप में दे दिया जाता था। हम जितनी भी सहकारिता-संस्थाओं में गए उन सब में हमें बतलाया गया कि मिल-जुलकर काम करने से खेती सुधर जाती थी, और इस प्रकार परस्पर-सहायक दल उत्पादन की वृद्धि करने में बहुत सहायक सिद्ध हुए थे। उनके द्वारा खेतों की जुताई अच्छी होती थी, पशुओं का उपयोग मितव्ययता से होता था, और जिन अच्छे औजारों का प्रयोग प्रत्येक किसान स्वयं नहीं कर सकता था उनका भी लाभ सब के लिए सुलभ हो जाता था। खास खास काम खास खास आदमी करते थे, और जो काम जल्दी करने की जरूरत होती थी उसे दल जल्दी कर देता था। इस प्रकार खेती का सब काम फुर्ती से और समय पर हो जाते थे। फल यह होता था कि पैदावार बढ़ जाती थी। परस्पर-सहायक दलों के कारण, माल की ढुलाई और सरकारी कामों के लिए श्रमिकों की संगठित उपलब्धि आदि अनेक सम्बद्ध सेवाओं का विकास भी, आप से आप हो गया।

कृषि-सहकारिता-संस्थाओं का विकास

२७. परस्पर-सहायक-दलों के कृषि-सहकारिता संस्थाओं में परिणत होने का क्रम कुछ मन्दा रहा। यह बात निम्न तारिका से प्रकट हो जाएगी :

	परस्पर सहायक दलों की संख्या (फसली और सालभर का, दाना)	सहकारिता-संस्थाओं की संख्या आरम्भक	उन्नत
१९५२	८०,२०,००० (३९.९%)	३,६३४ (०.१%)	१०
१९५३	७४,५०,००० (३९.३%)	१५,०५३ (०.३%)	१५
१९५४	९९,३०,००० (५८.४%)	१,१४,१६५ (१.९%)	२०१
१९५५ (वसन्त) . . .	(५०.७%)	६,३०,००० (१४.२%)	५२९
१९५५ (दिसम्बर) . . .	..	१९,००,०००* (६३%)	
१९५६ (जून) . . .	..	१०,००,०००* (९१.७%)	

कोष्ठों में दिए गए अंक बतलाते हैं कि कितने देहाती घर दल या संस्था में सम्मिलित हो गए थे।

*इन संस्थाओं में उन्नत सहकारिता संस्थाए भी सम्मिलित हैं, उनकी पृथक् गणना उपलब्ध नहीं थी।

प्रतीत होता है कि १९५३ में लोगों में सहकारिता से काम करने की प्रवृत्ति सुस्त पड़ गई थी, और १९५४ और १९५५ में पार्टी को यह प्रवृत्ति पुनः जागृति करने के लिए प्रयत्न करना पड़ा। कई स्थानों पर सहकारिता-संस्थाओं का काम इतना खराब था कि उन्हें तोड़ देना पड़ा। अन्य कई जगह उनका काम बन्द हो गया था। इन कारणों से पार्टी की राज्य-परिषद् और केन्द्रीय-समिति को अपने कार्यक्रम की पूर्ति में सावधानतापूर्वक और सोच-समझ कर आगे बढ़ने का रुख अपनाना पड़ा। १९५४ में राज्य-परिषद् ने आदेश दिया कि नई नई संस्थाएं बनाते और उनकी संख्या बढ़ाते जाने के स्थान पर अधिक ध्यान विद्यमान संस्थाओं को दृढ़ करने पर दिया जाए। बीच बीच में सहकारिता आन्दोलन को बढ़ावा देने के उपाय भी किए जाते थे। इतने पर भी १९५५ के मध्य में जाकर इस आन्दोलन में गतिरोध सा हो गया था। और पार्टी के नेताओं में आगे प्रगति और विकास करने की नीति पर मतभेद होता प्रतीत होने लगा था। तब राष्ट्रपति माउ ने दो महीने तक देहातों का दौरा करके स्वयं स्थिति का अध्ययन किया। उनका मत यह हुआ कि जनता तो आगे बढ़ने को तैयार है परन्तु नेता झिजक रहे हैं। उन्होंने सब काम झपाटे से सहकारिता के आधार पर करने की सिफारिश की, और अगले ६ महीनों में ही अर्थात् १९५५ के अन्त तक अधिकतर किसान सहकारिता-संस्थाओं में सम्मिलित हो गए।

२८. हमें बतलाया गया कि सहकारिता से कृषि करने के जो लाभ होते हैं, उनमें, फसलों का योजना-पूर्वक बोया जा सकना, जो जमीन जिस फसल के लायक हो उसमें उसी का बोया जाना, स्थायी सुधार के लिए व्यवस्था का अधिक सुगमता से हो सकना, श्रमिकों से अधिक भली प्रकार बांट कर काम लिया जा सकना, और खेती की हदबन्दी खतम हो जाने के कारण खेती की जमीन का बढ़ जाना आदि मुख्य हैं। परस्पर-सहायक दलों के स्थान पर सहकारिता संस्थाएं संगठित करने के लाभ भी हमें प्रायः यही बतालाए जाते थे। परस्पर-सहायक दलों की प्रणाली का एक बड़ा दोष यह था कि जमीन के मालिकों और दल के सदस्यों में बार-बार स्वार्थ-संघर्ष हो जाता था, विशेषतः जब काम थोड़े समय में करना पड़ता था।

उन्नत सहकारिता-संस्थाएं

२९. अगला कदम आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं को उन्नत सहकारिता-संस्थाओं में परिणत करने का था। यहां इन दोनों में अन्तर को समझ लेना चाहिए। आरम्भिक संस्था में लाभ का बंटवारा, श्रम और भूमि-स्वामित्व, दोनों के अनुसार होता है। पहले प्रत्येक सदस्य को जमीन की मालिकी का लाभ बांटा जाता है, वह उसे जमीन की पैदावार के एक निश्चित भाग के रूप में भी दिया जा सकता है और उत्पादन का व्यय घटाने के पश्चात् बचे हुए अंश के निश्चित अनुपात के रूप में भी। पैदावार का शेष भाग सब लोगों में उनके श्रम के अनुसार बांट दिया जाता है। इस प्रकार लाभ का बंटवारा, श्रम और भूमि के स्वामित्व दोनों के अनुसार होता है। उन्नत सहकारिता-संस्था में भूमि के स्वामित्व के कारण कोई लाभ नहीं मिलता, लाभ का वितरण केवल श्रम के अनुसार होता है। चीनियों ने हमें समझाया कि भूमि पर व्यक्तियों का स्वामित्व अभी तक माना जाने के कारण, आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं में, सम्मिलित प्रबन्ध के लाभ पूरी तरह नहीं मिल पाते। व्यक्ति भूमि का ऐसा सुधार नहीं होने देना चाहता जो सारी संस्था के लिए लाभदायक होते हुए भी, उसकी अपनी भूमि के विपरीत पड़ता हो। जब तक भूमि पर व्यक्तियों का स्वामित्व माना जाता रहेगा तब तक श्रम का फल उसी हिसाब से कम मिल सकेगा और फलतः उसे करने की प्रेरणा कम होगी। श्रम के लाभ की अपेक्षा भू-स्वामित्व का लाभ क्योंकि सदा कम दिया जाता था और भू-स्वामियों के विभिन्न वर्गों में अंतर भी क्योंकि थोड़ा ही रह गया था (यह अन्तर १ और २ के अनुपात से अधिक नहीं था), इसलिए आरम्भिक संस्थाओं को उन्नत संस्थाओं में परिणत करना विशेष कठिन नहीं पड़ा। जिस समय कृषि-सहकारिता संस्थाओं का यह परिवर्तन चल रहा था उस समय चीन में समाजवादी परिवर्तन की एक लहर सी आ गयी थी। उसका प्रभाव देश की अर्थ-व्यवस्था के अन्य भी कई क्षेत्रों पर पड़ा। बहुत से निजी कारबार सरकारी कारबारों में परिवर्तित हो गए। इससे उन्नत सहकारिता-संस्थाओं की उन्नति में भी बड़ी सहायता मिली।

सहकारिता-संस्थाएं क्यों बनीं ?

३०. यहां स्वभावतः प्रश्न होता है कि चीनियों ने कृषि-सहकारिता-संस्थाएं बनाने का निश्चय क्या सोच कर किया? उनका मुख्य विचार क्या यह था कि भूमि के निजी स्वामित्व की समाप्ति कर के समाजवाद की ओर प्रगति की जाए, और इस प्रकार किसान को नगर के श्रमिक के समान ऊंचा उठाकर श्रमिक-कृषक मैत्री को दृढ़ कर दिया जाए ? अथवा वे यह समझते थे कि जमीन के छोटे छोटे टुकड़ों में अलग-अलग खेती करना असम्भव है ? अथवा उन्होंने यह सोचा कि सहकारिता-संस्थाएं बना देने पर शासन का काम सुगम हो जाएगा, जमीन की करोड़ों इकाइयों के साथ भुगतने के स्थान पर केवल कुछ लाख से निबटना पड़ेगा, और इसके अतिरिक्त, उत्पादन में वृद्धि, अधिक रोजगार, स्थानीय बचत का अन्त और लोगों को भूमि-सुधार के लिए तैयार कर सकने आदि के लाभ तो होंगे ही ? इसका उत्तर यह है कि जहां तक बुद्धिशाली और विचारशील लोगों का सम्बन्ध है वहां तक तो यह सभी कुछ था, परन्तु उन्होंने कम्यूनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में जो आन्दोलन चलाया और प्रचार किया उसकी आदर्श-सम्बन्धी बातों से साधारण जनता भी इतनी प्रभावित हो गई कि उनके प्रयत्नों के फल बहुत शीघ्र निकल आये । साधारणतया तो यह बात प्रायः प्रत्येक सहकारिता-संस्था के सम्बन्ध में सत्य ठहरती है कि वह परस्पर-सहायक दल की स्थिति से बढ़ती-बढ़ती, आरम्भिक सहकारिता-संस्था की मंजिल से गुजर कर ही, उन्नत संस्था की अन्तिम स्थिति तक पहुंची, परन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि प्रत्येक स्थिति में वह इतनी देर तक रही कि किसान उसके लाभ भलीभांति समझ गए और अगला कदम उठाने की सोचने लगे । परस्पर-सहायक दलों वाली स्थिति केवल दो या तीन वर्ष तक रही थी, और १९५२ से १९५४ तक प्रायः पचास प्रतिशत किसान उनमें सम्मिलित हो गए थे । परन्तु आगे की मंजिलें बहुत जल्दी जल्दी तय होती चली गईं और कहीं कहीं तो वे सब एक ही फसली बरस में पार हो गईं । सहकारिता-संस्थाओं के विकास का अध्ययन करने से पता चलता है कि बहुत-से किसान मध्यवर्ती स्थितियों में से गुजरे बिना ही सीधे किसी आरम्भिक सहकारिता-संस्था के सदस्य बन गए थे, और जब आरम्भिक संस्था उससे उच्चतर संस्था में परिणत हुई तब प्रायः उसका विस्तार इतना अधिक हो गया कि आस-पास के सभी किसान, इस प्रकार के किसी भी भेद के बिना उसमें सम्मिलित हो गए कि वे स्वतन्त्र किसान थे, या परस्पर-सहायक दल या आरम्भिक सहकारिता-संस्था के सदस्य । जिस बात पर हम जोर देना चाहते हैं वह यह है कि अपनी आखिरी मंजिल में, सहकारिता-संस्थाओं का संगठन लोकप्रिय जन-आन्दोलनों अथवा बाढ के चढ़ाव के समान, इतने वेग से आगे बढ़ा कि मानो कि सारा देश किसी विचार से एकदम प्रभावित हो गया हो । इस आन्दोलन के आदर्श-सम्बन्धी पहलू का महत्व इसी कारण इतना अधिक है कि सहकारिता के जिन भौतिक लाभों की चर्चा हम ऊपर कर आए हैं उनके अतिरिक्त इसका एक बड़ा लाभ यह हुआ कि राष्ट्र के प्रधान प्रधान साधनों का वितरण न्यायपूर्वक समानता से हो गया, किसानों की विशाल संख्या को अवसरों से समान लाभ उठाने की सुविधा मिल गई और उनके लिए समृद्धि का एक नया मार्ग खुल गया ।

चौथा अध्याय

सहकारिता संस्थाओं का संगठन और प्रबन्ध

१. पिछले अध्याय में उत्पादकों की सहकारिता संस्थाओं के इतिहास और क्रमिक विकास की चर्चा हो चुकी है। इस अध्याय में हमारा विचार यह बतलाने का है कि चीनियों ने जो दस लाख सहकारिता-संस्थाएं बनाइ हैं, उनका संचालन, संगठन और प्रबन्ध वे किस प्रकार करते हैं। चीनी जन-तन्त्र के संविधान में, किसानों के अधिकारों के प्रकरण में, आठवें अनुच्छेद में कहा गया हैं :—

"भूमि और उत्पादन के अन्य साधनों पर किसानों के स्वामित्व के अधिकार की रक्षा सरकार करेगी। सरकार किसानों को व्यक्तिशः उत्पादन बढ़ाने का मार्ग बतलाएगी, उस पर चलने में उनकी सहायता करेगी, और उन्हें माल खरीदने, बेचने व ऋण लेने के लिये उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाएं संगठित करने को प्रोत्साहित करेगी।"

सहकारिता-संस्थाओं के विषय में, संविधान के सातवें अनुच्छेद में कहा गया है :—

"अर्थ-व्यवस्था का सहकारिता-विभाग दो प्रकार का होगा—समाजवादी और अर्धसमाजवादी। समाजवादी सहकारिता-संस्थाओं में तो श्रमिक जनता सम्पत्ति की स्वामी सामूहिक रूप से होगी, और अर्धसमाजवादी संस्थाओं में कुछ सामूहिक रूप से और कुछ व्यक्तिशः। श्रमिक जनता का अर्ध-सामूहिक स्वामित्व केवल परिवर्तन-काल में रहेगा, जिससे कि उतने समय में हरेक किसान, हरेक दस्तकार और श्रमिक-वर्ग का अन्य प्रत्येक व्यक्ति, श्रमिक जनता के भावी सामूहिक स्वामित्व के लिये अपने आपको तैयार तथा संगठित कर ले।

"सरकार सहकारिता-संस्थाओं की सम्पत्ति की तो रक्षा करेगी ही, अर्थ-व्यवस्था के सहकारिता-विभाग को विकसित करने के लिये प्रोत्साहन मार्ग प्रदर्शन और सहायता देने के कार्य भी करेगी। उसका विचार है कि व्यक्तियों की खेती और व्यक्तियों की दस्तकारी का रूपान्तर करने का सर्वोत्कृष्ठ साधन, उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाओं का संगठन करना है।"

कृषि-उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाएं संगठित करने की जिम्मेवारी प्रान्त, चुई (लगभग तहसील के समान शासन की इकाई) और शियांग (ग्राम-मण्डल) की सरकारों पर भी डाली गई है। इस प्रसंग में स्थानीय जन-कांग्रेसों के आधार-भूत कानून के अनुच्छेद २७ और २८ को उद्धृत कर देना उचित होगा :—

अनुच्छेद २७—"चुई के स्तर अथवा उससे ऊपर की जन-परिषदें, अपने अपने शासन-क्षेत्र में, निम्न कर्तव्यों का पालन और अधिकारों का प्रयोग करेंगी—

'खेती और दस्तकारी में उत्पादन का मार्ग प्रदर्शित करना और इन दोनों में परस्पर सहायता और सहकारिता का विकास करना।' "

अनुच्छेद २८—"शियांग और नगर, शियांग की जन-परिषदों के अधीन रह कर अपने अपने शासन-क्षेत्र में निम्न कर्तव्यों का पालन और अधिकारों का प्रयोग करेंगे —

'खेती और दस्तकारी में उत्पादन का मार्ग-प्रदर्शित करना और इन दोनों में तथा अन्य आर्थिक कार्यों में परस्पर-सहायता और सहकारिता का विकास करना।' "

शियांग, शासन की निम्नतम इकाई है और कुछ प्राकृतिक और शासनिक ग्रामों से मिलकर बनती है। चीन में लगभग २ लाख शियांग हैं। यों तो शियांगों का परिमाण विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न होता है, परन्तु औसत शियांग की आबादी लगभग २५०० होती है।

शासन का संगठन

२. राष्ट्रीय स्तर पर सहकारिता-संस्थाओं को टैकनिकल सलाह देने, मार्ग दिखलाने और अन्य प्रकार सहायता देने का काम, कृषि-मंत्रालय करता है। इस प्रयोजन के लिए उसका एक पथक् सहकारिता-कार्यालय है। उसके चार विभाग हैं :—

(१) सामान्य-समस्या-विभाग—इसका वास्ता व्यक्तियों के प्रशिक्षण, गणना और शिकायतों के साथ रहता है।

(२) हिसाब-किताब और बहि-खाता रखने का विभाग।

(३) श्रम-विभाग—यह मजदूरी देने की विधियों और श्रमिकों के संगठन का अध्ययन करने का —'काम के पैमाने' नियत करने का—काम करता है। (देखिये पैरा सं० ११)।

(४) उत्पादन-संचालन-विभाग—कृषि और पशुपालन की टेक्निकल समस्याएं हल करता है।

प्रान्तों की राजधानियों में भी कृषि-विभाग के कुछ कर्मचारी, उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाओं की सहायता करने के लिए रहते हैं। इसी प्रकार, चुइयों (लगभग तहसील के समकक्ष शासन की इकाइयों) में भी एक-सहकारिता-विभाग पृथक् होता है। ये सब विभाग एक दूसरे से सर्वथा असम्बद्ध नहीं रहते। इनकी सहायता, कृषि, पशु-पालन, वन और जल-रक्षा विभागों के विशेषज्ञ और टेक्निकल कर्मचारी भी, करते रहते हैं। वस्तुत: प्रान्तों और चुइयों की सरकारों का समस्त गठन मिलकर, सहकारिता-संस्थाओं का काम चलाने और उनकी कठिनाइयां हल करने का प्रयत्न करता रहता है। उदाहरणार्थ, लियाउनींग प्रान्त में सरकार नवीन कृषि-विधियों का प्रचार करने के २६० केन्द्र चला रही है। ४० थाने जल और भूमि की रक्षा के ५० केन्द्र पशुओं के कृत्रिम गर्भाधान के, २०० चिकित्सालय पशुओं की चिकित्सा के, १२ केन्द्र बीज-वितरण के और ४० नमूने के खेत बढ़िया बीज तैयार करने के लिये हैं। इनमें से प्रत्येक का, सहकारिता-संस्थाओं के साथ, या तो सीधा ही और या कृषि विधि-प्रचारक केन्द्रों की मारफत, निकट सम्पर्क रहता है।

३. प्रयोग केन्द्र खेती आदि के जो अनुसन्धान करते हैं उनके परिणामों की परीक्षा करने के लिये, वे अपने प्रतिनिधि सहकारिता-संस्थाओं में भेजते रहते हैं। कृषि-कालिज भी अपने विद्यार्थियों को, व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करने के लिए, १३ से २५ सप्ताह तक के लिए, कृषि उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाओं में भेजते रहते हैं। कृषि-उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाओं का प्रबन्ध करने और हिसाब-किताब रखने की विधियों के सम्बन्ध में, कृषि-कालिजों के उपाध्याय भी प्रयोग तथा अनुसन्धान करते रहते हैं। चुई और शियांग सरकारों का एक प्रधान कार्य, सहकारिताओं की कार्य-क्षमता में वृद्धि करना और उनकी कठिनाइयां हल करना भी है। इस लिये वे सहकारिताओं के प्रतिनिधियों को निमन्त्रित करती रहती और उनके साथ उन कठिनाइयों की चर्चा करती रहती हैं, जिनके कारण उत्पादन में बाधा पड़ती है।

रजिस्ट्री (पंजीकरण)

४. यद्यपि चीन में कृषि उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाओं की संख्या १० लाख क्रय तथा विक्रय करने वालियों की ३० हजार, ऋण देने वालियों की ११० हजार, और दस्तकार-सहकारिताओं की ११ लाख है, फिर भी वहां सहकारिता-संस्थाओं की रजिस्ट्री और संचालन करने के लिए कोई पृथक सहकारिता-संस्था-कानून नहीं है। १९५२ से १९५५ तक कृषि-सहकारिता-संस्थाएं चुई सरकार और कम्यूनिस्ट पार्टी की सहायता से अपने नियम आप ही बनाती रहीं।

इन तीन वर्षों में जो अनुभव हुआ उसका ध्यानपूर्वक अध्ययन करके, आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं के लिए नियमावली का एक नमूना तैयार किया गया। उसमें परिवर्तन, परिवर्धन और परिक्रमण की खासी गूंजायश रक्खी गई थी। राष्ट्रीय जन-कांग्रेस (चीन की संसद्) ने उस पर

विचार करके १७ मार्च १९५६ को उसे स्वीकृत कर लिया। समुन्नत सहकारिता-संस्थाओं के लिये भी संसद् ने ३० जून १९५६ को नियमावली का एक नमूना स्वीकृत कर लिया। अब सहकारिताएं अपने जो उपनियम बनाती हैं, वे नमूने की इन दोनों नियमावालियों के ही आधार पर बनाती हैं। भारत के 'रजिस्ट्रार ऑफ को आपरेटिव सोसायटीज़' जैसा कोई अधिकारी, चीन की प्रान्तिक सरकारों में नहीं होता। कृषि उत्पादक सहकारिताओं की रजिस्ट्री चूई सरकार में होती है, परन्तु चीनी लोग इसे एक निरा ज़ाब्ता समझते हैं, वे इसे अधिक महत्व की कार्रवाई नहीं मानते। फिर भी रजिस्ट्री का यह लाभ तो होता ही है कि सरकार सहकारिताओं से संख्या सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार की जानकारी एकत्र कर सकती है, और सहकारिताओं को कृषि-बैंक, चुई-सरकार, ऋण-दाता संस्था और क्रय-विक्रय संस्था आदि से आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता प्राप्त करने का अधिकार हो जाता है।

सदस्यता

५. नमूने की नियमावली में लिखा है कि जो किसान सहकारिताओं के सदस्य न हों उनके साथ बर्ताव करते हुए सहकारिताओं को किसी भी प्रकार के दबाव से काम नहीं लेना चाहिए, प्रत्युत उन्हें समझाना-बुझाना और उनके सामने ऐसा उदाहरण उपस्थित करना चाहिये कि वे यह अनुभव कर लें कि सहकारिता-संस्था का सदस्य बनने से उन्हें हानि के स्थान पर लाभ ही अधिक होगा। १६ वर्ष का हो जाने पर प्रत्येक किसान—स्त्री हो चाहे पुरुष—सहकारिता-संस्था का सदस्य बन सकता है। जो बूढ़े, निर्बल, अनाथ या विधवा हों वे भी यदि सहायक काम कर सकें तो सहकारिता में खपाए जा सकते हैं। आरम्भिक सहकारिता-संस्थाएं आरम्भ में भूत-पूर्व जमींदारी अथवा सम्पन्न किसानों को सदस्य नहीं बनातीं, परन्तु सहकारिता-संस्था के अच्छी तरह जम जाने पर और शियांग तथा चुई के तीन-चौथाई किसानों के उसका सदस्य बन चुकने पर, उक्त दोनों वर्गों के व्यक्तियों को भी सदस्य बनाया जा सकता है। उन्नत सहकारिताओं में, भूतपूर्व जमींदारों, सम्पन्न किसानों और क्रान्ति-विरोधियों को, नियमित सदस्य के स्थान पर उम्मीदवार सदस्य बनाने की परम्परा आरम्भ की गई है। उम्मीदवार सदस्यों को, अन्य सब अधिकार तो साधारण सदस्यों के समान ही होते हैं, परन्तु उन्हें प्रबन्धकारिणी समिति अथवा निरीक्षक समिति का सदस्य नहीं चुना जा सकता। उक्त तीनों वर्गों के जो व्यक्ति उम्मीदवार-सदस्य तक नहीं बनाए जा सकते उन्हें भी सहकारिता के काम में इस आशा से भाग लेने दिया जाता है कि वे सुधर कर, समाज के उपयोगी और कर्म सदस्य बन जायेंगे। लियाउनींग प्रान्त की वुसान साग-सब्जी-सहकारिता में हमने २६ उम्मीदवार-सदस्य देखे थे। उनके अतिरिक्त ७ सदस्य अपना सुधार कर रहे थे।

६. कृषि-उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाएं संगठित करने का प्रयोजन यह है कि जिस ज़मीन को पहले अकेले-अकेले किसान जोत रहे थे उसे इकट्ठा करके, उसमें योजना-तथा-मितव्ययता-पूर्वक खेती की जा सके। परन्तु सहकारिताएं अपने सदस्यों के पास, ज़मीन के छोटे-छोटे टुकड़े, निजी खेती करने के लिए भी, रहने देती हैं। इन टुकड़ों का नाप यह देखकर तय किया जाता है कि परिवार में सब कितने आदमी हैं और कितनी ज़मीन बांटने के लिये उपलब्ध है। परन्तु सब मिलाकर, गांव की औसत ज़मीन के ५ प्रतिशत से अधिक ज़मीन सदस्यों के पास नहीं रहने दी जाती। लियाउनींग प्रान्त में इन टुकड़ों का नाप लगभग १२० से १५० वर्ग-गज़ तक है।

भूमि का लाभांश

७. आरम्भिक सहकारिता संस्थाओं में, संस्था के सदस्य अपनी भूमि के स्वामी स्वयं रह सकते हैं, और संस्था उन्हें उनकी भूमि के परिमाण और प्रकार के अनुसार, एक उपयुक्त राशि भूमि के किराए अथवा लाभांश के रूप में देती रहती है। भूमि का लाभांश निश्चित करते हुए मुख्य विचार यह रक्खा जाता है कि सहकारिता के सदस्यों को आय प्रधानतया अपने श्रम के कारण होनी चाहिए, केवल भूमि के स्वामित्व के कारण नहीं। इस कारण, भूमि के लाभांश के रूप में वितरित राशि का परिमाण, श्रमिकों के पारिश्रमिक के रूप में वितरित राशि के परिमाण से, कम रहना चाहिये, अधिक नहीं। यह नियम इसलिये रखा गया है कि सदस्यों को सहकारिता के काम में सक्रिय भाग लेते रहने

के लिए उत्साह होता रहे। इसके अतिरिक्त, सहकारिता-संस्था की आरम्भिक अवस्था में भूमिका लाभांश अति न्यून भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि लाभांश उचित दिया जाएगा तो अच्छी अथवा बड़ी भूमियों के स्वामी भी सहकारिता का सदस्य बनने के लिये आकृष्ट होंगे। इससे उन सदस्यों को भी उचित आय हो जाएगी जो भूमि के स्वामी तो हैं, परन्तु श्रमिकों की कमी के कारण उसका पूरा लाभ नहीं उठा सकते।

८. लाभांश का निर्णय सहकारिता-संस्था परस्पर वाद-विवाद के पश्चात् करती है। इसका रूप साधारणतया यह रहता है कि लाभ १९५२ में समाप्त हुए तीन वर्षों की औसत आय का इतने प्रतिशत है। इस प्रकार, लाभांश को एक स्तर पर स्थिर कर दिया जाता है। साथ ही, लाभांश को बार बार बदलने या घटाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित नहीं किया जाता, इससे भूमि के स्वमियोंको कुछ समय तक आय की एक नियत राशि मिलते रहने का निश्चय हो जाता है और उन्हें अनिश्चय की अवस्था में नहीं रहना पड़ता। अतिरिक्त उपज के कारण जो अतिरिक्त आय होती है उसका उपयोग प्रायः श्रमिकों को श्रम का पुरस्कार देने और सुरक्षित तथा सम्मिलित सम्पत्ति की वृद्धि करने में किया जाता है। लियाउनींग प्रान्त की सहकारिताओं ने औसत आय का ३० प्रतिशत भूमि के लाभांश के रूप में बांटा था। ज़ेचुआन प्रान्त में इस लाभांश का परिमाण ४५ प्रतिशत, और शांगहाई के उपनगरों में कपास की खेती में ४० प्रतिशत तथा साग-सब्जी की खेती में ३० प्रतिशत था। सरकार को ज़मीन की जो मालगुजारी (चीन में इसे कृषि-कर कहते हैं) देनी पड़ती है उसकी जिम्मेवारी भूमि के मालिक पर रहती है। यह औसत उपज का १५ से २३ प्रतिशत तक होती है। इस प्रकार, मालगुजारी चुकाने के पश्चात्, भूमि का शुद्ध लाभांश, समस्त उपज का १० से २५ प्रतिशत तक रह जाता है। ज्यों ज्यों उपज बढ़ती जाती है त्यों त्यों इस प्रतिशत में कमी होती जाती है।

९. नमूने की नियमावली में यह भी लिखा है कि जिन प्रदेशों में खेती की भूमि अति दुर्लभ हो और इस कारण जहां ज़मीन पर आबादी का दबाव भारी हो, वहां सहकारिता-संस्थाएं भूमि का लाभांश ५० प्रतिशत तक बांट सकती हैं, शेष ५० प्रतिशत को वे खेती की मज़दूरी करने वालों में बांट देंगी। इस अनुपात पर अमल करना हो तो पहले प्रान्तिक सरकार की अनुमति लेनी पड़ती है। जिन प्रदेशों में उपज बहुत घटती-बढ़ती रहती है उनमें समस्त उत्पादन का एक निश्चित प्रतिशत भूमि के लाभांश के रूप में दिया जा सकता है। सदस्यों की जिस पड़ती भूमि को, सहकारिता-संस्था ने, उनकी अनुमति से तोड़ कर खेती के योग्य बनाया हो, उस पर आरम्भ के दो तीन वर्ष तक कोई, लाभांश नहीं दिया जाता। परन्तु यदि पड़ती भूमि, सहकारिता-संस्था संगठित होने से पहले ही परस्पर-सहायक बलों द्वारा खेती के योग्य बनाई जा चुकी हो, तो उन दलों के जो सदस्य सहकारिताओं में सम्मिलित नहीं होते उनकी उचित क्षति-पूर्ति कर दी जाती है। सदस्यों के स्वामित्व की भूमि में कुएं, तालाब, नालियां और बांध आदि सिंचाई के जो साधन होते हैं उन्हें भी सहकारिता-संस्थाएं प्रायः भूमि के साथ ही ले लेती हैं। यदि ये साधन भूमि पर बहुत समय से विद्यमान हों और इनके कारण हुई अधिक उपज भूमि के ऊंचे लाभांश द्वारा भी प्रकट होती हों तो सहकारिता-संस्थाएं इनके मालिकों को कोई विशेष क्षति-पूर्ति नहीं देतीं। इसके विपरीत, यदि सहकारिता-संस्था इन साधनों का उपयोग अतिरिक्त भूमि की सिंचाई के लिये करे तो मालिक को मुनासिब मुआवजा दे दिया जाता है, परन्तु वह तीन से पांच वर्ष तक की अवधि में किश्तों में बांट कर दिया जाता है।

उत्पादन के अन्य साधनों का एकत्रीकरण

१० भूमि के अतिरिक्त, उत्पादन के अन्य भी जो साधन सदस्यों के पास होते हैं उन्हें, सहकारिता-मय प्रबन्ध के लाभ उठाने के लिये, एकत्र कर लिया जाता है। इनमें घोड़े, खच्चर, गधे तथा बैल आदि पशु और हल रहट, हवाई चक्की, पम्प तथा गाड़ियां आदि खेती के बड़े औजार शामिल हैं। दरात और खुरपे आदि छोटे औजारों पर सहकारिता-संस्थाएं अधिकार नहीं करतीं। इन्हें सदस्य स्वयं रखते और इनकी मरम्मत भी स्वयं ही करते या करवाते हैं। पशुओं, बड़े औजारों और ढुलाई के बड़े साधनों को सहकारिता-संस्था स्थानीय मूल्य पर खरीद लेती है, परन्तु मूल्य ३ से ५ तक किश्तों में चुकाती है। किश्तों पर सूद के प्रश्न का निर्णय, सहकारिता-संस्था मालिक के साथ

बातचीत करके कर लेती है। परन्तु पशुओं और बड़े औजारों का मूल्य निश्चित करना सरल नहीं होता। कभी कभी सहकारिता-संस्थाओं के पुरस्कर्ता अथवा संगठन-कर्ता उनका मूल्य इतना कम लगाते हैं कि उससे बहुत असन्तोष फैल जाता है, यहां तक कि पशुओं की उपेक्षा की जाने लगती है और उन्हें मार तक डाला जाता है। इसलिये, सदस्यों में एकता रखने की दृष्टि से उचित मूल्य लगाना और मुनासिब मुआवजा देना, अति महत्वपूर्ण काम माने जाते हैं। बाग, चाय के खेत और शहतूत के पेड़ आदि जिन सम्पत्तियों को ठीक अवस्था में रखने के लिए नियमित काम करना आवश्यक होता है उसे सहकारिता-संस्थाएं उचित मूल्य देकर लेती हैं। चीड़ और दयार आदि जिन वृक्षों से शहतीर तैयार होते हैं और जिनकी सार-सम्भाल के लिये बहुत श्रम नहीं करना पड़ता अथवा जिनसे लाभ अपेक्षाकृत अधिक होता है उनके जंगलों को भी सहकारिता-संस्थाएं अपनी सम्पत्ति में सम्मिलित कर लेती हैं, और उनका प्रबन्ध करने से सहकारिता को जो आय होती है उसे वे अपना व्यय काट कर उनके मालिकों को दे देती हैं। नए लगाए हुये पौधों के मालिक यदि यह मान जाए कि हम इनका मूल्य इनके द्वारा होने वाली आय में से ले लेंगे तो सहकारिता संस्थाएं उन्हें भी अपनी सम्पत्ति में सम्मिलित कर लेती हैं।

मूल्यांकन की विधि—'काम के पैमाने'

११. सहकारिता-संस्थाओं का संगठन हो चुकने के पश्चात् उन्हें दो कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है। पहली तो यह कि खेती के तथा दूसरे कामों का मूल्यांकन किस प्रकार किया जाए और दूसरी यह कि प्रत्येक काम का उचित पारिश्रमिक कैसे दिया जाए। कार्य की कुशलता और कार्यकर्ताओं की योग्यता में अन्तर होता ही है और इसलिये उसका ध्यान रखना ही पड़ता है। पारिश्रमिक देने की कोई उपयुक्त पद्धति न हो तो योग्य और अयोग्य कार्यकर्ताओं की पारस्परिक ईर्ष्या के कारण अच्छी भली संस्था भी नष्ट हो सकती है। चीनी लोगों ने महत्व के सब कामों का मूल्यांकन करने के लिए बहुत-से पैमाने निश्चित करके, इन कठिनाइयों को बहुत-कुछ कम कर लिया है। ये पैमाने निश्चित करते हुए, काम करने वाले की सामर्थ्य, उसकी योग्यता, जमीन की किस्म तथा नाप, उसके पशुओं, औजारों, ऋतु की अवस्थाओं, काम के घटिया अथवा बढ़ियापन और उसके परिमाण आदि अनेक बातों का ध्यान रक्खा जाता है। लियाउनींग प्रान्त में हम ने जो सहकारिता संस्थाएं देखीं उन सब के काम के पैमाने अपने अपने और अलग अलग थे। हमें बतलाया गया था कि सहकारिता-संस्था, पहले कुछेक अच्छे किसान समझे जाने वाले कार्यकर्ताओं को चुनकर, उनसे "काम के पैमाने" नियत करने को कहती है। उनके सुझावों पर कार्यकारिणी-समिति विचार करती है, परन्तु अन्तिम कोई निर्णय करने से पहले उन्हें, असली खेती की परिस्थितियों में परखकर देखा जाता है कि सुझाए गए पैमाने खरे और व्यवहार्य भी हैं या नहीं। यह परीक्षा इस प्रकार की जाती है कि किसी औसत कार्यकर्ता को कोई खास काम करने के लिए कहा जाता है, और यदि वह उस काम को नियत समय के भीतर कर लेता है तो सुझाया हुआ पैमाना ठीक माना जाता और अपना लिया जाता है।

१२. इन पैमानों के कुछ उदाहरण दे देना मनोरंजक रहेगा। कियांगसू प्रान्त में लिएन-मीन सहकारिता-संस्था को तिल बोने के लिए जमीन तैयार करानी थी। पहली जुताई ५ इंच गहरी करवाई गई और उसका "पैमाना" एक एकड़ रक्खा गया। दूसरी जुताई ४ इंच गहरी करनी थी और उसका पैमाना १-१/३ एकड़ रक्खा गया। इसके अतिरिक्त एक शर्त यह रक्खी गई कि यदि हल-वाहा पहली जुताई बड़े बैल से करेगा तो उसे १ एकड़ के स्थान पर १-१/६ एकड़ जोतना पड़ेगा, और यदि वह जुताई छोटे बैल से करेगा तो उसका काम दो-तिहाई एकड़ जोत लेने पर ही पूरा हुआ मान लिया जाएगा। जिन खेतों से धान की दो फसलें ली जाती थीं उनके लिए निम्नलिखित "पैमाने" नियत किए गए थे :—

जुताई—यदि हल दो फालों का और ४ इंच गहरी जुताई करने वाला हो तो ३ मउ (लगभग आधा एकड़);

पौध को स्थानान्तरित करना—१/६ एकड़ अथवा १ मउ;

धान उठा कर ले जाना—२/५ एकड़।

इसी प्रकार, खाद की ढुलाई करने, फसल काटने और खेती के अन्य कामों के लिए भी काम के पैमाने नियत कर दिए गए हैं। प्रत्येक महत्व की फसल के लिये काम के पैमाने पृथक् पृथक नियत किए जाते हैं। इस कारण सहकारिता-संस्थाओं में "काम के पैमानों" की संख्या सैकड़ों तक पहुंच जाती है। वूसान (लियाउनिंग प्रान्त) में साग-सब्जी का रोज़गार करने वाली एक सहकारिता-संस्था ४० सब्ज़ियों की खेती करती थी, उसके "काम के पैमाने" लगभग एक हज़ार थे। काम का मूल्यांकन करने और उसका पारिश्रमिक चुकाने में सुविधा के लिए, "काम के पैमानों" को भी वर्गों में बांट दिया जाता है, और इन वर्गों का निश्चय करते हुए काम के प्रकार और ऋतु की अवस्था आदि का ध्यान रक्खा जाता है। लिएनमीन संस्था में हमने निम्नलिखित वर्ग देखें थे :—

वर्ग	पारिश्रमिक का दर	वर्गीकरण का आधार
१	मज़दूरी की १२ इकाइयां अथवा १·२ श्रम-दिवस।	कार्य की भीड़ के दिनों में किया हुआ कुशलता का अथवा भारी काम अथवा ऐसा काम जो उत्पादन के लिए महत्वपूर्ण हो।
२	मज़दूरी की ११ इकाइयां अथवा १·१ श्रम-दिवस।	कार्य की अधिकता के दिनों में किया हुआ अर्ध-कुशलता का अथवा भारी काम।
३	मज़दूरी की १० इकाइयां अथवा १·० श्रम-दिवस।	कार्य की ढ़ील के दिनों में किया हुआ कुशलता का अथवा भारी काम अथवा कार्य की भीड़ के दिनों में किया हुआ साधारण काम।
४	मज़दूरी की ९ इकाइयां अथवा ०·९ श्रम-दिवस।	काम की ढील के दिनों में किया हुआ साधारण काम अथवा काम की भीड़ के दिनों में किया हुआ हल्का काम।
५	मज़दूरी की ८ इकाइयां अथवा ०·८ श्रम-दिवस।	काम की ढील के दिनों में किया हुआ हल्का काम।

साधारण श्रम-दिवस को १० इकाइयों में विभक्त कर दिया जाता है, और यह मानकर चला जाता है कि संस्था का जो सदस्य दिन में १० घंटे काम करेगा वह प्रति-घंटा मज़दूरीकी एक इकाई के हिसाब से कमाई कर लेगा। बीज बोना कुशलता का काम समझा जाता और उसे वर्ग १ में रक्खा जाता है। बीज बोने की तुलना में हल वाहना वर्ग ३ का काम है। इसलिये जो आदमी बीज बोने का काम करेगा वह हल वाहने वाले की अपेक्षा २० प्रतिशत अधिक कमाई कर लेगा। इसी प्रकार, पौध को स्थानान्तरित करने वाले को भी अतिरिक्त पारिश्रमिक मिलता है। इसके विपरीत, नलाई करना काम की भीड़ के दिनों में भी हल्का काम माना जाता है और उसे वर्ग ४ में रक्खा गया है, फलत: नलाई करने वाले की मजदूरी, बीज बोने वाले की मज़दूरी का ७५ प्रतिशत ही बैठती है। नियत पैमाने से अधिक काम कर लेने वाले को यथोचित पुरस्कार दिया जाता है। उदाहरणार्थ हल चलाने का "पैमाना" एक दिन में १ १/३ एकड़ है, अब यदि कोई व्यक्ति दिन भर में १ २/३ एकड़ जोत ले और उसका काम सन्तोषजनक हो तो उसे मज़दूरी की अतिरिक्त इकाइयों का अधिकारी ठहराया जाएगा और उसे पारिश्रमिक तदनुसार ही दिया जाएगा।

१३. साधारणतया किसान सूरज-निकले से सूरज-छिपे तक काम करते हैं। जाड़ों में दिन कुछ छोटा हो जाता है, विशेषतः लियाउनींग प्रान्त में। दूसरी ओर, गरमियों में दिन बढ़ जाता है। इस कारण, जाड़ों में कोई भी मजदूर गरमियों की अपेक्षा थोड़ी खाद एकत्र कर सकता है। इसलिये जाड़ों में खाद इकट्ठी करने का "पैमाना" उसी हिसाब से बदल दिया जाता है और उन दिनों श्रमिकों को गरमियों के पारिश्रमिक का ७० प्रतिशत ही मिलता है। चीनी सहकारिता-संस्थाओं का अनुभव है कि जुआर के खेत में घास-फूस सोयाबीन के खेत की अपेक्षा अधिक पैदा होता है। इसलिये, "नलाई का पैमाना" नियत करते हुए जुआर के खेत का क्षेत्रफल छोटा और सोयाबीन के खेत का बड़ा रक्खा गया है। कभी कभी एक ही फसल के लिए नियत "पैमाना" भी, परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण, परिवर्तित कर देना पड़ता है। यदि बरसात बहुत होगी तो खेत में घास-फूल बहुत पैदा होने की सम्भावना रहेगी, और तब साधारण बरसात के आधार पर नियत किए गए पैमाने को बदल देना पड़ेगा। पशुओं की किस्म के कारण भी काम के परिमाण में अन्तर पड़ जाता है। लियाउनिंग प्रान्त में खेती के लिए घोड़ों, खच्चरों और गधों का प्रयोग किया जाता है। इसलिये विभिन्न पशुओं की विभिन्न सामर्थ्य का विचार करके उन द्वारा किए हुए काम के पैमाने भी विभिन्न रक्खे गए हैं। निम्न उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी :—

काम	पशु	काम का पैमाना
लोहे की एक फाली वाले हल से ज़मीन वाहना।	घोड़ा—बढ़िया पशु . .	१ एकड़
लोहे की एक फाली वाले हल से ज़मीन वाहना।	खच्चर—बीच का पशु .	७/८ एकड़
लोहे की एक फाली वाले हल से ज़मीन वाहना।	गधा—घटिया पशु . .	३।४ एकड़

"काम का पैमाना" नियत करते हुये यह ध्यान भी रखना पड़ता है कि वह न तो बहुत नीचा हो और न बहुत ऊंचा। वरना, बहुत नीचा होने पर तो प्रायः सभी सदस्य बिना किसी विशेष परिश्रम के उससे आगे बढ़ जाया करेंगे, और बहुत ऊंचा होने पर कोई भी उस तक नहीं पहुंच सकेगा। आरम्भ आरम्भ में यदि सहकारिता-संस्था काम के पैमाने निश्चित न कर पावे तो मजदूरियां एक नियत दर से दे दी जाती हैं, परन्तु काम का मूल्यांकन ऊपर बतलाई हुई परिस्थितियों के अनुसार घटा-बढ़ाकर किया जाता है। जब ऐसा करना पड़ता है तब प्रत्येक सदस्य की कार्य-कुशलता और कार्य-सामर्थ्य के अनुसार उसके लिए मजदूरी की इकाइयों की एक संख्या नियत कर दी जाती है। परन्तु पारिश्रमिक देते हुए यह भी ध्यान रक्खा जाता है कि काम वस्तुतः कितना हुआ। व्यवहार में यह पद्धति सफल सिद्ध नहीं हुई, क्योंकि इसमें वस्तुतः किए हुये काम का मूल्यांकन ठीक ठीक नहीं हो पाता और व्यय अनावश्यक रूप से बढ़ जाता है। इसलिए सहकारिता-संस्थाएं यत्न यही करती हैं कि 'काम के पैमाने' यथाशीघ्र निश्चित कर लें। हमने जो १६ सहकारिता-संस्थाएं देखीं उनमें से केवल एक ऐसी थी जो तब तक अपने "काम के पैमाने" तय नहीं कर पाई थी, और एक के "पैमाने" त्रुटिपूर्ण थे।

कार्य का वितरण—दल और टोलियां

१४. एक और कठिन काम सदस्यों में कार्य के वितरण और उनके कामका ठीक ठीक हिसाब लगाने का है। चीनी सहकारिताएं, अपना सारा समय निरीक्षण करने में ही लगाने वाले पृथक निरीक्षक नहीं रखतीं, क्योंकि एक तो निरीक्षण और शारीरिक श्रम के कामों को पृथक कर देने

से व्यय बहुत होता है, और दूसरे वैसा करना समाजवाद विरोध भी है। चीनियों ने श्रम-विभाजन की एक नई प्रणाली चलाई है, और वे धीरे धीरे उत्पादन का उत्तरदायित्व व्यक्तियों के स्थान पर टोलियों पर डालने की परम्परा का सूत्रपात कर रहे हैं। प्रत्येक सहकारिता अपने सदस्यों को उत्पादक-दलों में विभक्त कर देती है, और ये दल ही श्रम-संगठन की आधारभूत इकाई का काम देते हैं। यदि आवश्यकता हो तो इन उत्पादक-दलों को भी कई छोटी-छोटी उत्पादक-टोलियों में बांट दिया जाता है। वैसा करने के दो लाभ होते हैं। एक तो वे काम को समझ अधिक अच्छी प्रकार लेती हैं और दूसरे उनका निरीक्षण अधिक सुगमता-पूर्वक किया जा सकता है। दल के नेता की नियुक्ति यद्यपि दल के सदस्यों की सलाह से कार्यकारिणी-समिति करती है, परन्तु दल के काम के लिये उत्तरदायी वही होता है। टोली के नेता का चुनाव, टोली के सदस्यों की सलाह से, दल का नेता करता है। यद्यपि आरम्भ में दलों का संगठन कोई विशेष काम करने अथवा केवल एक मौसम के लिये किया जाता था, परन्तु अब वे स्थायी रूप से संगठित कर दिए जाते हैं। स्थायी दलों को खेती के लिए एक क्षेत्र सपुर्द करके आवश्यक पशु और औजार दे दिए जाते हैं, उन पशुओं आदि की सार-सम्भाल करने, उत्पादन का कार्यक्रम बनाने तथा उसे सन्तोषजनक रीति से पूरा करने आदि के सब काम वह दल स्वयं करता है, और इस प्रकार उस क्षेत्र में अच्छा उत्पादन करके दिखलाने के लिये उत्तरदायी भी वही हो जाता है। दल के सब सदस्यों में ठीक प्रकार कार्य का विभाजन हो गया या नहीं, और बूढ़ों, निर्बलों और अपाहिजों को भी स्वयं श्रम करके कुछ कमाने का अवसर मिला या नहीं, यह देखने का काम दल के नेता का है। दिन समाप्त होने पर दल या टोली का नेता, प्रत्येक सदस्य के काम का हिसाब लगाकर, नियत पैमाने के अनुसार, उसकी मज़दूरी की इकाइयों का लेखा "तैयार कर देता है। यदि "काम के पैमाने" निश्चित न किए जा चुके हों तो मज़दूरों की इकाइयों का निर्णय परस्पर विचार के द्वारा किया जाता है और वैसा करते हुये काम के प्रकार और परिमाण का भी ध्यान रक्खा जाता है।

१५. दल के नेता या उपनेता को भी, खेती के काम की नियत न्यूनतम मात्रा, स्वयं करनी पड़ती है। परन्तु वह जो समय अन्य सदस्यों के काम का निरीक्षण करने में लगाता है उसके लिए उसे मज़दूरी की अतिरिक्त इकाइयां दे दी जाती हैं। उदाहरणार्थ, वूसान की सहकारिता में वर्ष में औसतन २१० दिन काम होता था, इनमें से कम से कम १४०दिन दल के नेता को स्वयं भी काम करना पड़ता था। ७० दिन की अथवा सारे समय के एक-तिहाई की मज़दूरी उसे निरीक्षण करने के परिश्रमिक के रूप में अतिरिक्त दी जाती थी।

दलों के सदस्यों का चुनाव

१६. यद्यपि इसके लिए कोई लगे-बन्धे नियम नहीं हैं, तथापि दलों का संगठन साधारणतया इस प्रकार किया जाता है कि वे सब, श्रम करने की सामर्थ्य, सदस्यों की कार्य-कुशलता और नेताओं की योग्यता की दृष्टि से, लगभग बराबर रहें और वे नियमपूर्वक काम में लगे रहें। सदस्यों को दलों में बांटते हुए यह ध्यान भी रक्खा जाता है कि उनके घर और काम के स्थान की दूरी बहुत अधिक न हो। यदि अन्य सब बातें बराबर हों तो सदस्यों को अपना दल बदल लेने की छूट मिल जाती है। उदाहरणार्थ, वसान की साग-सब्जी सहकारिता के सब सदस्य ४९८ थे और वे लगभग १००–१०० सदस्यों के पांच दलों में बंटे हुए थे। प्रत्येक दल भी २०–२०, २५–२५ व्यक्तियों की टोलियों में विभक्त कर दिया गया था। एक और सहकारिता "सुख-मार्ग" की सदस्य-संख्या ९८५ घर थी। उन सबको विभिन्न सदस्य-संख्या के १७ दलों में बांटा हुआ था, परन्तु प्रत्येक दल में एक नेता और एक उपनेत्री अवश्य थे। औसत दल की सदस्य-संख्या तो ६० से ६७ तक घरों की थी, परन्तु बड़े दलों में ९२ तक घर थे। सबसे छोटे दल में केवल २३ घर थे। यह अ-समान विभाजन कई कारणों से करना पड़ा था। एक तो यह सहकारिता-संस्था बहुत बड़ी थी, दूसरे इसे १९ ग्रामों की १६ आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं को मिलाकर बनाया गया था, और तीसरे कार्य-कर्ताओं के घरों तथा काम के स्थानों की दूरी का ध्यान रखना पड़ा था। इस प्रकार के कई कारणों से प्रायः एक घर के सब व्यक्तियों को एक ही दल में रक्खा जाता है। एक तीसरी संस्था "मित्र-सहकारिता" के सदस्यों की संख्या १६४७ थी, वह १२ दलों और ३६ टोलियों में बंटी हुई थी।

सात दल फलों की तथा तीन अनाज की खेती का एक पशु-पालन का और बारहवां दल अन्य सम्बद्ध व्यवसायों का काम करते थे। इन दलों की सदस्य-संख्या १२० से २५० तक और टोलियों की १५ से २० तक थी। "सुख-मार्ग" सहकारिता के दल तो स्त्री और पुरुष दोनों को मिलाकर बनाये गये थे, परन्तु "मित्र-सहकारिता" में १४ दल केवल स्त्रियों ही स्त्रियों के थे। कियांगसू प्रान्त की लिएनमीन सहकारिता ने, अपने सदस्यों को दलों और टोलियों में न बांटकर, ५०–५० सदस्यों की २७ समान इकाइयां बना देना पसन्द किया था।

कार्य के वितरण द्वारा परिणाम की 'गारण्टी'

१७. चीन की सहकारिता-संस्थाएं, कामके वितरण और निश्चित उत्तरदायित्व में मेल मिलाने का यत्न कर रही हैं। वे इस प्रणाली को लम्बी मियाद का ठेका कहती हैं। इसके अनुसार, प्रत्येक उत्पादक दल अपनी सहकारिता को गारण्टी दे देता है कि वह प्रति एकड़ में इतना उत्पादन अवश्य करके दिखलायगा। दूसरी ओर, सहकारिता की प्रबन्धक-समिति जिम्मा लेती है कि वह उत्पादन के साधन टूटने नहीं देगी। पदावार की गारण्टी करते समय ही, दल उसकी पूर्ति के लिये आवश्यक व्यय और श्रमिकों की संख्या का अन्दाजा लगा लेता है। जो दल उत्पादन की नियत मात्रा से आगे बढ़ जाते हैं उन्हें, काम के अतिरिक्त दिनों के रूप में यथोचित पारितोषिक दिया जाता है। और जो दल अपने कुप्रबन्ध के कारण नियत मात्रा के ९० प्रतिशत से भी कम उत्पादन कर पाते हैं, उन्हें उनकी सब परिस्थितियों पर विचार करने के पश्चात्, उनके काम के दिन घटा देने के रूप में दण्डित किया जाता है। यदि दलों को पहले से अकल्पित किसी भारी प्राकृतिक आपत्ति का सामना करना पड़ जाये तो, उसके कारण हुई हानि का विचार करके उत्पादन की नियत मात्रा में कमी कर दी जाती है। लम्वी मियाद के ठेके की प्रणाली में, दल के बजट (आय-व्यय के अन्दाज-पत्रक) में, गाड़ियों और औजारों आदि की मरम्मत तथा बदली के लिए भी, उपयुक्त राशि सम्मिलित कर दी जाती है। पशुओं के पालन और दवा-दारू के लिये भी एक निश्चित राशि रक्खी जाती है। "सुख-मार्ग" सहकारिता में हमने देखा था कि इस खाते में १० रु० प्रति गधे के हिसाब से व्यय स्वीकृत किया गया था। जो व्यक्ति १० रु० से भी कम व्यय करके गधे को अधिक भली प्रकार रखता था उसे बचाई हुई राशि का बड़ा भाग अपने ही पास रख लेने दिया जाता था। टोली का नेता प्रत्येक व्यक्ति द्वारा कमाई हुई काम की इकाइयों का हिसाब रखता है और उसे नियमित हिसाब रखने वाले मुनीम के पास भेजता रहता है। सहकारिता इस हिसाब के आधार पर ही, कार्यकर्ता-सदस्यों को अनाज अथवा नकद के रूप में पेशगी देती है, जिससे कि उन्हें निर्वाह की कठिनाई का सामना न करना पड़े। अन्तिम हिसाब हरेक फसल के अन्त में किया जाता है।

अच्छा काम करने के लिये बढावा

१८. लम्बी मियाद के ठेके की प्रणाली के अतिरिक्त, जो व्यक्ति, टोली या दल काम में अधिक उत्साह प्रकट करते या उत्पादन में वृद्धि करके दिखलाते या प्रबन्ध में विशेष कुशलता प्रकट करते हैं उन्हें सहकारिताएं इनाम भी देती हैं। जो सहकारिता-संस्था अपने नेताओं की कार्य-कुशलता के कारण, अपनी योजना से भी आगे बढ़ जाती है उसके उत्तम प्रबन्ध के लिये नियमित रूप से उत्तर-दायी कायकर्ताओं को पारितोषिक दिय जाते हैं, परन्तु ये बहुधा बहुत महंगे नहीं होते। हमने देखा था कि कुछ सहकारिताएं अपने सब सदस्यों में से दस प्रतिशत को अच्छे काम का इनाम देती थीं। खेती के खास खास कामों के लिये भी इनाम दिये जाते थे। यह घोषणा पहले से कर दी जाती है कि दल के काम को जांचते हुए प्रबन्ध समिति किन किन बातों पर विचार करेगी। कुछ सहकारिताओं में हमने देखा था कि महीने में सबसे अच्छा काम करने वाले दल को अपने कार्यालय पर फहराने के लिये एक झण्डा दिया जाता था। प्रत्येक सहकारिता अपने सदस्यों में से आदर्श कार्य-कर्ताओं का चुनाव करती है। ये प्रतिस्पर्धाएं चुई (लगभग तहसील के बराबर शासन की इकाई), प्रान्त और देश के केन्द्रों में होती हैं। आदर्श कार्यकर्ताओं में से विशिष्ट कार्य करने वालों का चुनाव किया जाता है। कोई व्यक्ति आदर्श कपास बीनने वाला और कोई आदर्श मुर्गियां पालने वाला आदि हो सकता है। चेकिआंग प्रान्त की एक सहकारिता-संस्था को, १९५२ में चाय-उत्पादक

सहकारिता-संस्थाओं में सर्वोत्कृष्ट ठहराया गया था। शांगहाई के समीप हमें श्री चेन-युंग-कांग नामक एक व्यक्ति से मिलाया गया। यह सज्जन देश-भर के चावल-उत्पादकों में सर्वश्रेष्ठ थे। आदर्श कार्यकर्ता समय-समय पर विभिन्न स्तरों पर एकत्र होकर परस्पर विचार करते रहते है कि और अधिक सुधार किस प्रकार किया जा सकता है। प्रत्येक चुई के दल-नेता भी इसी प्रयोजन से सभाएं करते रहते हैं। दल के सदस्यों में भी अपनी उन्नति के लिये निरन्तर विचार विनिमय होता रहता है। वे पत्र-पत्रिकाएं तथा अन्य साहित्य लेकर दोपहर की छुट्टी में अथवा रात के समय उसका अध्ययन करते हैं। अब भी बहुत से अनपढ़ अथवा अधपड़े लोग यह साहित्य स्वयं नहीं पढ़ सकते हैं। इसलिए कोई पढ़ा लिखा व्यक्ति यह साहित्य सबको पढ़कर सुना देता और वाद-विवाद का नेतृत्व करता है।

साधारण सभा

१९. इस अध्याय के अन्त में एक नक्शा बनाकर बतलाया गया है कि सहकारिता-संस्थाओं का अन्तरिक संगठन कैसे होता और अन्य संगठनों के साथ उनका सम्बन्ध क्या होता है। नमूने की नियमावली के अनुसार किसी भी सहकारिता-संस्था को चलाने और उसका प्रबन्ध करने का सर्वोच्च अधिकार, साधारण सभा को होता है। यदि सदस्यों की संख्या अधिक होने अथवा उनके घर दूर दूर होने के कारण साधारण सभा की बठक करने में कठिनाई हो तो चुई-सरकार की अनुमति से, सदस्यों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि, सभा का काम कर सकते हैं। प्रतिनिधियों की संख्या का निश्चय चुई-सरकार की स्वीकृति लेकर, कार्य कारिणी-समिति करती है, परन्तु वह साधारणतया १०० से कम नहीं होती। विभिन्न सहकारिता-संस्थाओं ने जो नियम और उपनियम बना रक्खे हैं उनके अनुसार निम्न मामलों में अपील अथवा पुनर्विचार भी किया जा सकता है :—

क. यदि साधारण-सभा किसी सदस्य को निकाल दे तो वह उसके विरुध्द चुई-सरकार से अपील कर सकता है।

ख. यदि कोई सहकारिता-संस्था भूमि के स्वामित्व का लाभांश खेती की मजदूरी के समान देना चाहे तो उसे वैसा करने से पूर्व प्रान्तिक सरकार से अनुमति प्राप्त करनी पड़ती है।

ग. यदि कोई सहकारिता-संस्था साधारण-सभा का कार्य सदस्यों के प्रतिनिधि-सम्मेलन द्वारा करवाना चाहे तो उसे ऐसा करने की अनुमति चुई की जन-परिषद् से लेनी पड़ती है।

अन्य सब मामलों में साधारण सभा का निर्णय अन्तिम होता है।

प्रबन्धक और निरीक्षक समिति

२०. साधारण सभा ५ से १५ तक सदस्यों की एक प्रबन्ध-समिति निर्वाचित करती है। अध्यक्ष का नि चिन भी साधारण सभा ही करती है। प्रबन्ध समिति के उपाध्यक्ष एक या अनेक होते हैं। छोटी सहकारिताओं में उनकी संख्या २ या ३ होती है, परन्तु बड़ी संस्थाओं में हमने ५ तक उपाध्यक्ष देखे थे। प्रबन्धक समिति के सदस्यों, विशेषत: पदाधिकारियों के, कर्तव्य और उत्तरदायित्व निश्चित कर दिये जातें हैं। मोटे हिसाब से कर्तव्य ३ प्रकार के होते हैं:—(१) उत्पादन के टेक्निकल पहलू, (२) वित्त और हिसाब-किताब, और (३) स्त्रियों का कार्य "मित्र-सहकारिता" के ६ पदाधिकारियों में कर्तव्यों का विभाजन निम्न प्रकार किया हुआ था :—

१. अध्यक्ष—उत्पादन का सर्वोपरि निरीक्षण और जन-सम्पर्क।

२. प्रथम उपाध्यक्ष—व्यापार और योजना और काम के टेक्निकल पहलू।

३. द्वितीय उपाध्यक्ष—पशुपालन और तत्संलग्न कार्य।

४. तृतीय-उपाध्यक्ष-स्त्री-सम्बन्धी और सांस्कृतिक कार्य।

५. चतुर्थ उपाध्यक्ष—सुरक्षा का कार्य।

६. पंचम उपाध्यक्ष—वित्त।

कई बड़ी सहकारिताओं ने काम में सदस्यों का उत्साह बढ़ाने के लिए, प्रबन्ध समिति के प्रत्येक सदस्य के सुपुर्द कोई न कोई जिम्मेदारी कर रक्खी थी। ऐसा करने का एक लाभ यह भी होता है कि साधारण-सभा विभिन्न सदस्यों के काम पर अपना मत प्रकट कर सकती है।

२१. इस सम्बन्ध में कोई लगा-बन्धा नियम नहीं है कि किसी पदाधिकारी को अपना सारा समय निरीक्षण के काम में लगाना चाहिए या नहीं। इस प्रश्न का उत्तर सहकारिता-संस्था के छोटे बड़ेपन और काम के परिमाण पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, वूसान (लियाउनींग प्रान्त) की सहकारिता-संस्था का अध्यक्ष तो खेत में मजदूरी ५० दिन और प्रथम तथा द्वितीय उपाध्यक्ष ६० दिन करते थे। तृतीय उपाध्यक्ष को खेत का काम १०० दिन करना पड़ता था। जब हम जेचुआन प्रान्त में गये थे तब हमने वहां सींग-मींग सहकारिता के अध्यक्ष श्री लो-शी पा को चीनी संसद का सदस्य होते हुए भी खेत में काम करते देखा था। इसके विपरीत, "सुख-मार्ग" और "मित्र-सहकारिता" सरीखी कुछ सहकारिताओं के अध्यक्ष अपना सारा समय केवल निरीक्षण के काम में लगाते थे। अध्यक्ष चाहे पूरा समय खेत में काम करे चाहे अधूरा, उसका सारा पारिश्रमिक मिलकर प्रायः सारी सहकारिता के सबसे अच्छ श्रमिक-दल की सारी कमाई के बराबर हो जाता है। उपाध्यक्षों की आय बहुधा उच्च कार्यकर्ताओं के समान बठ जाती है। साधारणतया निरीक्षण के काम में क्योंकि बहुत समय लगा देने की प्रवृत्ति रहती है इसलिए नमूने की नियमावली में सलाह दी गई है कि प्रबन्ध का व्यय वर्ष भर के उत्पादन के मूल्य के एक प्रतिशत से अधिक नहीं बढ़ने देना चाहिए। उन्नत सहकारिताओं के लिये तो यह सीमा और भी कम—केवल आधा प्रतिशत—रक्खी गई है।

२२. चीन में प्रत्येक सहकारिता-संस्था में प्रबन्ध-समिति के अतिरिक्त एक निरीक्षण-समिति भी होती है, और बहुत-सी संस्थाओं में तो प्रेरक सदस्यों की एक टोली भी होती है; इस टोली के सदस्य कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य अथवा समर्थक होते हैं और उनका काम संस्था के सदस्यों को उत्पादन में अधिकाधिक रुचि लेने के लिये प्रेरित करते रहना होता है। निरीक्षण-समिति का निर्वाचन साधारण-सभा करती है। इसके सदस्य ३ से ९ तक होते हैं, और उनका काम यह देखना होता है कि सहकारिता का अध्यक्ष और प्रबन्ध समिति के पदाधिकारी नियमों तथा साधारण सभा के निर्णयों का पालन करते ह या नहीं, हिसाब-किताब ठीक रक्खा जाता है या नहीं, और सहकारिता की सम्पत्ति में गबन, बरबादी या फजूलखर्ची तो नहीं होती। वह साधारण-सभा में अपना प्रतिवेदन नियम-पूर्वक प्रस्तुत करती रहती है। और उसे अधिकार होता है कि वह समय समय पर प्रबन्ध-समिति को सलाह देती रहे। निरीक्षण-समिति का काम क्योंकि एक प्रकार से हिसाब का भीतरी निरीक्षण करने का है, इसलिए नमूने की नियमावली में लिखा है कि प्रबन्ध-समिति के सदस्यों, हिसाब-किताब रखने वालों रोकड़िए और माल मुहैया करने वालों को निरीक्षण-समिति में निर्वाचित न किया जाय। इस समिति के सदस्य बहुधा विभिन्न दलों के सदस्य भी होते है, इसलिए यदि उन्हें अपना कुछ समय निरीक्षण-समिति के कामों में व्यय करना पड़े तो उसकी यथोचित क्षतिपूर्ति कर दी जाती है।

हिसाब-किताब रखने और उसकी परीक्षा करने की विधि

२३. अपना वित्तीय कारबार करने और हिसाब-किताब रखने के लिए, सहकारिताओं को एक या अनेक हिसाब-किताब लेखक और रोकड़िए रखने पड़ते हैं। हिसाब-किताब लेखक प्रायः कोई एसा स्थानीय व्यक्ति होता है जो गणित जानता हो और काम को शीघ्र समझ सके। वह प्रबन्ध-समिति के प्रति उत्तरदायी होता है और वह चाहे तो ऐसे व्यय के लिय नकदी देने से इनकार कर सकता है जो वार्षिक बजट अथवा उत्पादन की वार्षिक योजना में सम्मिलित न हो। परन्तु यदि व्यय की राशि १० युआन (२० रु०) से अधिक न हो तो सहकारिता-संस्था का अध्यक्ष, उसके योजना में सम्मिलित न होने पर भी, उसके व्यय की अनुमति दे सकता है। प्रबन्ध-समिति भी इस प्रकार के १०० रु० तक के व्यय स्वीकृत कर सकती है; व्यय की मात्रा इससे अधिक हो तो साधारण-सभा की स्वीकृति लेनी पड़ती है।

बहुत-सी सहकारिता-संस्थाओं के हिसाब-किताब-तथा-बहि-खाता-लेखक अब तक अपना काम भली भांति नहीं जानते। उन्हें बहुत थोड़ा पढ़ाने-सिखाने के पश्चात् काम पर लगा लिया गया है। इसलिये चीनियों ने हिसाब का निरीक्षण और सहकारिताओं की सहायता करने के लिये इस प्रकार के उपाय निकाले हैं जैसे कि (१) महीने में एक बार निरीक्षण-समिति द्वारा हिसाब-किताब की पड़ताल करवा लेना, (२) दो महीने में एक बार विधि-प्रचार-केन्द्र से हिसाब-किताब के जानकार किसी अधिकारी को बुलाकर हिसाब दिखलवाना और उससे सलाह लेना, (३) शियांग (लगभग १० गांवों के ग्राम-मण्डल) की सब सहकारिताओं के बहि-खाता-लेखकों का दल बनाकर एक-दूसरे की सहकारिता में जाना और हिसाब-किताब की जांच करना, (४) चुई-सरकार द्वारा अपने अधिकारियों को सहकारिताओं के बहि-खाता-लेखकों की सहायता के लिये भेजा जाना और (५) कृषि-बैंक द्वारा अपने कर्मचारियों को सहकारिता-संस्थाओं के बहि-खाते सुधारने के लिये भेजा जाना। चीनी सरकार के पास अपने हिसाब-किताब-परीक्षक कर्मचारी नहीं हैं। चीन में बाहर के अथवा स्वतन्त्र हिसाब परीक्षकों द्वारा हिसाब जंचवाने का रिवाज है ही नहीं। निरीक्षण समिति ही यह काम निभा देती है।

हिस्सेदारों की पूंजी और कोश

२४. उत्पादकों की सहकारिता-संस्थायें अपने सदस्यों से दो कामों के लिये पूंजी में हिस्सा बंटाने को कहती हैं: (१) बीज, खाद और चारे की खरीद आदि उत्पादन के व्ययों की पूर्ति के लिये (इसे उत्पादन-व्यय की हिस्सा-पूंजी कहते है) और (२) पशु तथा खेती के औजार आदि उत्पादन के जो साधन सहकारिता के सदस्यों से ही खरीद लिये जाते हैं उनका मूल्य चुकाने के लिये (इसे संयुक्त सम्पत्ति की हिस्सा-पूंजी कहते हैं।) जो सदस्य गरीब होने के कारण ये हिस्से नहीं खरीद सकते उन्हें कृषि-बैंक, इसी प्रयोजन के लिये पृथक् रक्खे हुये निर्धन-किसान-कोश में से ऋण दे देता है। सदस्यों को पूंजी के इन हिस्सों पर कोई व्याज या लाभ नहीं मिलता। वे जब सहकारिता-संस्था से पृथक् हों तब अपने हिस्सों की राशि वापिस ले सकते हैं। उत्पादन-व्यय की हिस्सा-पूंजी में सदस्यों को जो भाग देना पड़ता है वह प्रायः उतना ही होता है जितना साधारण किसान प्रति वर्ष अपने खेतों के बीच व खाद आदि के लिये व्यय करते हैं। सदस्य यह भाग नकद या माल के रूप में दे सकते हैं। सींग-मींग सहकारिता में एक सदस्य ने अपना भाग सुअर की खाद के रूप में दिया था; खाद का मूल्य परस्पर तय कर लिया गया था। संयुक्त-सम्पत्ति की हिस्सा पूंजी का भाग, सदस्य चाहें तो इकमुश्त दे सकते हैं और चाहे किश्तों में।

२५. सहकारिताओं को जो आय होती है उसका उपयोग निम्न प्रकार किया जाता है:—

क. उत्पादन पर हुये व्यय के समान राशि, अगले वर्ष के उत्पादन-व्यय की पूर्ति के लिये, पृथक् रख दी जाती है;

ख. सहकारिताओं की आरम्भिक दशा में, शुद्ध वार्षिक आय (उत्पादन के समस्त मूल्य में से, उत्पादन का व्यय घटाने के पश्चात् बची हुई राशि) का कुछ भाग (जो ५ प्रतिशत से अधिक नहीं होता) सुरक्षित कोश में रख दिया जाता था। हाल में यह अनुपात खाद्य वस्तुओं की खेती में ८ प्रतिशत और व्यापारिक फसलों में १२ प्रतिशत कर दिया गया है। इस कोश का उपयोग पशुओं व औजारों की खरीद करने, भूमि को समतल करने, नई जमीन तोड़ने तथा सिंचाई के प्रबन्ध आदि सहायक कामों के लिये किया जाता है;

ग. आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं की वार्षिक आय का १ प्रतिशत और उन्नत सहकारिताओं की आय का २ प्रतिशत कल्याण-कोश में डाल दिया जाता है। इसका उपयोग सदस्यों के समाज-कल्याण तथा सांस्कृतिक कार्यों के लिये किया जाता है। जिस वर्ष फसल अच्छी हो उस वर्ष सहकारिता-संस्थायें चाहें तो सुरक्षित और कल्याण-कोशों में अधिक भी जमा करवा सकती हैं। इसी प्रकार, यदि प्राकृतिक बाधा अथवा अन्य कारणों से फसल खराब हो जाय तो इन कोशों में जमा की जाने वाली राशि कम भी की जा

सकती है। उत्पादन व्यय और सुरक्षित तथा कल्याण कोशों का भाग पृथक् कर देने के पश्चात् जो राशि बचे उसका व्यय (१) भूमि के लाभांश और (२) मजदूरी के दिनों के हिसाब से पारिश्रमिक बांटने में किया जाता है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, उन्नत सहकारिता-संस्थायें भूमि का लाभांश नहीं बांटती, क्योंकि उनके सदस्य अपनी भूमि सहकारिता के ही नाम कर देते हैं।

प्रशिक्षण की व्यवस्था

२६. सहकारिता-संस्थाओं की सफलता अधिकतर उन व्यक्तियों की योग्यता और कुशलता पर निर्भर करती है जो उनका प्रबन्ध और उनके दिन-प्रति-दिन के काम-काज की देख-रेख करते हैं। उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाओं में इन व्यक्तियों का महत्व और भी बढ़ जाता है, क्योंकि उनको वित्त और उत्पादन की उलझी हुई समस्यायें सुलझाने के अतिरिक्त, मनुष्यों के परस्पर व्यवहार में भी सफलता का ध्यान रखना पड़ता है। चीन में किसानों की सहकारिता-संस्थायें दस लाख हैं और उनमें से प्रत्येक को अपने प्रबन्ध के लिये इन पांच व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है, (१) अध्यक्ष, (२–३) दो उपाध्यक्ष, (४) बहिखाता रखने वाला मुनीम और (५) खेती की विधियों का जानकार। इसलिये चीन को इन सहकारिता-संस्थाओं का उत्तरदायित्व सम्भालने वाले लगभग पचास लाख व्यक्तियों की तलाश है। केन्द्रीय और प्रान्तिक सरकारों और कम्युनिस्ट पार्टी ने जो संगठन-कर्ता भेजे थे उन्होंने आरम्भ में जनता के साथ सम्पर्क और किसानों की सहकारिता-संस्थायें स्थापित करने में सहायता दी थी। परन्तु वे इन संस्थाओं को चलाने के लिये ग्रामों में ठहर नहीं सकते थे। इसलिये सरकार और पार्टी स्थानीय लोगों में से ही नेताओं का चुनाव कर लेने पर बहुत जोर दे रही हैं। प्रान्तिक और चुई सरकारों ने एक कार्यक्रम, विभिन्न क्षेत्रों के चुस्त कार्यकर्ताओं को, थोड़े-थोड़े समय तक प्रशिक्षण देने का बनाया है। इनमें से बहिखाता रखने वाले मुनीमों और अध्यक्षों के कर्तव्य सर्वथा पृथक् प्रकार के हैं, इसलिये इनकी प्रशिक्षण-कक्षायें भी पृथक् रखी गई है। लियाउनींग प्रान्त में सरकार ने १९५४ से १९५६ तक १७,३३८ सहकारिता-कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित किया था। इनमें से १२०० अध्यक्ष, २७०० मुनीम और ३८८ कृषि-उत्पादन-कर्ता थे। इनके प्रशिक्षण का समय ३ से ६ महीने तक का था। इनके अतिरिक्त एक लाख व्यक्तियों को विभिन्न केन्द्रो में दस-दस दिन के प्रशिक्षण के लिये एकत्र किया गया था। प्रान्तिक सरकार ने ४ प्रादेशिक सहकारिता प्रशिक्षण स्कूल खोले हैं और दस महीने तक मुनीमी का काम सिखाने के लिये एक कक्षा आरम्भ की है। इस कक्षा में १४०० व्यक्ति काम सीख रहे बतलाये जाते हैं। सरकार इस कक्षा का और भी विस्तार करने की सोच रही थी जिससे कि इसमें २८०० व्यक्ति काम सीख सकें।

२७. चुई-सरकार भी उत्पादन, श्रमिकों के संगठन और मुनीमी के कामों में सहायता देती रहती है। वह इसी काम के लिये कुछ विशिष्ट कर्मचारी रखती है। विशेष कार्यक्रमों को बड़े पैमाने पर चलना हो तो भी टेक्निकल तरीके बतलाने की जरूरत पड़ती है। उदाहरणार्थ लियाउनींग प्रान्त की सहकारिताओं ने जब यह देखा कि सुअर पालकर हम अपनी आमदनी बढ़ा सकती हैं, तब प्रान्तिक सरकार ने सुअर पालना सिखाने के लिये ६ महीने की एक कक्षा आरम्भ की और सहकारिताओं ने अपने ४०० कार्यकर्ता उसमें यह काम सीखनें के लिये भेजे। इस प्रदेश में वर्षा कम होती है। इस कारण यहां सिंचाई का बढ़ाना भी एक विशेष समस्या थी। अनुसन्धान से पता चला कि कुएं खोद कर सिंचाई में बहुतेरी वृद्धि की जा सकती है, परन्तु कुएं तैयार करने के लिये राजों, खुदैयों और कंकरीट मिलाने वालों आदि अनेक प्रकार के कारीगरों की आवश्यकता थी और उस प्रान्त में ऐसे कारीगर केवल १०० के लगभग थे। इस सिर-पड़ी आवश्यकता का सामना करने के लिये उपलब्ध राज और खुदेये ही शिक्षक बन गये। सहकारिकता-संस्थाओं के शिक्षार्थी सदस्यों को एक स्थान पर एकत्र करके, इन कारीगरों ने दो-तीन कुएं उनके सामने तैयार किये, और फिर दो-एक कुएं खोदने के लिये कहकर स्वयं इनके काम की निगरानी की। एक केन्द्र में इस प्रकार काम करके वे अगले केन्द्र की ओर बढ़ गये। इंजन और पम्प लगाना तो किसान बिल्कुल ही नहीं जानते थे। जब काम सीखने का जोर बहुत बढ़ गया तब शेनयांग

(लियाउनींग प्रान्त) के कारखाने के २८ कारीगर दो सप्ताह के लिये पड़ोस के एक गांव में गये और उन्होंने गांव-वालों की इंजन बिठाने में सहायता की। उनमें से कइयों ने तो अपना पारिश्रमिक घटाकर लिया और कइयों ने बिलकुल ही नहीं लिया। कारखाने के विभिन्न काम जानने वाले कुछ कारीगरों ने मिलकर टोलियां बना लीं और वे गांव-गांव जाकर यह देखने लगीं कि जो मशीनें देहातियों ने लगाई हैं वे ठीक प्रकार काम कर रही हैं या नहीं। एक अन्य प्रान्त जेचुआन में सहकारिता-आन्दोलन हाल में ही चला है। वहां अनुभव हुआ कि योजनायें दीर्घ-कालिक बनानी चाहियें। इसलिये वहां १२० व्यक्ति किसानों को, दीर्घ काल पर दृष्टि रखकर, योजनायें बनाना सिखला रहे हैं।

२८. प्रान्तिक सरकारें जो कक्षायें चलाती हैं उनमें काम सीखने वालों के भोजन, निवास और पुस्तक-पत्रादि का व्यय भी वही उठाती हैं। सहकारिता-संस्था शिक्षार्थी को केवल मार्ग-व्यय देती है, परन्तु यदि उस पर परिवार के पालन-पोषण का भार भी हो तो काम सीखने में नष्ट हुए दिनों का आंशिक पारिश्रमिक भी उसे दे देती है।

२९. इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रशिक्षण के कार्य को अधिकतम महत्व का माना जाता है। कृषि-विभाग के डाइरेक्टरों और अन्य अधिकारियों के साथ बातचीत करने से हमें पता चला कि जिन दिनों सहकारिता-संस्थायें बनाने का एकदम बहुत जोर हो गया था उन दिनों उन्हें शिक्षार्थियों को बहुत थोड़ा समय काम सिखला कर सन्तोष कर लेना पड़ता था, परन्तु अब अधिक समय तक की प्रशिक्षण-कक्षायें आरम्भ की जा रही हैं। उदाहरणार्थ, जेचुआन में अध्यक्षों और अन्य पदाधिकारियों के लिये छः सप्ताह का प्रशिक्षणक्रम आरम्भ किया गया था। इस क्रम में शिक्षार्थियों को (१) खाद्य-उत्पादन और उसके प्रबन्ध की आवश्यक बातें, (२) सहकारिता-संस्था को कम खर्च में कुशलता-पूर्वक चलाने की विधियां, (३) मनुष्यों-मनुष्यों में परस्पर व्यवहार करते हुये ध्यान रखने योग्य बातें और (४) जनता में राजनीतिक चेतना जागृत करने की विधियां सिखलाई जाती थीं। इस प्रशिक्षण-क्रम में ४५० शिक्षार्थी सम्मिलित हुये थे। जब हम वहां गये थे तब यह क्रम आरम्भ ही हुआ था और पुस्तकें तथा अन्य आवश्यक साहित्य तक वहां नहीं पहुंचा था।

३०. चीनी सहकारिता-संस्थाओं में हिसाब-किताब ऐसे ढंग से रक्खा जाता था कि उससे उन बहु-संख्याक सहकारिताओं की आवश्यकतायें पूरी हो सकें जो कि बहुत थोड़े समय में एक दम बन गई थीं। कर्मचारी भली प्रकार शिक्षित नहीं थे और वे बहियों में हिसाब ताजा तक नहीं रख सकते थे। चीनी लोग इन त्रुटियों को जानते हैं और इनके निवारण के उपाय कर रहे हैं। उन्होंने हाल में मुनीमी का काम अधिक ध्यान और परिश्रम से सिखाने के प्रशिक्षण-क्रम आरम्भ किये हैं। हमारे देश में भी प्रदर्शनार्थ चलाई जाने वाली सहकारिताओं को हिसाब-किताब ठीक रखने पर विशेष ध्यान देना चाहिये, क्योंकि हिसाब साफ न हो तो सदस्यों और अन्य लोगों को संस्था की उपयोगिता और सफलता का निश्चय नहीं करवाया जा सकता।

कार्य की योजना

३१. प्रत्येक सहकारिता-संस्था अपने कार्य की दो योजनायें बनाती हैं: पहली वार्षिक और दूसरी तीन से पांच वर्ष तक की दीर्घ-कालिक। इनमें उत्पादन के लक्ष्यों, श्रमिकों को काम में लगाने और वित्त तथा सामान की आवश्यकताओं का विवरण रहता है। इनका हिसाब लगाते हुए, आधार, महत्वपूर्ण फसलों के प्रति एकड़ में हुए उत्पादन को माना जाता है। प्रत्येक सहकारिता, पिछले वर्ष का उत्पादन देखकर, अपनी अगले वर्ष की योजना और उत्पादन का कार्यक्रम तैयार करती है। वह निर्धारित लक्ष्य तक पहुंचने का ध्यान तो रखती ही है, उससे आगे भी बढ़ जाने का यत्न करती है। जो सुधार करने हों उनकी तालिका तैयार करके, उनके व्यय का अन्दाजा बहुत सावधानता से लगाया जाता है। योजना बनाते हुए, शियांग अथवा प्रान्त की सरकार और कृषि बैंक से भी टेक्निकल और अन्य प्रकार की सहायता ली जाती है। संस्थायें आगामी कार्य का मासिक और साप्ताहिक क्रम भी बना लेती हैं, और उनके सदस्यों को पता रहता है कि अगले

तीन चार दिन में उनसे क्या कुछ करने की आशा रक्खी जा रही है। योजना में सदस्यों और संस्था ो बतला दिया जाता है कि उन्हें क्या और कितने समय तक काम मिल सकेगा। यदि काम पर्याप्त न हो तो सदस्य सुझा सकते हैं कि खेती में अथवा उससे सम्बद्ध व्यवसायों में क्या अतिरिक्त काम मिल सकता है। प्रत्येक सहकारिता का उद्देश्य यह रहता है कि उसके कम से कम ९० प्रतिशत सदस्यों की आय प्रति-वर्ष बढ़ती चली जाय। इसमें संस्थाओं को कितनी सफलता हुई है, इसका विचार छठे अध्याय में किया गया है।

चीनी सहकारिता-संस्थाओं की कुछ विशेषतायें

३२. चीन की उत्पादक सहकारिता-संस्थाओं की कुछ विशेषतायें ऐसी हैं जो हमारे देश में दृष्टिगोचर नहीं होतीं। वे हैं:—

क. उत्पादक सहकारिता-संस्थाओं के जिला और राष्ट्रीय संघ भी हैं,

ख. उन्हें अपनी वार्षिक योजनायें शियाँग की सरकार से स्वीकृत करवानी पड़ती हैं, और

ग. प्रत्येक सहकारिता-संस्था में कम्युनिस्ट पार्टी का एक गट रहता है।

इन विशेषताओं के कारण कभी कभी ऐसा विचार प्रकट किया जाता है कि सहकारिता-संस्थाओं के काम में सरकार और पार्टी बहुत दखल देते हैं, वे वस्तुतः सहकारी नहीं हैं, और उन्हें "सहकारिता" कहना भी शब्द का दुरुपयोग करना है।

३३. संसार के विभिन्न भागों की सहकारिता-संस्थायें किसी एक बन्धेबन्धाए अथवा सर्वत्र दिखाई पड़ने वाले नमूने पर विकसित नहीं हुई। वे अपने अपने देश की नीति के दायरे में बढ़ती और काम करती हैं, और देशों की नीतियाँ भी समय समय पर बदलती रहती हैं। चीन में कृषि-उत्पादकों की सहकारिता संस्थाओं का तो राष्ट्रीय संघ नहीं है, परन्तु क्रय और विक्रय की सहकारिता-संस्थाओं के प्रान्तिक तथा राष्ट्रीय संघ हैं। यदि उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाओं के भी ऐसे संघ बन जायें तो अच्छा हो।

३४. हमारी सम्मत्ति में यह कोई बुरी बात नहीं है कि सहकारितायें अपनी वार्षिक योजना शियाँग-सरकार के सामने पेश करके उससे स्वीकृत करवाया करें। किसी भी नियोजित अर्थ-व्यवस्था में सहकारिताएं सर्वथा स्वतन्त्र रूप से नहीं चल सकतीं, उन्हें उस पूर्वा पर क्रम से बंध कर ही चलना पडेगा जिसे कि सरकार निश्चित कर देगी। तिस पर चीन ऐसा देश है जिसमें कि पुँजी और साधन मिलने के निजी सूत्र कट चुके हैं, इसलिये वहाँ बहुत कुछ सरकार को ही करना होगा। भारत में भी ऐसी ही प्रवृत्ति चल रही दीखती है। कुछ समय पूर्व तक सरकार का लोगों के निजी प्रयत्नों में भाग लेना बुरा और सहकारिता के विरुद्ध समझा जाता था, अब वह विचार बदल चुका है, अब तो उसे सहकारिता का आधार समझा जाता है। सहकारिता-संस्थाओं की पुँजी में सरकार ५१ प्रतिशत तक का साँझा करने को तैयार है। यद्यपि सरकार की साधारण नीति डाइरेक्टरों में अपने नामजद व्यक्ति केवल एक-तिहाई रखने की है, परन्तु ऐसे राज्य भी हैं जिनमें सहकारिता-संस्थाओं के डाइरेक्टरों का सारा ही बोर्ड कुछ समय के लिये सरकार ने स्वयं नामजद कर दिया है। हमारे सहकारिता आन्दोलन के इन पहलुओं को, कई-एक प्रसिद्ध विदेशी सहकारिता-नेता सहकारिता की जड़ काट डालना बतलाते हैं। उनमें से एक ने हाल में, सरकारी सहायता और सरकारी भागीदारी को "मृत्यु द्वारा चुम्बन" का नाम दिया था। फिर भी हमारे देश ने इन सिद्धान्तों को इस आशा से अपना लिया है कि इनके द्वारा हमारा आर्थिक विकास अधिक द्रुत गति से होगा और हमने यह नहीं माना कि इनके कारण सहकारिता आन्दोलन लंगड़ा हो जायगा।

३५. हम पहले बतला चुके हैं कि चीन में कम्युनिस्ट पार्टी कृषि-उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाओं को संगठित तथा उन्नत करने में बहुत सक्रिय रुचि लेती है। प्रायः प्रत्येक सहकारिता-संस्था और दल में कम्युनिस्ट पार्टी के चुस्त कार्यकर्ता सम्मिलित रहते हैं। इसके विपरीत, भारत

में यह आन्दोलन किसी दल-विशेष से प्रभावित नहीं है। परन्तु ब्रिटेन आदि कई लोकतन्त्री देशों में सदस्य या तो अपना ही कोई दल बना लेते हैं और या अन्य राजनीतिक दलों में उत्साह-पूर्वक सक्रिय भाग लेते हैं। इस कारण, सहकारिता-संस्था में राजनीतिक दल का बन जाना, कोई ऐसी बात नहीं है जिसे सहकारिता के सिद्धान्तों का विरोधी माना जाय।

३६. हमने चीन में जो सहाकरिता-संस्थायें देखीं उनमें से कइयों में प्रत्येक के पास ५००० एकड़ से अधिक भूमि थी और उनकी सदस्य-संख्या भी एक-एक हजार थी। इतनी बड़ी इकाइयों का प्रबन्ध कुछ उलझसा गया है और उनके काम में सदस्यों का भाग न्यून से न्यूनतर सक्रिय होता जा रहा है। इन परिस्थितियों में पदाधिकारियों को सदस्यों के साथ सीधा सम्पर्क करने के अवसर कम मिलते हैं। इसका प्रभाव संस्था की समस्याओं और सदस्यों की भावनाओं को, उनके द्वारा ठीक प्रकार समझ सकनेपर भी पड़ा है, और यह भय हो गया है कि कहीं ऐसे कोई निर्णय न कर लिये जायं जो संस्था के लिये हितकारक न हों। हमारे लिये यह बतलाना सम्भव नहीं है कि हमारे देश की परिस्थितियों में सहकारिता-संस्था के अधिकतम सदस्य कितने होने और उसकी भूमि कितनी होनी चाहिये। इस प्रश्न का सम्बन्ध फसलों, प्रदेश और अन्य स्थानीय परिस्थितियों के साथ है। हमने ग्यारहवें अध्याय में जिस प्रदर्शन-कार्यक्रम का सुझाव दिया है, सहकारिता-संस्थाओं का अधिकतम परिमाण उसके आधार पर निश्चित किया जा सकेगा।

३७. चीन की सहकारिता-संस्थाओं ने गत तीन वर्ष में जो उल्लेखनीय प्रगति की है, उसका एक बड़ा कारण प्रबन्ध के लिये डाली गई उत्कृष्ट परम्पराएं भी हैं। काम को जाँचने के लिये "काम के पैमाने" निश्चित कर देने की प्रणाली, काम को दलों और टोलियों में बाँट देना, उत्पादन की गारण्टी लेकर उसकी जिम्मेवारी ठहरा देना, और बहुत-से कार्यकर्ताओं को शीघ्रता-पूर्वक काम सिखा देने की विधि आदि कुछ विशेषताएं ऐसी हैं कि वे हमारे देश के लिये भी बहुत महत्व-पूर्ण हैं। चीनी सहकारिताओं का काम जम जाने और उनके सदस्यों में एकता तथा अपनेपन का भाव उत्पन्न होने का कारण यह है कि वे, अपनी योजनायें वार्षिक और दीर्घकालिक, दोनों प्रकार की, बनाने के अतिरिक्त, अपना कार्यक्रम भी मासिक और साप्ताहिक बना लेती हैं।

३८. हम सिफारिश करते हैं कि भारत सरकार को दोनों देशों में अनुभवी किसानों के आदान-प्रदान की व्यवस्था करनी चाहिये। इसका आरम्भ, कृषि-सहकारिता-संस्थाओं के एक दर्जन कार्यकर्ताओं को छः महीने के लिये चीन भेजकर किया जा सकता है कि वे वहाँ रहकर सहकारिताओं के आन्तरिक संगठन और प्रबन्ध का सब दृष्टियों से अध्ययन करें। इसी प्रकार चीनी किसानों को, इस देश की सहकारिताओं में काम करने और सहायता देने के लिये निमन्त्रित किया जा सकता है।

३९. हमारी सिफारिश यह भी है कि सरकारी "फार्मों" (खेतों) का काम दलों और टोलियों में बाँट कर किया जाय और उसका परिणाम आँकने के लिये "काम के पैमानों" की प्रणाली आरम्भ की जाय। इससे न केवल "फार्मों" की कार्य-कुशलता सुधरने में सहायता मिलेगी बल्कि जो अनुभव प्राप्त होगा वह उस इलाके में बनाई जाने वाली सहकारिता-संस्थाओं के लिये भी बहुत मूल्यवान सिद्ध होगा।

चीन की उत्पादक-सहकारिता-संस्थाओं का संगठन और अन्य सरकारी संस्थाओं के साथ उनका सम्बन्ध दर्शाने वाला नक्शा

क्रय और विक्रय की सहकारिता-संस्थाओं का राष्ट्रीय संघ

प्रान्तिक संघ

चुई संघ

आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं का संघ

उर्वरक, औजार, कपड़ा आदि और उत्पादकों के फलों की बिक्री

कृषि-बैंक

क. थोड़ी मियाद के ऋण
ख. लम्बी मियाद के ऋण

ऋण देनेवाली सहकारिता-संस्थायें

क. थोड़ी मियाद के उत्पादन-ऋण
ख. निर्वाह के लिये दिये हुए ऋण

केन्द्रीय सरकार

प्रान्तिक सरकार

चुई की सरकार

शियांग की सरकार

क. वार्षिक योजना स्वीकृत करना
ख. टेक्निकल सलाह देना
ग. साधारण मार्ग-प्रदर्शन

उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाओं की साधारण सभा

प्रबन्ध-समिति

निरीक्षण-समिति

पदाधिकारी

उत्पादन-विभाग

वित्त और हिसाब किताब

उत्पादन करवाने वाला सदस्य	स्त्रियों और युवकों में काम	समाज-कल्याण और संस्कृति सम्बन्धी काम	मुनीम, बहि-खाता-लेखक, रोकड़िया

उत्पादक दल
उत्पादक टोली

सहकारिता-संस्था के सदस्य

पांचवा अध्याय

विकास में सरकार का और अन्य संगठनों का भाग

पिछले अध्याय में हमने दिखलाया है कि आन्तरिक प्रबन्ध उचित ढंग पर ढाल देने के पश्चात्, उत्पादक-सहकारिता-संस्थाओं की उन्नति में कितनी सुविधा हो गयी। इस अध्याय में हम यह चर्चा करेंगे कि राज अथवा सरकार ने सहकारिता-संस्थाओं की सहायता के लिये कौन-से आर्थिक तथा अन्य उपाय किये हैं। अन्य सहकारी संगठनों ने इस कार्य में जो योग दिया है उसकी भी चर्चा इस अध्याय में की जायगी। उत्पादक-सहकारिता-संस्थाओं के विषय में सरकारी नीति को मोटी दृष्टि से चार भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

१. मूल्यों को स्थिर रखना,
२. उत्पादन के लिये आवश्यक साधन-सामग्री और दैनिक जीवन में काम आने वाली वस्तुयें महैया करना,
३. टैक्सों में कमी करके और अन्य प्रकार रियायत करना, और
४. कृषि के लिये आवश्यक पुंजी की व्यवस्था करना।

कीमत की गारण्टी

२. चीन में कृषि द्वारा उत्पन्न होने वाले समस्त महत्वपूर्ण पदार्थों का एक मात्र क्रेता (खरीदार) राज है। इसमें राज के सामने दो लक्ष्य रहते हैं। प्रथम तो यह कि नगरों के निवासियों को अन्न उचित मात्रा में मिलता रहे और द्वितीय यह कि कृषि से उत्पन्न पदार्थों के मूल्य में बहुत उतार-चढ़ाव न हो। इस के लिये वह प्रतिवर्ष क्रय और विक्रय का एक संयुक्त कार्यक्रम तैयार कर लेता है। क्रय-मूल्यों की घोषणा फसलों की बुवाई से पहले ही कर दी जाती है। किसान जो वस्तुयें पैदा करता है और जो उसे खरीदनी पड़ती हैं उनमें यदि मूल्य का सन्तुलन बना रहे तो उत्पादन करने में उसका उत्साह निश्चित ही बढ़ जाता है। एक और महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि खेती की पैदावार के मूल्यों में पहले जो प्रादेशिक और फसली उतार-चढ़ाव हुआ करते थे उन्हें घटा देने में राज बहुत सफल हुआ है। इन उतार चढ़ावों के कारण अधिक हानि गरीब और छोटे किसानों को उठानी पाड़ा करती थी। हमें बतलाया गया था कि कुओ-मीन-तांग राज के समय यह उतार-चढ़ाव लगभग १०० प्रतिशत और १९५० में २१ प्रतिशत तक हो जाया करते थे। अब कम से कम अन्नों के मूल्य में यह उतार-चढ़ाव बहुत कम हो चुका है।

३. अब खाद्य-मन्त्रालय, कृषि-उत्पादक सहकारिता-संस्थाओं के साथ अन्नों की एक निश्चित मात्रा खरीद लेने का ठेका कर लेता है। उस ठेके में अन्न के परिमाण, उसके मिलने के समय और उसे ढोने के उत्तरदायित्व का स्पष्ट निश्चय कर लिया जाता है। सहकारिता-संस्थायें जो माल सरकार को देती हैं उसका मूल्य उन्हें जनता-बैंक की मारफत शीघ्र ही मिल जाता है। बैंक इसी काम के लिये बहुत से अस्थायी कार्यालय खोल देता है। इस समय राज जिन वस्तुओं का एकमात्र क्रेता बना हुआ है उनके नियन्त्रण के सम्बन्ध में सरकारी नीति की घोषणा मार्च १९५५ में कर दी गयी थी। उसके मुख्य भाग ये थे : (१) सरकार गारण्टी देती है कि वह उत्पादकों से प्रतिवर्ष ८६·५ अरब कट्टी (१० कट्टी-लगभग ५।। सेर) अर्थात् लगभग चार अरब मन से कुछ कम अन्न, जमीन की मालगुजारी की वसूली और क्रय के अपने एकाधिकार की पूर्ति के रूप में, अवश्य खरीदेगी, (२) यह राशि स्थिर रहेगी और अगले तीन वर्ष तक इसमें वृद्धि नहीं की जायेगी, और (३) अन्न-संग्रह के लिये उत्तरदायी अधिकारी, किसानों की निजी आवश्यकता-पूर्ति के लिये उनके पास पर्याप्त अन्न रहने दिया करेंगे। इस प्रकार किसानों या उनकी सहकारिता-संस्थाओं को यह स्वतन्त्रता दी गयी थी कि वे जो अतिरिक्त अन्न उत्पन्न करेंगे उसे

वे चाहेंगे तो अपने उपयोग के लिये अपने पास रख सकेंगे और चाहेंगे तो राज के हाथ बेच देंगे। अतिरिक्त उत्पादन को राज ले लेगा या किसानों के पास अपनी आवश्यकता-पूर्ति के योग्य भी अन्न नहीं रहेगा, इन दोनों भयों का निवारण कर दिया गया था।

४. कपास, जूट और चाय आदि औद्योगिक फसलों की खरीद के लिये कृषि-क्रय का एक मंत्रालय पृथक् संगठित कर दिया गया है। उसके अपने कार्यालय तो हैं ही, वह अपना काम पूर्ति तथा-बिक्री सहकारिता-संस्थाओं के द्वारा भी करवाता है। चाय, तम्बाकू, जूट और ऊन का क्रय तो खुले बाजार में किया जाता है, परन्तु कपास का क्रय एक निश्चित योजना के अनुसार किया जाता है। औद्योगिक उत्पादनों का क्रय करने के लिये पेशगी ठेका कर लेने की प्रथा भी चलायी गयी है। इसके अनुसार, फसल के अन्दाजे हुए मूल्य का २५ से ३० प्रतिशत तक सहकारिता संस्था को सरकार से पेशगी मिल जाता है। १९५५ में इन संस्थाओं को १८ करोड़ २० लाख युआन (लगभग ३६ करोड़ ४० लाख रु०) की राशि पेशगी दे दी गयी थी। इसके अतिरिक्त, खाद, रासायनिक उर्वरक और वस्त्र आदि उपयोग की वस्तुयें भी इन्हें रियायत से दी गयीं थी। इस प्रकार १९५५ में पांच लाख टन सोया-बीन की खली और २० लाख गांठे कपड़ा की इन संस्थाओं को बांटी गयी थीं। जो राशि पेशगी दी गयी थी उस पर राज ने व्याज कुछ नहीं लिया था।

५. फल और साग-सब्जी बोने वालों को भी माल बिक जाने की और मूल्य की गारण्टी दी जाती है। फलों की खरीद पूर्ति-तथा-बिक्री सहकारिता-संस्थाओं का संघ करता है। उसकी शाखायें देश के सब बड़े-बड़े नगरों में हैं। चीन को इन वस्तुओं के व्यापार में एक प्राकृतिक लाभ भी उपलब्ध है। उस देश में अधिकतर फलों की पैदावार तो दक्षिण में और खपत उत्तर के ठंडे प्रदेशों में होती है। इस कारण उसे दूर के स्थानों पर फल बिना बिगड़े पहुंचाने के लिये बर्फ की ठंडी गाड़ियों का प्रबन्ध रखने की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। फिर भी फलों के शीघ्र निर्यात के लिये क्वांग-तुंग प्रान्त से स्पेशल ट्रेनें चलायी जाती हैं। इन सुविधाओं के कारण फलों के उत्पादन में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। इसका कुछ संकेत निम्नतालिका में सेव सरीखे बढ़िया फल के उत्पादन में वृद्धि से मिल सकता है :—

वर्ष	पूर्व-वर्ष की अपेक्षा अगले वर्ष में हुई प्रतिशत वृद्धि
	आधार-वर्ष
१९४९	१००·०
१९५०	५५·७
१९५१	५२·७
१९५२	५९·०
१९५३	२२·३
१९५४	२७·२
१९५५	१८·५

इसका अभिप्राय यह है कि १९४९ की तुलना में, १९५५ में फलों का उत्पादन ७ गुणा से भी अधिक होने लगा था।

सेब, केले और अनानास की पैदावार बहुधा मांग से अधिक होती है; इस कारण सरकार ने अतिरिक्त फलों का उपयोग करने के लिये बहुत से कारखाने खोले हैं। जब हम वहां गये थे तब हमने फल और सब्जियां सर्वत्र प्रचुर परिमाण में बिकते और खरीदे जाते हुये देखे थे।

६. माल बाजार में बिक जाने और उसका उचित मूल्य मिल जाने के आश्वासन देकर सरकार ने उत्पादक सहकारिता-संस्थाओं और उनके सदस्यों को एक बहुत बड़ी चिन्ता से मुक्त कर दिया है। इस कारण सहकारिता-संस्थायें जिस आधार पर उत्पादन की योजना बनाती हैं वह बाजार की अवस्थाओं के कारण विफल नहीं होती, और इसी कारण उनके सदस्य भी अपना पूरा ध्यान और शक्ति एक मात्र उत्पादन पर केन्द्रित कर सकते हैं।

आवश्यक वस्तूओं की पूर्ति

७. जीवन में नित्य काम आने वाली वस्तुयें और उत्पादन के साधन भी नियम से मिलते रहने की व्यवस्था कर दी गयी है। यह काम पूर्ति-तथा-बिक्री की २६,७०० आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं द्वारा किया जाता है। वे फुटकर बिक्री की १ लाख ७८ हजार दुकानें चलाती हैं। १९५५ में देहाती प्रदेशों में समस्त फुटकर बिक्री का ४४ प्रतिशत भाग इन संस्थाओं द्वारा ही बिका था। १९५२ की तुलना में यह बिक्री २२.५ प्रतिशत अधिक थी। ये संस्थायें खेती का सामान, खेती के औजार, उर्वरक, कृमि-नाशक औषधियां, इमारती सामान, गाड़ियों के पुर्जे, कपड़े, चिकित्सक तथा स्वास्थ्यकारक औषधियां, घरका फर्नीचर और खाद्य सामग्री आदि वस्तुयें बेचती हैं। १९५१ में और उसके पश्चात्, इन संस्थाओं द्वारा खली और रासायनिक उर्वरकों की जो बिक्री हुई उसका विवरण यह है :—

वर्ष	ये अंक (२-२-हजार पौंड के) लाख टनों को प्रकट करते हैं	
	खली	उर्वरक
१९५१ . . .	७.८	१.३
१९५२ . . .	२६.०	३.०
१९५३ . . .	२९.०	६.०
१९५४ . . .	३५.०	८.०
१९५५ . . .	३३.०	११.४
१९५६ . . .	३३.०	१७.५

इन रासायनिक उर्वरकों में, ८० प्रतिशत उर्वरक नाइट्रोजन-युक्त द्रव्यों के और २० प्रतिशत फौस्फ़ेट आदि के थे। १९५५ में पूर्ति-तथा-बिक्री सहकारिताओं ने २३०० करोड़ रु० का रोज़गार किया था। और उसके लिये पूंजी चीन के जनता-बैंक ने दी थी।

८. पूर्ति-तथा-बिक्री की आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं को मिलाकर २००० चुई-संघ बनाये गये हैं (लगभग तहसील के बराबर शासनिक इकाई चुई कहाती है)। चुई-संघों का सम्बन्ध प्रान्तिक, प्रादेशिक और बड़े नगरों के २७ संघों के साथ है। प्रान्तिक संघ भी राष्ट्रीय-सहकारिता संघ के सदस्य हैं। उसका संगठन जुलाई, १९५४ में किया गया था। इन सबकी सदस्य-संख्या १६ करोड़ २० लाख है। आरम्भिक संस्थाओं का मार्ग-दर्शन, प्रान्तिक संघों के द्वारा, संघ ही करता है। राष्ट्रीय-संघ का संचालन, विभिन्न संस्थाओं के प्रतिनिधियों द्वारा नि एक कांग्रेस करती है। इस कांग्रेस में प्रति ३ लाख सदस्यों के पीछे एक प्रतिनिधि आता है। यदि शेष सदस्यों की संख्या डेढ़ लाख से अधिक हो तो वे एक प्रतिनिधि और भेज सकते हैं। यह कांग्रेस

गुप्त मतपत्रों द्वारा १२३ सदस्यों की एक परिषद् का निर्वाचन करती है, और वह चार वर्ष तक पदारूढ़ रहती है। राष्ट्रीय-संघ का कार्यवाहक १७ व्यक्तियों का एक संचालक-मण्डल होता है, जिसका निर्वाचन राष्ट्रीय कांग्रेस गुप्त मत-दान द्वारा करती है। इस मण्डल के अतिरिक्त, कांग्रेस ७ निरीक्षकों की भी एक समिति का चुनाव करती है, जिसका मुख्य काम वित्तीय व्यवहार और कारबार का निरीक्षण करके, अपना विवरण राष्ट्रीय परिषद् तथा राष्ट्रीय कांग्रेस के सुपुर्द कर देना होता है।

टैक्स घटाने और अन्य रियायतों की नीति

६. 'मुक्ति' से पूर्व चीनी काश्तकार को अपनी कुल पैदावार का ५० प्रतिशत जमीन-लगान में दे देना पड़ता था। कुओ-मीन-तांग सरकार ने यत्न किया था कि लगान घटाकर ३७।। प्रतिशत तक रहने दिया जाय, परन्तु वह सफल नहीं हुआ। शासनाधिकार कम्युनिस्टों के हाथ में आने पर उन्होंने टैक्स घटाने की घोषणा करके उसका दर, समस्त उत्पादन के १५ से २३ प्रतिशत तक निश्चित कर दिया। १६५२ में सरकार ने, उत्पादन बढ़ाने और सहकारिता-संस्थाओं के संगठन को बढ़ावा देने के उद्देश्य से, घोषणा की कि तीन वर्ष तक कृषि-कर वही रहेंगे जो अब (१६५२ में) हैं, और सरकार पैदावार में अपने हिस्से का दावा इतने से अधिक नहीं करेगी। इस नीति का तथा राष्ट्रीय व्यय के अन्य खातों में वृद्धि हो जाने का परिणाम यह हुआ कि १६५० में तो राष्ट्रीय बजट में कृषि करों से प्राप्त आय का भाग २६ प्रतिशत रहा था, १६५६ में वह घटकर १० प्रतिशत ही रह गया। कानून में तो किसानों और उनकी सहकारिता-संस्थाओं को इजाजत है कि वे अपने कर की अदायगी चाहें तो नकद और चाहें जिन्स के रूप में कर सकती हैं, परन्तु व्यवहार में ६३ प्रतिशत वसूली अनाजों अथवा औद्योगिक फसलों के रूप में होती है। कृषि-कर के संग्रह तथा अन्नों के क्रय में सुविधा के लिये, २० हजार क्रय-केन्द्र खोले गये हैं। इन केन्द्रों में ५० प्रतिशत ने अपने गोदाम बनाने के लिये केवल स्थानीय सामान का प्रयोग किया है, शेष केन्द्र अपना काम खुले स्थान या स्थानीय मकानों से ही निकाल लेते हैं। आरम्भिक सहकारिता-संस्थायें तो टैक्स की आदायगी अपने सदस्यों की प्रतिनिधि के रूप में करती हैं, परन्तु उन्नत सहकारिताओं को टैक्स की अदायगी अपने ही साधनों में से करनी पड़ती है। कानून में व्यवस्था है कि जो जमीनें नयी तोड़ी जायंगी उन पर पहले तीन वर्ष तक कोई नया कर नहीं लगाया जायगा। इसी प्रकार यदि सहकारिता-संस्था सिंचाई की सुविधाओं का विकास करके अतिरिक्त फसल उपजा ले तो उस पर कर वसूल नहीं किया जायेगा। हम ऊपर यह जिक्र तो कर ही चुके हैं कि सरकार ने अपने नीति की घोषणा में कह दिया था कि तीन वर्ष तक अनाजों की वसूली में परिवर्तन नहीं किया जायगा, जिससे कि किसान अपने अतिरिक्त उत्पादन का उपभोग स्वयं ही कर सकें।

१०. चीन में अधिकतर सहकारिता-संस्थायें अपनी खेती में ट्रैक्टर आदि यन्त्रों का प्रयोग नहीं करतीं। केवल कुछ स्थानों की संस्थायें सरकारी ट्रैक्टर-स्टेशनों से ट्रैक्टरों की मदद ले पाती हैं। अपने ट्रैक्टर तो कोई भी सहकारिता-संस्था नहीं रखती। इसका बड़ा कारण यह है कि अब तक यह निश्चय नहीं हो पाया कि किस प्रकार के ट्रैक्टर चीन की परिस्थितियों में कितने उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, उनको ठीक रखने और उनकी मरम्मत करवाने आदि में प्रायः इतना व्यय बैठता है कि सहकारिता-संस्थायें उसे नहीं उठा सकतीं। इस प्रकार की सब जोखिमें सरकार उठाती और ट्रैक्टरों का लाभ संस्थाओं को रियायती लागत पर उठाने का अवसर देती है। यदि सरकार की सिफारिश पर नये औजारों और यन्त्रों का प्रयोग करने से हानि हो जाय तो उसे भी सरकार संस्थाओं के सिर नहीं पड़ने देती। उत्तर में और देश के अन्य कुछ भागों में दो पहियों और दो फालों के हल लाभ-दायक सिद्ध हुए होंगे, इसलिये उसने उन्हें बड़ी संख्या में बनवाया और देश के अन्य भागों की सहकारिता-संस्थाओं को सुलभ मूल्य पर बेच दिया। परन्तु जेचुआन की सहकारिता-संस्थाओं का अनुभव यह रहा कि वे हल लाभदायक नहीं है। ज्यों ही यह पता लगा त्यों ही वहाँ की सहकारिता-संस्थाओं से कहा गया कि या तो वे उन हलों को ऐसे स्थानों की सहकारिता संस्थाओं को दे दें जहाँ वे उपयोगी होंगे और या उन्हें सरकार को देकर अपना मूल्य वापिस लेने का दावा पेश कर दें।

खेती के लिये पूंजी का प्रबन्ध

११. चीन में भूमि-सुधार होते ही ऋण मिलने के निजी सूत्र समाप्त हो गये थे। इस लिये सरकार ने ऋण देने वाली सहकारिता-संस्थाओं के संगठन में सहायता दी। ये संस्थायें किसानों को खेती करने और अन्य कामों के लिये ऋण देने लगीं। इन संस्थाओं को नकद धन सरकारी जनता-बैंक से मिलता था। बैंक थोड़ी मियाद का कर्जा किसानों को सीधा भी दे देता था। बैंक द्वारा दिये हुए ऋण का परिमाण १९५० में ४० करोड़ रु० था। १९५१ में वह बढ़कर ८० करोड़ रु० हो गया था। १९५२ में भूमि का सुधार करने और निजी खर्च चलाने के लिये ऋण की माँग और भी बढ़ गयी, क्योंकि देश-भर के लगभग ४० प्रतिशत किसान परिवार परस्पर-सहायक दलों में सम्मिलित हो चुके थे। फल यह हुआ कि १९५४ और १९५५ में दिये हुये ऋण की मात्रा क्रमशः २१४ और २५२ करोड़ रु० तक पहुंच गयी।

१२. १९५५ में कृषि-उत्पादक सहकारिता-संस्थायें संगठित करने का आन्दोलन चलाने से पूर्व, सरकार ने खेती के लिये पुंजी मिलने का मार्ग निष्कण्टक कर दिया था। १९५५ के मार्च में एक पथक् कृषि-बैंक खोला गया। जो काम पहले जनता-बैंक को करने पड़ते थे वे अब इसके सुपुर्द कर दिये गये। नयी व्यवस्था में, कुएं खोदने सरीखे सिंचाई के स्थायी काम करने और खेती के बड़े औजार तथा पशु खरीदने आदि कामों के लिये उत्पादक सहकारिताओं को ऋण इस बैंक से मिल सकता है। बीज, उर्वरक और छोटे औजारों की खरीद आदि कामों के लिये उत्पादक सहकारिता संस्थाओं को ऋण ऋण-सहकारिता संस्थाओं से मिलता है। ये ऋण-दाता संस्थायें निर्वाह के लिये सीधा किसानों को भी ऋण दे देती हैं।

१३. ऋण-दाता सहकारिता-संस्थाओं की संख्या १ लाख १० हजार है, और ९८ प्रतिशत से अधिक शियाँगों (ग्राम-मण्डलों) के लगभग ७७ प्रतिशत देहाती किसान-परिवार इनके सदस्य बन चुके हैं। इन संस्थाओं का सदस्य बनते समय प्रत्येक व्यक्ति को १० सेण्ट (लगभग ३ आने) प्रवेश शुल्क देना और उनका एक शेयर (हिस्सा) खरीदना पड़ता है। उसका मूल्य ४ से १० रु० तक होता है। ऋण-दाता सहकारिता-संस्थायें अन्न, फर्निचर और कपड़े खरीदने के लिये भी निर्वाह-ऋण दे देती हैं। स्कूल की फीस चुकाने, चिकित्सा करवाने, विवाह और अन्त्येष्टि संस्कारों के लिये इन संस्थाओं से पेशगी रकम मिल सकती है। सहायक पेशे चलाने के लिये भी ऋण मिल जाता है। यद्यपि चीन के लोग अनुत्पादक व्यय यथाशक्ति नहीं करते, परन्तु कभी कभी कोई कोई व्यय अनिवार्य रूप से करना पड़ जाता है, और तब ऋण-दाता सहकारिता-संस्थायें किसानों की मदद करने को तैयार रहती हैं। उदाहरणार्थ, हमने देखा कि लियाउनींग प्रान्त के लिउचियान शियांग ((ग्राम-मण्डल) की ऋण-दाता सहकारिता-संस्था ने अपने एक (भूतपूर्व जमींदार) सदस्य को ३० युआन (लगभग ६० रु०) का ऋण अपने रोगी पुत्र की चिकित्सा करवाने के लिये दिया था। एक अन्य किसान को इस संस्था ने फर्नीचर खरीदने के लिये ऋण दिया था। जेचुआन की एक सहकारिता-संस्था ने अपने एक किसान सदस्य को १० रु० पेशगी, अपने पुत्र की स्कूल-फीस चुकाने के लिये दिये थे। ऋण-दाता संस्थायें अपने सदस्यों को मितव्ययता से चलना सिखलाती हैं और अपने यहाँ जमा उनके धन पर उन्हें एक वर्ष तक ६·१२ प्रतिशत ब्याज देती हैं। एक महीने या इससे अधिक छोटी मियादों के लिये भी रकमें जमा की जाती हैं और उनपर २·९ से ६ प्रतिशत तक सूट दिया जाता है। अपने सदस्यों की भली प्रकार सेवा कर सकने के लिये ऋण-दाता सहकारिता-संस्थायें निम्नलिखित उपाय भी करती हैं: (१) संस्थायें अपने दफ्तर सायंकाल खोलती हैं जिससे कि सदस्यों को बैंक में आने जाने के लिये अपने काम का समय न खोना पड़े, (२) जरूरतमन्दों को परेशानी से बचाने और सदस्यों में आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न करने के लिये जमा रकम नियत अवधि से पूर्व भी वापिस कर दी जाती है, (३) केवल कार्यालय में बैठकर काम करने के स्थान पर ऋण-दाता सहकारिता-संस्था का एक कार्यकर्ता स्वयं सदस्यों और उत्पादक सहकारिता-संस्थाओं के पास जाकर उनकी आवश्यकता जान लेता और उसे पूरी कर देता है, और (४) ऋण-संस्थायें कृषि-उत्पादक संस्थाओं के साथ निकट सम्पर्क रखती हैं और जब फसल की समाप्ति पर सदस्यों का हिसाब होने लगता है तब अपने ऋणों की राशियाँ वसूल कर लेती हैं।

१४. १९५५ में ३२० करोड़ यूग्रान अथवा ६४० करोड़ रु० का ऋण देने की एक योजना बनायी गयी थी। अब तक दिये हुए ऋण की यह अधिकतम राशि थी; उसमें वे राशियाँ भी सम्मिलित थीं जो पूर्व-वर्ष में वसूल होनी शेष रह गयी थीं। हमें बतलाया गया था कि अगस्त १९५६ तक इसमें से २८० करोड़ यूग्रान अथवा ५६० करोड़ रुपये दिये जा चुके थे। हम जिन प्रान्तों में गये उनमें वर्ष के पूर्वार्ध में (जून १९५६ तक) कितना ऋण दिया गया था इसका कुछ अन्दाजा निम्नतालिका से लगाया जा सकता है :

लियाउनिंग	५ करोड़ १५ लाख यूग्रान अथवा १० करोड़ ३० लाख रु०
ज़ेचुग्रान .	१० करोड़ ९१ लाख यूग्रान अथवा २१ करोड़ ८२ लाख रु०
चेकिग्रांग .	५ करोड़ ८३ लाख यूग्रान अथवा ११ करोड़ ६६ लाख रु०
कियांगसू .	११ करोड़ ५५ लाख यूग्रान अथवा २३ करोड़ १० लाख रु०

ये ऋण (१) यन्त्रादि खरीदने तथा तामीरी काम करने, (२) उत्पादन के खर्च उठाने और (३) निर्वाह-व्यय की पूर्ति के लिये दिये गये थे। इन तीनों मदों में समस्त राशि का कितना कितना प्रतिशत व्यय किया गया यह निम्न तालिका से प्रकट होगा :

प्रान्त का नाम	ऋण का कितना प्रतिशत औजारों और तामीरी कामों में व्यय किया गया	ऋण का कितना प्रतिशत उत्पादन पर व्यय हुआ	ऋण का कितना प्रतिशत निर्वाह पर व्यय हुआ	योग
लियाउनिंग . .	३२	४२·०	२६	१००
ज़ेचुग्रान . . .	१९	६१·०	२०	१००
चेकिग्रांग . . .	२९	३७·०	३४	१००
कियांगसू . . .	२३	३७·०	४०	१००
चारों प्रान्तों का औसत .	२५.७	४४·२	३०·०	१००

१५. कृषि-बैंक और ऋण-संस्थाओं के व्याज दर देश-भर में सर्वत्र एक ही हैं। उत्पादक [illegible]
उन पर वे ५·७६ प्रतिशत प्रतिवर्ष व्याज देती हैं। बीज और उर्वरक खरीदने के लिये थोड़ी मियाद के ऋनों पर भी संस्थायें तो यही व्याज-दर देती हैं, परन्तु व्यक्तियों को निर्वाह-व्यय के लिये दिए हुए ऋण पर ८·६४ प्रतिशत व्याज देना पड़ता है। कृषि-उत्पादक सहकारिता-संस्थाओं के शेयर (हिस्से) खरीदने के लिये गरीब किसानों को ऋण ४·८ प्रतिशत के रियायती व्याज पर दिया जाता है। ये दर मार्च १९५६ से लागू किये गये थे। इससे पहले सहकारिता-संस्थाओं और सदस्यों को १५·६ से १८ प्रतिशत प्रति वर्ष तक व्याज देना पड़ता था। व्याज दर एक दम इतना

गिरा देने और देश में सर्वत्र एक-सा दर प्रचलित कर देने के कारण ऋण-संस्थाओं का लाभ कम हो गया है और उनमें से कई नुकसान में चल रही हैं। उनका व्यय घटाने और काम चुस्त करने के उपाय किये जा रहे हैं, परन्तु ३ वर्ष से पूर्व इनके स्वावलम्बी हो सकने की सम्भावना नहीं है। इसलिये सरकार ने १९५६ के बजट में ४ करोड़ यूआन (८ करोड़ रु०) की राशि इन संस्थाओं की सहायता करने के लिये रक्खी है, और इतनी ही राशि १९५७ के बजट में भी रखने की आशा दिलायी है।

ऋण लेने की पद्धति

१६. उत्पादक सहकारिता-संस्थाओं को ऋण देने की पद्धति लम्बी-चौड़ी नहीं है। जाब्ता तीन चार दिन में ही पूरा हो जाता और उन्हें ऋण मिल जाता है। प्रत्येक संस्था अपने उत्पादन की योजना तैयार करके उसे साधारण-सभासे स्वीकृत करवाती और शीयाँग (ग्राम-मण्डल) सरकार तथा कृषि-बैंक को भेज देती है। यदि शीयाँग-सरकार और कृषि-बैंक भी उस योजना को पसन्द कर लेते हैं तो बैंक उस संस्था के लिये ऋण की अधिकतम राशि नियत कर देता है, और उसी की सीमा में उस उत्पादक-संस्था को समय समय पर ऋण दिया जाता रहता है। बैंक ऋण देने से पहले किसी प्रकार की जमानत या गारण्टी लेने का हठ नहीं करता। बैंक के जिन अधिकारियों से हमारी बातचीत हुई उन्होंने किसानों को दी हुई बड़ी बड़ी धन-राशियां वसूल हो सकने के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का सन्देह या भय प्रकट नहीं किया। उन्होंने बतलाया कि जान-बूझकर ऋण न चुकाने वाले व्यक्ति नाम-मात्र के होते हैं——५ प्रतिशत से भी कम——और बैंक का विचार उनके विरुद्ध तुरन्त ही कोई क़ानूनी कारवाई करने का नहीं है, वह पहले उन्हें समझाने-बुझाने के उपायों का प्रयोग करके देखेगा। बैंक और ऋण-सहकारिता संस्थाओंके अधिकारियों को विश्वास था कि व्यक्तियों और संस्थाओं के उत्पादन में जो वृद्धि होगी उससे उनके ऋण वसूल हो जायेंगे। कोई बड़ी भारी हानि हो जाने या ऋण की राशियां बट्टे खाते डालने की कल्पना तक को वे अयथार्थ बतलाते थे।

१७. सारांश यह है कि किसानों और उत्पादक सहकारिता-संस्थाओं को खेती के लिये पुंजी मिल सकने का सुन्दर प्रबन्ध करने में चीनी सरकार सफल हो गयी है। चीन में खेती कि भूमि का क्षेत्रफल हमारे देश की अपेक्षा कुछ ही कम है। हमारी देहाती ऋण-जाँच-समिति ने हाल में अन्दाजा लगाया था कि भारतीय किसानों को खेती के लिये ७५० करोड़ रुपये की पुँजी की आवश्यकता पड़ती है, और इसका केवल ६ प्रतिशत सरकार और सहकारिता संस्थाओं द्वारा पूरा किया जाता है। इसकी तुलना ५६० करोड़ रुपये की उस राशि से करके देखना चाहिये जो चीनी सरकार अगस्त १९५६ तक ऋण के रूप में दे चुकी थी। चीनी सरकार क़िसानों को बाजार में माल की बिक्री की ओर से निश्चित कर देती, मुख्य मुख्य फसलों को न्यूनतम निर्धारित मूल्य पर खरीद लेती और कुछ खास फसलें बोने का आंशिक व्यय पहले से दे देती है, इन कारणों से उत्पादक सहकारिता-संस्थाओं को बहुत बल मिला है। और उनकी जड़ जम गयी है।

छठा अध्याय

उत्पादक सहकारिता-संस्थाओं की सफलता

आदर्शों और अन्य विचारों को छोड़ भी दें, तो भी चीन में कृषि-सहकारिता-संस्थाओं के सफल या असफल रहने का निर्णय निम्न चार कसौटियों से किया जा सकता है :

१. उनसे उत्पादन में वृद्धि हुई या नहीं ?

२. यह वृद्धि क्या अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकती थी ?

३. उनसे रोज़गार और लोगों की आय में वृद्धि हुई या नहीं और उनके रहन-सहन का दर्जा ऊंचा उठा या नहीं ? और

४. उनके कारण लोगों का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन ऊंचा उठा या नहीं ?

२. अपनी चीन-यात्रा में हमने १६ सहकारिता-संस्थायें देखी। हम भारत में जिन फ़सलों से परिचित ह उनमें से प्रायः सब प्रधान फ़सलों की खती ये संस्थायें करती थीं। उनमें से गेहूं, मकई, जुआर, चावल, मूंगफली, सरसों, कपास, जट, साग-सब्ज़ियों और फलों का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है। इस अध्याय में ऊपर लिखे प्रश्नों का उत्तर इन संस्थाओं द्वारा प्राप्त परिणामों के आधार पर देने का यत्न किया जायगा। जिन प्रान्तों में ये संस्थायें काम कर रही थीं उनमें से कुछ की ओर सारे देश की समस्त स्थिति पर विचार पीछे किया जायगा।

३. जो संस्थायें हमने देखीं उनमें प्रति परिवार की औसत ज़मीन १·२ एकड़ से २·५ एकड़ तक थी। इन संस्थाओं के सदस्यों ने मिलकर जिन खेतों में सहकारी की थी उनका परिणाम ६० से ६,००० एकड़ तक था। हमारी देखी हुई संस्थाओं में कुछ खराब भी थीं, परन्तु एक को छोड़कर, शेष अठराहों के समस्त तथा पृथक्-पृथक् उत्पादन में वृद्धि ही हुई थी। वृद्धि का अनुपात विभिन्न प्रदेशों में और विभिन्न फ़सलों का विभिन्न था। एक ही प्रदेश और एक ही फ़सल का परिणाम भी, विभिन्न सहकारिता-संस्थाओं का विभिन्न था। परन्तु इन सब परिणामों के तीन पहलू स्पष्ट दिखलाई पड़ते थे : अर्थात् वर्तमान उत्पादन (१) युद्ध-पूर्व के, (२) १९४९ के ('मुक्ति' के वर्ष के) और (३) १९५२ के (जब कि परस्पर-सहायक दल पूरी तेजी में) वर्षों के उत्पादनों से साधारणतया अच्छे थे। ज़ेचुआन प्रान्त में लियाउनिंग, शांगहाई, किआंगसू, चेकियांग और क्वातुंग प्रान्तों की अ क्षा उत्पादन में वृद्धि का तिशत सबसे कम था। इसके कारण हमें दो बतलाये गये। पहला यह कि (१) सहकारिता-संस्थाओं भी २२०० वर्ष से अधिक पुरानी सिंचाई-व्यवस्था से ही काम लिया, उसमें सुधार की प्रायः कोई गुंजायश नहीं थी, और (२) अधिकतर सहकारिता-संस्थायें नयी थी, अधिकतर १९५५ में ही शुरू हुई थीं। फिर भी ससे इनकार नही किया जा सकता कि स प्रान्त में भी सहकारिता-संस्थाओं ने अपने सदस्यों की उत्पादन बढ़ाने में सहायता की। उदाहरणार्थ, क्वान चुई (अर्थात् लगभग तहशील) की यौंग-फेंग सहकारिता-संस्था सं० ७ में धान की पैदावार का औसत १९५२ में ५२० कट्टी प्रति मउ था, वह १९५५ में बढ़कर ६०० कट्टी प्रति मउ हो गया। (१०० कट्टी—लगभग ५५ सेर और १ मउ—०·१६ एकड़) था। इसकी तुलना में, सींग-मींग सहकारिता-संस्था ने १९५५ में तो धान की फ़सल प्रति मउ ६२५ कट्टी काटी, परन्तु १९५३ और १९५४ में इस संस्था की पैदावार का औसत क्रमशः ६३० और ५८० कट्टी था। १९५५ का औसत १९५३ से ५ कट्टी कम रहा। औसत में इस कमी के बावजूद, इस संस्था के समस्त उत्पादन और इसके सदस्यों की आय में वृद्धि ही हुई। कारण यह है कि १९५३ का औसत तो एक परस्पर-सहायक दल द्वारा बोये गये १०२ मउ की पैदावार से निकाला हुआ था, और १९५५ का औसत ११०० मउ की पैदावार से निकाला गया था, और इस बड़ी भूमि में कुछ भाग ऐसी घटिया भूमि के भी थे जिसमें पैदावार पहले बहुत ही कम होती थी।

४. जो गांव हमने देखे उनमें सहकारिता-संस्थायें बनने के बाद पैदावार १५ से ३० प्रतिशत तक बढ़ गई थी। इस परिवर्तन में २ से ३ वर्ष तक का समय लगा था। कपास, चाय और साग-सब्जियों के उत्पादन में वृद्धि विशेष हुई थी। १९५२ से १९५५ तक, शांगहाई के पास कपास बोने वाली दो सहकारिता-संस्थाओं में से एक की पैदावार तो १०० कट्टी बढ़कर १८० कट्टी प्रति मउ ही हुई थी, और दूसरी की ८० कट्टी से ३१६ कट्टी प्रति मउ तक जा पहुंची थी। इसी अवधि में, चैकिआंग प्रान्त की अक्टूबर-चाय-सहकारिता-संस्था की सूखी चाय की पैदावार ११० कट्टी से बढ़कर १४३ कट्टी प्रति मउ हो गई थी। लियाउनिंग प्रान्त की साग-सब्जी सहकारिता-संस्थाओं के उत्पादन में प्रायः ५० प्रतिशत वृद्धि हुई थी।

५. इस संबंध में एक प्रश्न किया जा सकता है और वह करना उचित ही हैं। वह यह कि इन अंकों का आधार क्या है और इन पर विश्वास कहां तक किया जा सकता है। युद्ध-पूर्व काल के और १९४९ के अंक तो पदाधिकारियों और अन्य लोगों ने दिये हैं, और उनमें होनोक्ति से काम लिया जाने का संदेह हो सकता है, परन्तु १९५२ के अंक वैसे सन्देहास्पद नहीं है। उनके आधार दो हैं: (१) उन दिनों अधिकतर ग्रामों में परस्पर सहायक दल काम करने लगे थे, उन्होंने वास्तविक उत्पादन का जो लेखा रक्खा एक तो उसे आधार माना गया, और (२) दूसरे, सरकार ने कृषि-कर लगाने के लिये १९५२ में सब स्थानों की औसत पैदावार का जो अन्दाज़ा लगाया था उसका सहारा लिया गया। यह चर्चा पहले हो चुकी है कि सहकारिता-संस्थायें अपने सदस्यों में लाभ, उनके वास्तविक काम के आधार पर, बांटती हैं, और बहुत से दल लम्बी मियाद का ठेका करके पैदावार की पहले से गारण्टी कर देते हैं। इसके अतिरिक्त, कटाई, लुनाई, कुटाई और ढुलाई की मज़दूरी का संबंध प्रायः परिमाण के साथ होता है। इन कारणों से, १९५५ के अंक उत्पादन के वास्तविक परिमाण हो ही प्रकट करते हैं। उनकी जांच श्रमिकों को मिले हुये पारिश्रमिक के साथ तुलना करके भी की जा सकती है। उत्पादन में वृद्धि का परिचय, बाज़ार में बिक्री के लिये आये हुये माल में वृद्धि से भी, मिल सकता है। उदाहरणार्थ, किआंगसू प्रान्त की लोएन-यीम सहकारिता के ग्रामीण सदस्यों ने १९५० में १२ लाख ६० हज़ार कट्टी (लगभग १७३२५ मन) अन्न बेचा था: १९५५ में उन्होंने २८ लाख ५० हज़ार कट्टी (कोई ३९१८७ मन) बेचा। लियाउनिंग प्रान्त में भी हमने यही स्थिति देखी, परन्तु शियांगों (ग्राम-मंडलों) का पुनर्गठन हो जाने के कारण हमें सहकारिताओं के पृथक-पृथक अंक नहीं मिल सके।

६. इस संबंध में यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि १९११ के पश्चात् चीन में स्थिति निरन्तर अशान्ति और अस्थिरता की रही और १९४९ में उत्पादन अपने निम्नतर स्तर पर पहुंच चुका था। इन कारणों से, जिस सरकार ने शान्ति, अन्न-अमान और कानून की पुनः प्रतिष्ठा करके मुद्रा, स्फीति का नियन्त्रण कर दिया उसमें किसानों का विश्वास जम जाना स्वाभाविक था। इन परिस्थितियों में, सहकारिता-संस्थाओं का संगठन न होता तो भी प्रत्येक किसान पैदावार अधिक करता ही। इसलिये ऐसी कल्पना करना भ्रान्त हो सकता है कि १९४९ के पश्चात् उत्पादन में जो भी वृद्धि हुई वह सहकारिता के ही कारण हुई। यही कारण है कि तुलना करने के लिये आधार-वर्ष १९५२–५३ को माना गया है, 'मुक्ति' के पश्चात् के अन्य वर्षों को नहीं। इसके अतिरिक्त, केवल अंकों पर भरोसा न करके, हमने स्वयं उन उपायों का अध्ययन किया जिनके द्वारा उत्पादन में वृद्धि हुई बतलाई गयी थी। इन सब बातों पर विचार करके हम इसी परिणाम पर पहुंचे हैं कि उत्पादन में वृद्धि हुई है। १९५४ में हुई वृद्धि के कुछ अंश, १९५५ की वृद्धि के खासे हिस्से, और १९५६ के उत्पादन के बहुत बड़े भाग का आधार सहकारिता की कृषि ही है।

उत्पादन बढ़ाने के उपाय

७. इस विचार में दूसरा उत्तरणीय प्रश्न यह है कि क्या चीनी किसान केवल ऋण और बिक्री की सहकारिता-संस्थाओं के सदस्य बनकर, परन्तु खेती व्यक्तिशः पृथक-पृथक ही करके उत्पादन में यह वृद्धि नहीं कर सकते थे। आखिर, उत्पादन खेती के सब साधनों, अर्थात् भूमि, श्रम तथा पूंजी का, सम्मिलित परिणाम हो तो होता है! सहकारिता का लक्ष्य भी तो यही है कि 'संगठन की भावना' को प्रेरणा प्राप्त हो! इस कारण देखना चाहिये कि सहकारिता-संस्थाओं से उत्पादन के साधनों का संगठन अधिक अच्छा हुआ या नहीं? हुआ तो कितना?

८. चीनी सहकारिताओं ने उत्पादन बढ़ाने के लिये जिन उपायों का अवलम्बन किया उन्हें मोटी दृष्टि से निम्न चार वर्गों में विभक्त कर सकते है :

१. सिंचाई के साधनों में वृद्धि अथवा सुधार,

२. भूमि का सुधार और उद्धार करने के प्रयत्न,

३. अच्छे बीजों का प्रयोग, और

४. खादों और उर्वरकों का घना प्रयोग और खेती के अधिक अच्छे तरीके।

सिंचाई और भूमि में सुधार

हमने देखा कि लियाउनींग प्रान्त और शांगहांई की सहकारितायें सिंचाई बढ़ाने पर बहुत ज़ोर देती थीं। लियाउनींग में एक सहकारिता ने १८ महीने में १२८ छोटे कुंये नये खोदे थे। उनमें से प्रत्येक १.५ से २ एकड़ तक की सिंचाई करता था। एक अन्य सहकारिता-संस्था ने ४० और ५० हॉर्स-पावर के दो बिजली के पम्प लगाये थे, जो ९०० मऊ (लगभग १५० एकड़ अथवा समस्त क्षेत्र के ६ प्रतिशत भाग) की सिंचाई करते थे। एक तीसरी संस्था ने भाप के इंजिन से चलने वाला पम्प लगाया था, वह १८९ मऊ (कोई ४७ एकड़ अर्थात् सारे इलाके के १३ प्रतिशत भाग) की सिंचाई करता था। सिंचित भाग में धान बोया गया था। यह प्रदेश सूखा है। अब तक यहां ज्वार बाजरे आदि मोटे अनाजों की ही खेती होती थी। धान यहां प्रथम बार बोया गया था। एक चौथी सहकारिता ने ३४ छोटे कुंयें और ४ तालाब नये बनाये थे। शांगहाई के पास यू-यी सहकारिता के सदस्यों ने ज़मीन तो २५०० मउ एकत्र कर ली थी, परन्तु सिंचाई वे उसमें से केवल १००० मउ में कर सकते थे यह भी कुछ बहुत भरोसे योग्य नहीं थी, क्योंकि पानी को ऊंचा उठाने के लिये हवाई चक्की, मज़दूरों और पशुओं का प्रयोग किया जाता था। १९५५ में इस संस्था ने ९००० यूआन (१८०००रु०) लगाकर ३ पम्प तो बिजली के लगाये और एक उठाकर अन्यत्र ले जाये जा सकने वाला डीज़ल इंजन खरीदा। अब इस सहकारिता के ८० प्रतिशत खेतों में सिंचाई होने लगी है। सहकारिता के बिना, औसत छोटे किसान इतने कम समय में न तो इतने कुंये बना सकते थे और न बिजली के पम्प लगा सकते थे।

९. सहकारिता-संस्थाओं ने खेती के क्षेत्र में वृद्धि दो प्रकार की है : (१) बेकार पड़ी हुई भूमि को तोड़कर और (२) खेतों की अनावश्यक हद-बन्दी को खतम करके। इस प्रकार लिआउनींग प्रान्त की सुख-मार्ग सहकारिता संस्था ने १७० मउ (लगभग २७ एकड़) भूमि सुधार कर खेती योग्य बनाई। ज़ेचुआन प्रान्त की सींग-मींग सहकारिता ने ४० मउ (कोई ६ १/२ एकड़) भूमि में से तो घास-फूस साफ किया और ५० मउ (लगभग ८ एकड़) में से कोड़े-मकोड़े नष्ट किये। इसका फल यह हुआ कि अधूरा समय रोज़गार करने वालों को अधिक रोज़गार मिल गया, उत्पादन बढ़ गया और आय में भी वृद्धि हो गई। ज़ेचुआन प्रान्त में अन्जेन शीयांग की सहकारिता और सुख-मार्ग सहकारिता ने, व्यक्तियों के खेतों को पृथक् करने के लिये जो डौल बनी हुई थीं उन्हें तोड़कर अपनीअपनी खेती के क्षेत्रों में क्रमशः २ और १.५ प्रतिशत वृद्धि कर ली।

१०. कियांगसू प्रान्त में, लीयेन-मीन गांव के पास की नदी में से गाध कोई तीस वर्ष से नहीं निकाली गई थी, इस कारण यह नदी सिंचाई के लिये प्रायः व्यर्थ हो गई थी, सहकारिता-संस्था ने इसकी गाध साफ़ करवा दी, यह काम वही कर सकती थी, क्योंकि श्रमिकों को एकत्र उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता था। गाध को बड़ी मात्रा में निकालकर नदी के तटों पर इकट्ठा कर दिया गया। इस प्रक्रिया में और सिंचाई के लिये नालियां खोदने में जोत के नीचे के खेतों की लगभग ४० मउ भूमि कट गई, परन्तु इसके विपरीत १००० मउ ऐसी भूमि में सिंचाई होने लगी जिसमें पहले नहीं होती थी। इसी प्रकार, शांगहाई के समीप चिआंग-चिउ-लऊ सहकारिता ने देखा कि उसके केवल ३० प्रतिशत क्षेत्र में सिंचाई की नालियां ठीक प्रकार बनी हुई हैं। उसने श्रमिकों को एकत्र किया और अपने लगभग ८० प्रतिशत क्षेत्र में सिंचाई की अच्छी नालियां बना दीं।

११. चीनी किसानों को, विशेष करके गरीब किसानों को, अच्छा बीज पाने में बड़ी कठिनाई हुआ करती थी। उनमें से कुछ तो अपने ही खेत में पदा हुये अनाज का एक भाग बीज के लिये अलग रख लिया करते थे, परन्तु वह प्राय: अच्छा अथवा ठीक किस्म का बीज नहीं होता था। हमने जो सहकारितायें देखीं उन सबने बढ़िया बीज तैयार करने के लिये ज़मीन के टुकड़े अलग किए हुये थे। शुरू शुरू में इन संस्थाओं ने बढ़िया बीज, प्रयोग केन्द्र या उत्कृष्ट-विधि-प्रचार केन्द्र या ऐसी किसी पड़ौसी सहकारिता-संस्था से लिया था जिसके पास अधिक पैदावार करने वाले बीज थे। इस प्रकार बढ़िया बीज उस संस्था के सारे क्षेत्र में पहुच जाता था। शेन्सी प्रान्त में सीआन के समीप की एक सहकारिता के सदस्यों ने बढ़िया बीज का प्रयोग करके गैहूं की पैदावार ५० प्रतिशत बढ़ा ली थी। शांगहाई के समिप यू-यी सहकारिता में कपास की पैदावार में उल्लेखनीय वृद्धि होने का एक प्रधान कारण बढ़िया बीज भी थे।

१२. लीएन-मीन सहकारिता-संस्था के प्रधान ने बीज चुनने और पौध को उठाकर फैलाने की एक ऐसी विधि निकाली कि उसका प्रयोग खेती की अन्य उत्कृष्ट विधियों के साथ मिलाकर करने से बिन-चिपकन के धान की औसत पैदावार ५५०–६०० कट्टी प्रति मउ से बढ़कर ७००–९०० कट्टी तक पहुंच गई। इस विधि से न केवल पैदावार बढ़ गई, बुवाई में बीज की खपत भी लगभग आधी रह गई, अर्थात् एक मउ में १५ कट्टी के स्थान पर केवल ७ १/२ कट्टी बीज लगने लगा। इस विधि से धान बोने में पौध को उठाकर लगाने के लिये मज़दूरों की आवश्यकता बड़ी संख्या में पड़ती थी। इतने मज़दूर लगाना किसी अकेले किसान के वश की बात नहीं थी। सहकारिताओं का संगठन होने के पश्चात् उनके सदस्यों ने बढ़िया किस्म का यह धान 'लाउ-लाइ-चींग' (सदा-बहार) ३७०० मउ (५९२ एकड़) में बो डाला। इसका बीच प्रतिवर्ष सावधानता से चुनना पड़ता है। बोने से पहले उसे तीन मिनट तक नमक के घोल (१०० कट्टी पानी में २० कट्टी नमक) में भिगो दिया जाता है। जो बीज थोथे होते है वे घोल में ऊपर तैरने लगते हैं, उन्हें फैंक दिया जाता है और जो बीज तली में बैठ जाते हैं उन्हें ही बोने के काम लाया जाता है।

खाद इकट्ठा करने और डालने के लिये घना प्रयत्न

१३. चीनियों में खाद जमा करने और खेतों में डालने के लिये खूब मेहनत करने की परम्परा पुरानी है। वे खाद बनाने के लिये सब प्रकार की बेकार चीजों और मल-मूत्र तक का उपयोग कर लेते हैं। औसत भारतीय किसान इस के लिये जो कुछ करता है उसकी तुलना में चीनियों के रिवाज बहुत प्रभावशाली और फलदायी हैं। सहकारिता-संस्थायें बनने से पहले प्रत्येक चीनी ग्राम के अपने-अपने रिवाज थे। कुछ किसान इतने गरीब थे कि खाद का प्रयोग प्राय: करते ही नहीं थे, करते भी थे तो बहुत थोड़ी मात्रा में मनुष्य का मल डालते थे। संपन्न किसान खाद की खरीद बड़ी मात्रा में करके उसका प्रयोग इतना अधिक करते थे कि उतनी की न तो आवश्यकता होती थी और न उतनी उत्पादन में सहायक होती थी। हमने देखा कि सभी सहकारिता-संस्थाओं ने खाद एकत्र करने और उसे ठीक प्रकार डालने का आन्दोलन-सा छेड़ा हुआ था। हरे पत्ते और अन्य कूड़े-करकट, सुअर की खाद, तालाबों की गाघ, नदियों से निकले हुये कीचड़ और टट्टी-घरों की मूत्र-सनी मिट्टी का भी प्रयोग किया जाता था। हरे खाद का प्रयोग बढ़ाया जा रहा था। इतनी अधिक खाद का प्रयोग किया जाता है और उसके लिये इतनी मेहनत करनी पड़ती है कि नया दर्शक पहले-पहल देखकर दंग रह जाता है कि इतना सब किया कैसे गया होगा।

१४. चेकिआंग प्रान्त की वू-गा-दा सहकारिता ने हमें खाद के निम्न नुस्खे दिये थे :

(१) धान की एक फसल लेनी हो तो प्रति मउ—

(क) मूल-भूत खाद

१. नदी की तली का कीचड़ . . . . १८,००० कट्टी

२. हरी खाद . . . . . १,५०० कट्टी

(ख) अतिरिक्त खाद

१. अमोनिअम सल्फेट . . . . ८ कट्टी

२. सुअर की खाद . . . . . ६६० कट्टी

(२) धान की दो फसलें लेनी हों तो पहली फसल में प्रति मउ—
धान की एक फ़सल के समान

(३) धान की दो फ़सलें लेनी हों तो पीछे की फसल में प्रति मउ—

(क) मूल-भूत खाद नहीं दी जाती

(ख) अतिरिक्त खाद

१. अमोनिअम सल्फेट . . . . ६ कट्टी

२. सुअर की खाद . . . . . ६६० कट्टी

हमारे कुछ साथियों ने नदी पर जाकर देखा कि उसकी तली में से गाध कैसे निकाली जाती है। उन्होंने देखा कि काम दल के कुछ लोगों में बाँट दिया गया था। प्रत्येक व्यक्ति अपने कंधे पर दो बाल्टियों की कांवर लिये हुए था। प्रत्येक बाल्टी लगभग ६० कट्टी (३३ सेर) की थी। इस प्रकार एक आदमी एक फेरे में १२० कट्टी (६६ सेर) गाध ढो सकता था। काम का परिमाण, गाध पहुंचाने के स्थान की नदी से दूरी के हिसाब से, नियत किया जाता था। यह दूरी ५० कदम हो तो दिन में १०० फेरे करने पड़ते थे। १५० कदम तक ६० और २०० कदम तक ५०फेरे करने होते थे। इसका मतलब यह हुआ कि दिन-भर में एक आदमी ६००० से १२००० कट्टी तक गाध ढोकर एक दिन में काम की १० इकाइयां जमा कर सकता था।

१५. फू-यांग चुई (चेकियांग प्रान्त) के शो शीयाँग (ग्राम-मंडल) की पन्द्रहवीं सहकारिता ने खाद के अपने ही नुस्खे तैयार किये थे।

उनके अनुसार :

१. धान की दो फसल लेनी हों तो शुरु की फसल में—

(क) मूल खाद का परिमाण प्रति मउ

१. अलफाल्फा घास . . . . . १,५०० कट्टी

२. खराब ज़मीन के लिये, सुअरों के बैठने की जगह का कूड़ा
(ज़मीन अच्छी हो तो इससे आधा) १,००० कट्टी

(ख) अतिरिक्त खाद

१. अमोनिअम सल्फेट . . . ६ कट्टी

२. फटकरी . . . . ६ कट्टी

३. चुना . . . . . १३० कट्टी
(कट्टी-कोई आध सेर)

२. दो फसलों में पिछली फसल के लिये—

अतिरिक्त खाद

१. हरीखाद . . . . १,००० कट्टी

5—5 Plan. Com./58.

२. चूना . . . . १३० कट्टी

३. अमोनिअम सल्फेट . . . . . ६ कट्टी (कट्टी-कोई आध सेर)

चेकिआंग प्रान्त में अक्टूबर-चाय-सहकारिता का खाद का नुस्खा निम्न प्रकार था :

चाय की फसल में प्रति मउ—

(क) मूल खाद

१. सरसों और सेम की खल . . . . ३६० कट्टी

२. अमोनिअम सल्फेट . . . . . ४० कट्टी (कट्टी-लगभग आध सेर)

(ख) अतिरिक्त खाद

१. सेम की खल . . . . . १०० कट्टी

२. पाखाना बिना खल मिला . . . . ८,००० कट्टी (कट्टी-लगभग आधे सेर)

पैकिंग के समीप तुंगफांग सहकारिता का नुस्खा निम्न प्रकार था :

कपास के लिये—

(क) मूल खाद कम्पोस्ट . . . . . १०,००० कट्टी (कोई ५०० सेर)

(ख) अतिरिक्त खाद . . . . .

१. सेम की खली . . . . . १०० कट्टी

२. अमोनिअम सल्फेट . . . . . ३० कट्टी

३. स्युपर-फोस्फेट . . . . . २० कट्टी

मकई के लिये—

(क) मूल खाद . . . . . १०,००० कट्टी

(ख) अतिरिक्त खाद अमोनिअम सल्फेट . . . ४० कट्टी

जुवार के लिये—

कम्पोस्ट प्रति मउ . . . . . १०,००० कट्टी (कोई ५०० सेर)

चाँगहाई के समीप यू-यी सहकारिता के नुस्खे निम्न थे :

धान के लिये प्रति मउ—

अमोनिअम सल्फेट . . . . . १० कट्टी

स्युपरफोस्फेट . . . . . . १५ कट्टी

दानेदार खाद	७५ कट्टी
कम्पोस्ट	३,००० कट्टी

(कट्टी-लगभग ग्राध सेर)

यदि धान को गेहूं के पश्चात् बोया जाय तो ३,००० कट्टी कम्पोस्ट प्रति मउ ग्रौर डालना चाहिये।
कपास के लिये प्रति मउ—

सयोबीन की खली	१७ कट्टी
स्युपरफोस्फेट	१० कट्टी
ग्रमोनिग्रम सल्फेट	८ से १० कट्टी

(कट्टी-लगभग ग्राध सेर)

कपास गेहूं के बाद बोई जाये तो इसमें २,५०० से ३,००० कट्टी तक कम्पोस्ट भी मिला देना चाहिये।
गेहूं के लिये प्रति मउ—

सुग्रर ग्रौर भेड़ की मेंगनी	३,००० से ३,५०० कट्टी
या नदी की तली का कीचड़ . . .	१२,००० से १३,००० कट्टी

गेहूं में रासायनिक उर्वरक कोई नहीं डाला जाता था, ग्रौर साग-सब्ज़ियों के लिये ग्रादमी के मल ग्रौर पशुग्रों के गोबर का प्रयोग किया जाता था।

१६. बड़े नगरों के समीप की सहकारितायें नगरों से पाखाना इकट्ठा करने की विशेष व्यवस्था करती थीं। दैरेन के समीप की एक सहकारिता-संस्था प्रति दिन ५० ग्रादमी मल एकत्र करके लाने के लिये शहर भेजती थी। शाँगहाई के पास की एक सहकारिता ने पाखाना ढोकर लाने के लिये बहुत-सी नावें रक्खी हुई थीं। वह उर्वरक कम्पनी से भी खाद लेती थी। उक्त कम्पनी की स्थापना ही हाल में, ७० लाख ग्राबादी के शाँगहाई शहर के गटरों का मैला ग्रौर पाखाना ठीक प्रकार ठिकाने लगाने के लिये की गई थी। स्पष्ट है कि कोई भी ग्रकेला किसान इतनी बड़ी मात्रा में खाद का ठीक प्रकार संग्रह ग्रौर वितरण नहीं कर सकता था।

खेती की उत्कृष्ठ और सुधरी हुई विधियां

१७. सहकारिता-संस्थाग्रों ने बरस में दो फसलें लेने का क्षेत्र बहुत बढ़ा दिया है। चेकिग्रांग प्रान्त की एक सहकारिता ने दो फसलों का क्षेत्र ५७ मउ से बढ़ाकर ५३१ मउ कर दिया, क्योंकि वह सिंचाई के लिये पम्प लगाने में सफल हो गई थी। शांगहाई के ग्रास-पास साधारणतया दो फसलें गेहूं के बाद चावल या कपास बोकर ली जाती थीं। हाल में एक नयी प्रवृत्ति दोनों फसलें धान की लेने की चली है। ये फसलें दो प्रकार बोई जाती हैं: (१) पहली फसल काटने से महीना भर पहले, दूसरी फसल का धान, पहली की पंक्तियों के बीच में बो दिया जाता है, इसे बारी-बारी से बोना कहते हैं; (२) दूसरा प्रकार यह है कि पहली फसल काटने के तुरन्त पश्चात् दूसरी बो दी जाय। बारी-बारी से बोने की विधि में पैदावार दूसरी की ग्रपेक्षा कुछ कम होती है। परन्तु दोनों विधियों की कुल पैदावार एक फसल की ग्रपेक्षा २० या ३० प्रतिशत ग्रधिक बैठती है। दूसरी विधि से दो फसलें लेने के क्षेत्र का विस्तार करने में बड़ी बाधा यह है कि इसमें दूसरी फसल १० जून के ग्रास-पास बो देनी पड़ती है ग्रौर इसके लिये खेत तैयार करने को बहुत कम दिन का समय मिलता है। बोने में विलम्ब कर देने से पैदावार कम होती है, क्योंकि फसल को ग्रक्टूबर ग्रौर नवम्बर की ठण्ड का सामना करना पड़ जाता है। जिन सहकारिताग्रों के पास पहली फसल काट लेने के बाद खेत तैयार करने के लिये ग्रादमी काफी होते हैं वे इस विधि का लाभ उठा सकती हैं। वे सहकारितायें एक ग्रलग जगह में बीज बोकर पौध तैयार रखती हैं

और खेत के जुतते-जुतते ही उस पौध को उठा कर खेत में बो देती हैं। लीएन-मीन ग्राम के किसान गेहूं की भी दो फसलें लेने की बात करते थे। परन्तु इस परीक्षण की जोखिम उठाने के लिये तैयार कोई नहीं था, क्योंकि सबका ख्याल था कि गेहूं की दूसरी फसल से जमीन कमजोर हो जायगी और उसे फिर उपजाऊ बनाने के लिये बहुत मेहनत करनी पड़ेगी। अकेले-अकेले किसान सम्भावित हानि की जोखिम उठाने को भी तैयार नहीं होते थे। अन्त को सहकारिता-संस्था ने यह जोखिम थोड़ी-थोड़ी अपने सब सदस्यों में बांट कर यह परीक्षण आरम्भ कर डाला और गेहूं की भी दो फसलें लेनी शुरू कर दीं।

१८. लियाउनींग प्रान्त में सहकारिताएं, जुवार आदि के स्थान पर मकई सरीखी अधिक पैदावार देने वाली फसलें बोने का यत्न कर रही हैं। जेचुआन में एक सहकारिता ने धान के पौधों के बीच का फासला १५ इंच से घटाकर १० इंच करके देखा और उससे पैदावार बढ़ गई। सुख-मार्ग सहकारिता के किसान सदस्य पहले अपने खेतों को वर्ष में केवल एक बार अप्रैल के महीने में जोता करते थे। सहकारिता का संगठन होने के पश्चात्, वे सम्मिलित क्षेत्र के आधे भाग में सर्दी का मौसम आने से पहले दूसरी बार भी हल चलाने लगे। इससे जमीन की उपजाऊ शक्ति बढ़ गई और बहुत-से हानिकारक कीड़े मर गये।

१९. शांगहाई के आस-पास की सहकारिताओं को कपास की पैदावार बढ़ाने में सफलता इस कारण भी हुई कि उन्होंने खेती की नई और उत्कृष्ट विधियों का प्रयोग करके देखा। य विधियां खेत को गहरा जोतना, बीज जल्दी और पास-पास डालना, नलाई अधिक करना, और पौधों की शाखाओं को नियम से काटते रहना और घना न होने देना, आदि थीं। सहकारिताओं में नई विधियों की परीक्षा करने के बाद उन्हें जारी करना सुगम रहता है, क्योंकि पहले दो-एक सदस्य उन्हें सीखकर और उनकी परीक्षा करके, उपयोगी सिद्ध होने पर अन्य सदस्यों को सिखला सकते हैं।

२०. हमने कई स्थानों पर यह भी देखा है कि सहकारिताएं प्राकृतिक आपत्तियों और आकस्मिक कठिनाइयों का प्रतिकार करने के लिये क्या कुछ कर सकती हैं। शांगहाई के समीप यू-यी सहकारिता के खेत १९५४ में अकस्मात् अतिवृष्टि के कारण पानी से भर गये। सहकारिता-संस्था ने तुरन्त ही नालियां खोदने के लिये दलों का संगठन किया और खेतों में से पानी निकाल दिया। अकेले-अकेले किसान ऐसा नहीं कर सकते थे। जिन जमीनों में बरसात के समय पानी भरने लगा था वे भी बरसात के पश्चात् इसी प्रकार बचा ली गई। चेकिआंग प्रान्त की अक्टूबर-चाय-सहकारिता के क्षेत्र में ५० मउ की फसल १९५० में कीड़ा लग जाने के कारण प्रायः सबकी सब नष्ट हो गई थी। कीड़ों ने चाय के पत्ते, पौधों के डण्ठल और बक्कल तक खा डाले थे। अगले तीन वर्ष तक इसी प्रकार कीड़ा लगता रहा और पैदावार पर उसका असर पड़ता रहा। १९५४ में कीड़ा ४०० मउ में फैल गया। परन्तु तब सहकारिता का संगठन हो चुका था। उसने ग्रामों के सब लोगों को एकत्र करके एक-साथ ५०० आदमी खेटों में कीड़े पकड़ने के लिये भेज दिये। यह प्रयत्न सफल रहा, फसल बच गई और कोई २००० किलोग्राम (सेर) कीड़े इकठ्ठे करके नष्ट कर दिये गये। होपेई प्रान्त की सुंग-फांग सहकारिता ने कीड़ों का सामना एक अन्य प्रकार किया था। उसने कोई १० हजार युआन (२० हजार रु०) की कृषि-नाशक दवाइयां खरीदकर उनका प्रयोग किया। ऐसा करना किसी भी अकेले किसान के वश की बात नहीं थी। इसी ग्राम में निरन्तर तीन वर्ष तक अतिवृष्टि होती रही। यद्यपि उससे होने वाली हानि को सर्वथा नहीं रोका जा सका, फिर भी सहकारिता-संस्था ने पानी को खेतों से बाहर निकालने की नालियां बनवा दीं और हानि को काफी कम कर दिया।

२१. गांव में उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव कुछ कुछ इस कारण भी पड़ता है कि कुछ किसान अपने वश से बाहर की कुछ कठिनाइयों के कारण अपनी जमीनें अच्छी तरह नहीं जोत पाते। ये कठिनाइयां परिवार के प्रधान अथवा अन्य व्यक्तियों का बीमार पड़ जाना, पशुओं की कमी अथवा परिवार के कुछ सदस्यों की मृत्यु हो जाना आदि हो सकती हैं। कृषि-सहकारिता संस्थायें व्यक्तियों द्वारा उपेक्षित खेतों को सम्भालकर इन कठिनाइयों का बहुत-कुछ निवारण कर

सकती हैं। इसका एक उदाहरण हमने सींग-मींग गांव में देखा। वहां एक विधवा स्त्री के खेत में सरसों की पैदावार का औसत लगभग ७५ कट्टी (कोई ४१ सेर) प्रति मउ था। जब वह सहकारिता की सदस्य बन गई तब औसत बढ़कर १०५ कट्टी (लगभग ५७ सेर) हो गया।

कुछ निर्बलतायें

२२. ऊपर के उदाहरणों में सहकारिता-संस्थाओं के उन कार्यों की चर्चा हुई है जो उत्पादन बढ़ाने में सहायक हुए थे। परन्तु दो सहकारिताएं हमने ऐसी भी देखीं जहां परिणाम विपरीत निकले थे। एक में उन्नति न होने के कारण निम्न बतलाये गये थे :

(क) धान का बीज साधारणतया ५ कट्टी प्रति मउ के हिसाब से डाला जाता है। इस सहकारिता के पदाधिकारियों ने कहा कि इतना बीज तो बहुत अधिक है और उन्होंने बिना किसी जांच-पड़ताल के बीज घटाकर ३½ कट्टी कर दिया। परिणाम यह हुआ कि पैदावार घट गई। (ख) बीजों से धान की पौध तैयार करते हुए तो रासायनिक खाद (उर्वरक) बहुत अधिक डाल दी गई थी और अन्य फसलों में खाद थोड़ी लगाई गई। (ग) आलू का १५०० कट्टी बीज सम्भालकर नहीं रक्खा गया और बोने के समय तक वह बिगड़ चुका था। (घ) काम के पैमाने ठीक प्रकार नियत नहीं किये गये और न श्रमिकों में काम का वितरण उचित प्रकार किया गया। उदाहरणार्थ, नलाई के काम की इकाई इतनी नीची रक्खी गई कि यह जरूरी काम अच्छी तरह हुआ ही नहीं। एक अन्य सहकारिता के पास हल के पशु नहीं थे। फिर भी उसने सुअर और अन्य सामान खरीदने में बहुत-सी रकम खर्च कर डाली थी। फलतः जमीन की जुताई हाथों से की गई, खेती का प्रबन्ध भी सन्तोषजनक नहीं किया गया। सारांश यह कि चीन में सहकारितायें भली और बुरी दोनों प्रकार की हैं, परन्तु भली बहुत अधिक हैं, ठीक प्रकार काम न करने वालियों का अनुपात केवल कोई १५ प्रतिशत है।

रोजगार और आमदनी

२३. अब यह देखना चाहिये कि इन सहकारिताओं का रोजगार पर क्या असर पड़ा। रोजगार और आमदनी का ठीक-ठीक अन्दाजा लगाना बहुत कठिन है। पहले समय के सम्बन्ध में कोई विश्वासनीय जानकारी नहीं मिलती, इस कारण तब के साथ तुलना करना और भी कठिन है। हमने देखा कि प्रत्येक घर के औसतन पौने-दो आदमी सहकारिताओं में काम करते थे। यह औसत सब जगह एक-सा नहीं था। उदाहरणार्थ, लियाउनींग और होपेई प्रान्तों में यह डेढ़ था। इन प्रान्तों में औसत कम होने के प्रधान कारण दो थे : (१) सिंचाई की सुविधाओं का अभाव और (२) पशुओं का अपेक्षाकृत अधिक उपयोग। जेचुआन, चेकिआंग, शांगहाई और क्वांगतुंग में प्रति घर पीछे सहकारिताओं में काम करने वालों की संख्या १·७५ से २ तक थी। कहीं-कहीं यह संख्या २·२५ या २·५० तक भी पहुंच जाती थी। इसका कारण शायद यह था कि आधे से अधिक प्रदेश में वर्ष में दो फसलें ली जाती थीं। पशुओं की कमी के कारण भी मनुष्यों का प्रयोग अधिक किया जाता था।

२४. वर्ष में काम के दिनों की संख्या १५० से ३०० तक थी। औसत सहकारिता-संस्थाएं वर्ष में २०० दिन काम दे सकती हैं। सहकारिता-संस्थाओं की एक और उल्लेखनीय बात यह है कि उनमें स्त्रियों को काम करने का अवसर अधिकाधिक मिलने लगा है। जिन सहकारिता-संस्थाओं में हम गए उन सब में खेती का तथा अन्य काम करने वालों में स्त्रियों की संख्या खासी अधिक थी। काम करने वालों में स्त्रियों और पुरुषों का अनुपात २ : ३ था। परन्तु उत्तर और दक्षिण की स्थितियों में अन्तर था। उत्तर में पुरुष कार्यकर्त्ता दो थे तो स्त्री एक। दक्षिण में दोनों की संख्या लगभग समान थी। परन्तु सहकारिताएं स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा कम समय काम दे पाती थीं। वह पुरुषों के समय की तुलना में ५० या ६० प्रतिशत बैठता था। परन्तु स्त्रियां, सहकारिता-संस्थाओं में काम करने के अतिरिक्त, कुछ समय अपने घर की साग-सब्जी की क्यारियों में भी काम करती थीं। कुछ स्त्रियां मुर्गियां और सुअर भी पालती थीं। ये काम, अतिरिक्त रोजगार और आमदनी, दोनों के साधन हैं।

२५. प्रति व्यक्ति की दैनिक कमाई का औसत ०·७० युआन (१ रु० ६ आ०) से ३·६० युआन (७ रु० १४ आ०) तक था। फल, साग-सब्जी और अन्य व्यापारिक फसलें उगाने वाली सहकारिताओं में कमाई का दर अधिक था। आरम्भिक सहकारिताएं उन्नत सहकारिताओं की अपेक्षा मजदूरी कम देती थीं, क्योंकि हे अपनी आय का कुछ भाग जमीन के लाभांश के रूप में भी बांट देती थीं। यद्यपि कोई सामान्य नियम बतलाना कठिन है, तथापि मोटे हिसाब से (काम की १० इकाइयों के) एक दिन की मजदूरी १·५ युआन (३ रु०) थी। हमने जो सहकारिताएं देखीं उनमें औसत चीनी परिवार वर्ष में ४०० से ४५० युआन तक कमाता था: इसमें ३०० युआन कमाई तो पुरुषों की थी और १०० से १५० युआन तक स्त्रियों की। वर्तमान आय, १९५२ की तुलना में १३ से १५ प्रतिशत तक अधिक है। इस आय में सहायक पेशों की आय भी शामिल है। सहकारिता-संस्थाएं स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार इन पेशों को बढ़ावा देने का यत्न कर रही हैं। इन पेशों में अधिकतर बैलगाड़ी से माल ढोना, सुअर पालना और अड़ोस-पड़ोस में बनती हुई इमारतों में मजदूरी करना आदि हैं। एक सहकारिता ने अपने सदस्यों को संगठित करके चटाइयां और टोकरियां बनवाने का काम शुरू किया था। एक ने बढ़ई का काम शुरू करवाया था। तीन सहकारितांओं ने धान कूटने की छोटी छोटी मशीनें लगाई थीं। एक के पास तो छोटा-सा पन-बिजलीघर भी था। चाय-सहकारिता के पास चाय सुखाने के लिए ३६० भट्टियां और १३ सुखाने की मशीनें थीं। एक सहकारिता ने अपने सदस्यों को अतिरिक्त काम देने के लिए ईंटों के ६ भट्टे और दो छोटे कारखाने घास के डण्ठलों की टोपियां बनाने के लगाए थे। परन्तु सहकारिताओं ने अभी तक दूध-घी के व्यवसाय पर अधिक ध्यान नहीं दिया। देहातियों को दूध के प्रयोग का प्रायः ज्ञान ही नहीं है, पशुओं का पालन वे मुख्यतया बोझ ढोने व खींचने के लिए करते हैं। हमने केवल पेकिंग के पास एक ऐसी सहकारिता देखी जिसने दूध के लिए २१७ गौएं रक्खी हुई थीं। हमारा ख्याल यह भी हुआ कि लियाउनींग प्रान्त में सहायक पेशे बढ़ाने की ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा। इसका कारण शायद यह भी हो कि उनका अधिकतर ध्यान सिंचाई की सुविधाएं बढ़ाने पर केन्द्रित हो रहा था। दक्षिण में हमने देखा कि सहायक पेशों पर सहकारिताओं का ध्यान अधिक था। इसका कारण यह हो सकता है कि दक्षिण में वर्षा अच्छी होती है और सिंचाई की सुविधाएं उपलब्ध हैं, इसलिए वहां लोगों को सिंचाई के तथा अन्य इसी प्रकार के तामीरी कामों में लगाने की गुंजाइश प्रायः नहीं है।

सामाज-कल्याण के काम और सामाजिक जीवन

२६. प्रत्येक सहकारिता-संस्था अपने लाभ का लगभग २ प्रतिशत समाज-कल्याण के कामों के लिए पृथक् रख देती है। इसका उपयोग (क) सांस्कृतिक कार्यों का आंशिक व्यय पूरा करने और (२) रोगियों, अपाहिजों तथा शारीरिक दृष्टि से असमर्थ अन्य लोगों की सहायता के लिए किया जाता है। कई सहकारिताओं में हमने देखा कि वे शिशु-शालाए चलाती थीं और उनकी श्रमिक स्त्रियां काम करने के समय अपने शिशु उनमें छोड़ जाती थी। लिएनमींग सहकारिता में ७२९ स्त्रियां काम करती थीं, वह १४ शिशुशालाएं चलाती थीं जिनमें १११ बालकों की देखरेख की जाती थी। चीन में निरक्षर लोग बहुत हैं, इसलिए सहकारिता-संस्थाएँ प्रौढ़ों को साक्षर बनाने पर भी बहुत ध्यान देती थीं। प्रायः प्रत्येक सहकारिता-संस्था रात्रि-विद्यालय अथवा फालतू समय के विद्यालय नियम से चलाती थीं। स्त्रियों की कक्षाएं दोपहर के समय लगती थीं। एक सहकारिता-संस्था—'मित्रता की खेती'—ने तो इसी प्रकार अपने यहां निरक्षरों की संख्या घटाकर ७० प्रतिशत से २० प्रतिशत कर ली थी। अधिकतर सहकारिताएं वाचनालय और पुस्तकालय भी चलाती थीं। धर्मार्थ चिकित्सा और घायलों की प्राथमिक सहायता तो सभी सहकारिताओं में की जाती थी।

२७. सहकारिता-संस्थाएं खेलों और सांस्कृतिक कार्यों को भी बढ़ावा देती हैं। हमने देखा कि बास्कट-बॉल का खेल देहातों तक में सर्वत्र लोकप्रिय था। बड़ी सहकारिता-संस्थाओं ने नृत्य और नाटक घर बनाए हुए थे। इस प्रकार सहकारिताएं समाज की ही अंग बनकर चलने का यत्न करती थीं। परन्तु साथ ही यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि ये संस्थाएं समाज-कल्याण और संस्कृति के कार्यों को अपनी अतिरिक्त आय में से ही करती थीं। फर्नीचर आदि अनुत्पादिक सामान पर व्यय कम-से-कम किया जाता था।

२८. हम पहले अध्याय में जिक्र कर चुके हैं कि सहकारिता-संस्थाओं का काम देखने के लिये गांवों में जाने से पहले हम प्रत्येक प्रान्त की राजधानी में उस प्रान्त के कार्यकर्त्ताओं के साथ उनके यहां आन्दोलनकी प्रगति पर चर्चा कर लेते थे। कभी कभी गांवों से लौटने के पश्चात् यह चर्चा फिर होती थी। इन चर्चाओं में बातचीत के मुख्य विषय ये रहते थे : जेचुआन के अतिरिक्त सब प्रान्तों में ९० प्रतिशत से अधिक परिवार देहाती सहकारिता-संस्थाओं के सदस्य बन चुके हैं, जेचु आन में सदस्य बनने वालों की संख्या ८२ प्रतिशत है। यद्यपि अधिकतर सदस्य आन्दोलन के अधिकतम वेग के समय अर्थात् सितम्बर १९५५ से जुलाई १९५६ तक के बीच में बने, परन्तु यह समस्त संख्या गत पांच वर्षों के निरन्तर काम का परिणाम है। बहुत-से किसानों ने पहले परस्पर-सहायक दल अथवा आरम्भिक सहकारिता-संस्था का सदस्य बन कर सम्मिलित काम करना सीखा था। इस प्रकार शांगहाई के आस-पास के देहाती घरों के साठ प्रतिशत, चेकिआंग के उनसठ प्रतिशत और किआंगसू के लगभग साठ प्रतिशत १९५५ से पहले ही संगठित हो चुके थे। सारे देशकी स्थिति निम्न प्रकार थी :

वर्ष	परस्पर-सहायक दलों अथवा सहकारिताओं में संगठित देहाती परिवारों का प्रतिशत	सहकारिताओं के सदस्य बने हुए देहाती परिवारों का प्रतिशत
१९५० . .	१०·७	कोई नहीं
१९५२ . .	४०·०	०·१
१९५३ . .	३९·५	०·२
१९५४ . .	६०·३	०·२
१९५५ . .	६४·९	१४·२
१९५६ जुलाई . .	९२·०	९२·०

२९. सहकारिता-संस्थाएं देखने से हमें इस बात का निश्चय हो गया कि अधिकतर सहकारिताओं ने पहले दो तीन वर्ष तक परस्पर-सहायक दलों के रूप में काम किया था। हां, ऐसे लोग भी थे जो परस्पर-सहायक दलों की स्थिति में से गुजरे बिना ही सहकारिता-संस्थाओं के सदस्य बन गए थे। ऊपर की तालिका से प्रकट होगा कि सितम्बर १९५५ में जो मुहिम छेड़ी गई उसके दो लाभ हुए : (१) संगठित किसानों की संख्या २७ प्रतिशत बढ़ गई और (२) परस्पर-सहायक दलों के स्थान पर उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाओं के रूप में अधिक प्रभावशाली और शक्तिशाली संगठन बन गया। परन्तु यह परिवर्तन न तो अकस्मात् ही हुआ और न रुक-रुक कर। यह पहले से सुविचारित और नियोजित कार्यक्रम का परिणाम था। इसका प्रत्येक कदम चीन में कृषि के क्रमिक परन्तु द्रुत विकास का सूचक एक विशिष्ट चिन्ह था।

सहकारिता-संगठन की सफलताएं

३०. सहकारिता-संस्थाओं ने अपने सदस्यों की भूमि और श्रम को एकत्र करके ऐसा कार्यक्रम बनाया कि उन्हें अपने फालतू समय का उपयोग करने की सुविधा हो गई—विशेषतः शीत ऋतु में, जब कि खेती का काम कुछ ढीला रहता है। सरकार की उदारतापूर्वक ऋण देने की नीति से इसे और भी प्रोत्साहन मिला। परिणाम यह हुआ कि अकेले लियाउनिंग प्रान्त में एक ही मौसम में ३ लाख कुएं और १० हजार छोटे बांध बन कर तैयार हो गए जिससे सिंचाई के प्रदेश का विस्तार

१'६ लाख हेक्टेयर (हेक्टेयर=१० हजार वर्ग मीटर अथवा ढाई एकड़ से कुछ कम) से बढ़ कर ३'६ लाख हेक्टेयर हो गया—अर्थात् सिंचाई में १०० प्रतिशत से अधिक वृद्धि हो गई। मनुष्यों का मल समेटने के लिए एक लाख टट्टियां बनवाई गईं। अगले मौसम में जितने खाद की आवश्यकता पड़ने वाली हो उसका ७० प्रतिशत पहले से एकत्र किया जाने लगा। चेकिआंग प्रान्त में दो फसलें केवल ६ लाख मउ भूमि में ली जाती थीं। १९५६ में ऐसी भूमि का क्षेत्रफल बढ़कर ७० लाख मउ हो गया। किआंगसू प्रान्त में २१ लाख एकड़ में सूखी के बजाय तर खेती की जाने लगी और ३० लाख मउ में गेहूं की दूसरी फसल बोई जाने लगी। केवल १९५५–५६ के जाड़ों में सिंचाई के जितने काम किए गए उतने पिछले तीन वर्षों में मिलकर भी नहीं हुए थे। क्वांगतुंग प्रान्त में ४० लाख मउ सूखी जमीन में सिंचाई की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त ६० लाख मउ में पहले से विद्यमान सिंचाई-व्यवस्था में सुधार किया गया। सहकारिता-संस्थाओं को किसानों का सहयोग मिल जाने के कारण १९५६ के बसन्त में पिछले वर्ष की अपेक्षा ढाई गुणा खाद एकत्र की गई।

३१. हमें बतलाया गया कि आन्दोलन के वेग के समय, सारे देश भर में भीऐसा ही प्रभावशाली काम हुआ। १० करोड़ मउ अथवा १६० लाख एकड़ में सिंचाई की या तो नई व्यवस्था की गई और या पहले से विद्यमान व्यवस्था को सुधारा गया। एक ही मौसम में जितना काम हुआ उतना पिछले ६ वर्षों में मिलकर भी नहीं हुआ था। २० प्रान्तों में मिलकर ४६० लाख मउ भूमि में कम उपजने वाले अनाजों के स्थान पर मकई और आलू आदि अधिक उपजने वाली फसलें बोई जाने लगीं।

३२. चीनी लोग अपनी कृषि का विकास ट्रेक्टर आदि बड़ी मशीनों का प्रयोग किए बिना कर रहे हैं। वे अनुभव करते हैं कि मशीनों का प्रयोग सर्वत्र शीघ्रता से नहीं किया जा सकता। उनका अन्दाजा है कि दूसरी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक मशीनों का प्रयोग खेती की समस्त जमीन के केवल दसवें भाग में हो सकेगा। १९६२ तक प्रति मउ पीछे केवल ३'३ पौण्ड (कोई डेढ़ सेर) उर्वरक दिया जा सकेगा। इन परिस्थितियों के कारण, प्रथम और द्वितीय योजनाओं के काल में उत्पादन बढ़ाने के लिए केवल ऐसे उपाय किए जाएंगे जैसे कि सिंचाई करना, पानी एकत्र करने के काम बनाना, अधिक खाद देना, भूमि को सुधारना, अच्छे बीज बोना, खेती के अधिक अच्छे औजारों का प्रयोग करना और पौधों की रोगों तथा कीड़ों से रक्षा करना आदि। इन उपायों से अब तक जो परिणाम निकले हैं उनसे चीनी लोगों को पूरा सन्तोष है। अब तक जो प्रगति हुई है उसका कुछ अन्दाजा निम्न तालिका से लग सकता है :

	१९४९	१९५२	१९५५
१. क्षेत्रफल (लाख एकड़ों में)			
क. खेती का समस्त क्षेत्रफल . .	२४१८	२६६६	२७२१
ख. सिंचित क्षेत्र . . .	५००	५७७	६४४
ग. वर्ष में दो फसलों का क्षेत्र . .	पता नहीं	११०९	१३७२
२. उत्पादन (लाख टनों में)			
क. फल साग सब्जी आदि . .	१०६४	१५१९	१७२०
ख. धान	४७९	६७३	७६८
ग. गेहूं	१३६	१७८	२२६
घ. कपास . . .	०४	१३	१५
३. उत्पादन प्रति एकड़ (लाख पौण्डों में)			
क. फल साग-सब्जी आदि . .	९४९०	१२२६८	१३१७८
ख. धान	१६८८६	२१५१७	२३८६६
ग. गेहूं	५७२९	६३२५	७६६३
घ. कपास	१४४६	२०८८	२३४०

३३. चीनी लोग १९५२ को अपने हिसाब के लिए आधार-वर्ष मानते हैं। १९५५ में हुए उत्पादन के अंकों से १९४९ और १९५२ दोनों वर्षों की अपेक्षा अधिक वृद्धि प्रकट होती है। चीनी लोग, हम भारतीयों की अपेक्षा, प्रति एकड़ में धान और कपास की पैदावार दुगनी कर लेते हैं। भविष्य में, उत्पादन में और भी उल्लेखनीय वृद्धि होने की आशा है। इसके सम्भावित कारण दो हैं : (१) पहला यह कि जो सहकारिता-संस्थाएं गत १५ महीनों में संगठित हुई हैं वे स्थानीय जन-शक्ति और साधन-सम्पत्ति का प्रयोग अधिक सफलता से करने लगेंगी और (२) दूसरा यह कि उन्हें सरकार की उदारता से ऋण देने और मूल्यों को स्थिर रखने की नीतियों से भी सहायता मिलेगी।

३४. यद्यपि चीन में धान की औसत पैदावार अब भी भारत से बहुत अधिक है, परन्तु वह जापान से काफी कम है। जापानी किसान तो प्रति एकड़ में लगभग ५००० पौण्ड तक धान उत्पन्न कर लेता है। जापान में धान की पैदावार इतनी अधिक होने क कारण वर्षा का अवश्य और फैलकर इकसार होना, और उर्वरकों, कृमि नाशकों और खेती के यन्त्रों का अधिक प्रयोग, हो सकते हैं।

३५. उक्त विवरण से प्रकट है कि चीन में खेती की पैदावार में चौतरफा वृद्धि हुई है। भूमि-सुधार का उद्देश्य निश्चय ही पूर्ण हुआ है, अर्थात् खेती की उत्पादक शक्तियां विकसित हो गई हैं। परन्तु खेती की पैदावार बढ़ाने के लिए इन शक्तियों का उपयोग करने में उल्लेखनीय सहायता सह-कारिता-संस्थाओं से मिली है। "मुक्ति" से पूर्व तक चीन को प्राय: प्रति वर्ष बीस लाख टन अन्न विदेशों से मंगाना पड़ा करता था। वह कपास का आयात भी बड़ी मात्रा में करता था। आज चीन ने न केवल अपनी अन्न की कमी पूरी कर ली है वह थोड़ी मात्रा में उसका निर्यात भी कर रहा है। वह कपास की भी अपनी सब आवश्यकताएं स्वयं पूरी कर रहा है।

३६. हम इतना जिक्र और कर दें कि हमने चीन के देहातों में भूख अथवा कम भोजन मिलने के कोई लक्षण नहीं देखे। प्रत्युत, हमें लोग सर्वत्र अच्छे खाते-पीते दिखाई दिए। उन्होंने हमें बतलाया कि वे पहले से अच्छी हालत में हैं। उन्होंने अपने गरम कपड़े और फर्निचर आदि हमें दिखला कर अपनी समृद्धि का प्रमाण भी दिया। नि:सन्देह उनके रहन-सहन के दर्जे में तरक्की का एक कारण भूमि- धार के समय सामान का पुनर्वितरण भी था। जमींदारों की जमीन और मकानों के अतिरिक्त, उनके फालतू अन्न, पशु, औजार, बरतन-भाण्डे और फर्निचर आदि भी किसानों को बांट दिए गए थे। परन्तु इनके अतिरिक्त, किसानों की कमाई पहले की अपेक्षा बढ़ जाने के अन्य भी अनेक प्रमाण थे। इस सब से हमारा ख्याल होता है कि सहकारिता-संस्थाओं के कारण न केवल देश का उत्पादन बढ़ रहा है, उनके सदस्य भी बिना किसी शंका या सन्देह के उत्साहपूर्वक काम कर रहे हैं।

सातवां अध्याय

चीन की सफलता के कारण

पिछले एक अध्याय में हमने चीन में कृषि-सहकारिताओं की प्रगति का वर्णन किया है। दिसम्बर १९५१ में जब चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति ने उत्पादन के कार्यों में सहकारिता का प्रयोग करने का निश्चय किया तब देश में कृषि-उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाएं ३०० थी। दो वर्ष पश्चात् दिसम्बर १९५३ में इन सहकारिता-संस्थाओं की संख्या १४ हजार से ऊपर पहुंच चुकी थी। १९५४ में यह संख्या १ लाख तक जा पहुंची। जून १९५४ तक यह संख्या बढ़कर ६ लाख ५० हज़ार हो गई। इनमें से अधिकतर सहकारिताएं उत्तरी चीन में बनी थीं, क्योंकि कम्युनिस्ट शासन पहले देश के उसी भाग में हुआ था। परन्तु जुलाई १९५५ से जून १९५६ तक के समय में यह आन्दोलन चीन के अन्य भागों में भी फैल गया और जून १९५६ तक ९२ प्रतिशत से अधिक देहाती परिवार दस लाख सहकारिताओं में से किसी न किसी के सदस्य बन चुके थे। केवल ८ प्रतिशत किसान परिवार स्वतन्त्र रूप से खेती करने वाले रह गए थे। इसी अवधि में, समस्त सहकारिताओं में से लगभग दो-तिहाई उन्नत सहकारिताओं में परिणत हो चुकी थीं, अर्थात उनमें भूमिपर व्यक्ति के स्वामित्व का अन्त होकर सम्मिलित खेती होने लगी थी। उन्नत सहकारिताएं बनाने का आन्दोलन अब भी चल रहा है और चीनीयों को आशा है कि शीघ्र ही सब सहकारिताएं उन्नत उसहकारिताओं में परिणत हो जाएगी। शुरू में अन्दाजा लगाया गया था कि सब किसान परिवारों को सहकारिता-संस्थाओं का सदस्य बनाने के लिए तीन पंचवर्षीय योजनाओं की आवश्यकता पड़ेगी, अर्थात् इस कार्य में पन्द्रह वर्ष का समय लगेगा। परन्तु आन्दोलन की तीव्रता के समय इस कार्य ने इतना वेग पकडा कि १९५५ के उत्तरार्ध में यह अत्यन्त आशावान् चीनियों की आशाओं से भी आगे निकल गया। हमें चीनी नेताओं ने बतलाया कि उन्हें १९५६ के अन्त एक यह कार्यक्रम पूरा हो जाने की आशा है। जब हम वहां से चले तब हमें सहकारिताओं के सदस्य किसान-परिवारों की संख्या ९६ प्रतिशत बतलाई गई थी।

२. चीनियों को कृषि-सहकारिताएं बनाने में जो कल्पनातीत सफलता हुई है उसे देखकर, चीन के भीतर और बाहर के सब लोग आश्चर्यचकित रह गए हैं। हम भारतीय लोग खेती को निजी व्यवसाय के रूप में ही देखने के अभ्यासी हैं। इस कारण हमारे दल को तो चीनी सफलता एक जादू-सी लगी। स्वभावतः यह देखने वाले के मन में प्रथम प्रश्न यह उठता है कि यह सब इतना शीघ्र हो कैसे गया? इस प्रश्न का महत्व अन्य देशों में कृषि-सहकारिताओं का इतिहास देखने पर और भी अधिक बढ़ जाता है। इस कारण चीन की असाधारण सफलता के कारणों का अध्ययन करने की विशेष आवश्यकता है।

भूमि-सुधार

३. सहकारिताओं के संगठन से पूर्व, चीन में विकास का उल्लेखनीय कार्य, भूमि-सुधार के लिये क्रान्तिकारी उपायों का अवलम्बन करने का था। इन सुधारों के रूप का और बिना किसी लिहाज़ या मुरव्वत के इन्हें शीघ्रता-पूर्वक कर डालने की विधि का, कृषि-सहकारिताओं की प्रगति पर जितना प्रभाव पड़ा उतना अन्य किसी बात का नहीं पड़ा। भूमि-सुधार से पूर्व, चीन में समस्त कृषि-योग्य भूमि के ५३ प्रतिशत भाग के स्वामी, जमींदारों और सम्पन्न किसानों के केवल दस प्रतिशत परिवार थे। ९० प्रतिशत किसान परिवार मध्य-वित्त और दरिद्र वर्गों के थे, उनके पास समस्त भूमि का ४१ प्रतिशत से भी कम भाग था। भूमि-सुधार के पश्चात् किसी एक परिवार की अधिकतम भूमि का परिमाण औसत परिवार की भूमि के दुगने से अधिक नहीं रहा। जो भी कोई खेती करना चाहता था और कर सकता था, वह चाहे स्त्री थी या पुरुष, उसे भूमि दे दी गई। खेती की समस्त भूमि तब लगभग साढ़े २७ करोड़ एकड़ थी। इसमें से कोई ११ करोड़

८० लाख एकड़ भूमि ३० करोड़ किसानों को बांट दी गई। भूमि के अतिरिक्त, जमींदारों के लगभग ३ करोड़ ८० लाख कमरों वाले मकान, कोई ३ करोड़ पशु, ३ करोड़ ६० लाख खेती के औजार, और लगभग ५० लाख टन अन्न भी जमींदारों से छीनकर किसानों को बांट दिया गया। इस प्रकार चीनियों ने एक ही चोट में, तीन वर्ष से भी कम समय में, न केवल जमींदारी का अन्त कर डाला, निजी सम्पन्न किसानों की व्यवस्था के अवशेष भी समाप्त कर दिये।

४. इन सब परिवर्तनों का ढांचा चीन के भूमि-सुधार कानून में विद्यमान था। इन सुधारों के कार्य में किसानों का निकट सहयोग था। प्रत्येक ग्राम, शियांग (ग्राम-मण्डल), चुई (लगभग तहसील के समान शासन की इकाई) और प्रान्त में किसान-संघ बना दिए गए। ग्रामों के किसान-संघों ने ही समाज में प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति का निर्णय किया, और इसी के आधार पर भूमि-सुधार, भूमि की जब्ती और उसके वितरण के कार्य किए गए। निःसन्देह किसान-संघों के निर्णयों की सम्पुष्टि उच्चतर संगठनों और सरकार से करानी पड़ती थी। जिन व्यक्तियों पर भूमि-सुधारों का प्रतिकूल प्रभाव पड़ता था उन्हें अपील करने का अधिकार भी था। परन्तु व्यवहार में ग्रामीण संघों के निर्णय प्रायः सम्पुष्ट ही कर दिये जाते थे। जब वे भूल करते थे तब भी उनके निर्णयों को उलट डालने के स्थान पर, उन्हें समझा-बुझाकर उन्हें उनसे ही बदलवा दिया जाता था। इस प्रकार किसान जनता को संगठित करके उसे अपने पांवों पर खड़ा कर दिया गया। उन्हें अनुभव करवा दिया गया कि वे भी सरकार के अंग हैं और उसके अधिकार-प्रयोग में उनका भी भाग रहता है। इस प्रक्रिया से, सरकार और कम्युनिस्ट पार्टी किसानों के घनिष्ठ सम्पर्क में आ गए—जनता के निकट तो वे पहले से थे ही—इस कारण आगे चल कर उन्हें चीन की भूमि-व्यवस्था में परिवर्तन करने में बड़ी सुगमता हुई। पार्टी के अध्यक्ष श्री लिउ-शाउ-ची ने चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की आठवीं राष्ट्रीय कांग्रेस के सामने जो राजनीतिक प्रतिवेदन उपस्थित किया था उसमें भी उन्होंने, इस परिवर्तन में भूमि-सुधार के महत्व की चर्चा विशेष रूप से की थी। उन्होंने लिखा था :

> "भूमि-सुधार भली भांति पूरे हो चुकने पर, हमने सहकारिता की कृषि का आन्दोलन उसके आधार पर ही आरम्भ किया। भूमि-सुधार करते हुए हमारी पार्टी ने, केवल सरकारी आज्ञा का सहारा लेकर, भूमि किसानों को 'नज़र' कर देने के सरल मार्ग का अवलम्बन नहीं किया। चीन में जनता का लोकतन्त्री शासन स्थापित हो जाने के पश्चात् पूरे तीन वर्ष तक हम किसानों की, विशेषतः गरीब किसानों की, वर्ग-चेतना जागृत करने में लगे रहे, इसके लिए हमने भूमि-सुधार का कार्य भी किसानों के ही संघर्ष द्वारा पूरा किया। सचमुच क्या हमें इस कार्य में इतना समय लगा देना चाहिये था? हमारा ख्याल है कि इतना समय लगाना सर्वथा आवश्यक था। हमने इस उपाय का अवलम्बन किया था, इसीलिए किसान जनता अपने पांवों पर खड़ी हो गई, उसने अपना संगठन स्वयं कर लिया, वह कम्युनिस्ट पार्टी और जनता की सरकार द्वारा दिखलाए हुए मार्ग पर बढ़ चली, और उसने शासन के तथा ग्रामों की शस्त्र-सज्जित सेना के सूत्र कसकर अपने हाथ में पकड़ लिए। इस प्रकार, भूमि-सुधार को, देश की अर्थव्यवस्था में न केवल जमींदारों के पृथक् वर्ग का अन्त करने और सम्पन्न किसानों की स्थिति अतिनिर्बल कर देने में सफलता हो गई, राज-नीति के दृष्टि से भी उसने जमींदारों के वर्ग की प्रभुता का अन्त और सम्पन्न किसानों को शेष जनता से पृथक् कर दिया। जागृत किसानों की अधिकतर जनता मानने लगी कि जमीं-दारों और सम्पन्न किसानों द्वारा जनता का शोषण किया जाना शर्म की बात है। इस प्रकार ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो गई कि उनमें पीछे से कृषि को समाजवादी ढंग पर करना सुगम हो गया और उसमें सहकारिता का पुट देने के लिएं जितने समय की आवश्यकता थी वह बहुत घट गया।"

कार्यक्रमों का क्रमिक विकास

५. भूमि-सुधार के तुरन्त पश्चात् सारा ध्यान सहकारिता के काम पर केन्द्रित कर दिया गया। उसका रूप आरम्भ में फसल के समय परस्पर-सहायक दल संगठित करने का रहा। वैयक्तिक स्वामित्व पर आधारित अर्थव्यवस्था से समाजवाद की ओर किसानों की प्रगति की यह पहली

मंजिल थी। शीघ्र ही, केवल फ़सल के समय के लिए संगठित परस्पर-सहायक दलों ने किसानों के स्थायी परस्पर-सहायक दलों का रूप धारण कर लिया। इन दलों के सदस्य श्रम तो मिल कर सम्मिलित रूप से करते थे, परन्तु उसका आधार सम्पत्ति का निजी स्वामित्व और निजी प्रबन्ध ही था। ये दल १९५१ में आरम्भ हुए थे, और १९५४ तक उनमें किसानों के ६० प्रतिशत परिवार सम्मिलित हो चुके थे। कृषि-उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाएं बनाने के आन्दोलन का विकास इसी समय हुआ। परन्तु इस समय भी उत्पादकों की अर्ध-समाजवादी आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं को ही पसन्द किया जाता था। उनमें सम्मिलित श्रम करके, भूमियों का प्रबन्ध एक ही जगह समाजवादी ढंग से किया जाता था। उनके सदस्य बीस, तीस या लगभग इतने ही किसान होते थे जो स्वेच्छया उनमें सम्मिलित होते थे। एक-एक गांव में बहुधा कई-कई सहकारिताएं होती थीं। शुरू-शुरू में इन सहकारिताओं का संगठन उस इलाके की कम्युनिस्ट पार्टी के चुस्त सदस्य करते थे। धीरे-धीरे सारे गांव को शामिल करके बड़ी सहकारिता-संस्थाएं बनने लगीं, परन्तु उनमें भी किसान अपनी ज़मीन के मालिक आप ही बने रहे और समस्त उत्पादन का ३० से ४५ प्रतिशत तक अपने स्वामित्व के लाभांश के रूप में वसूल करते रहे। अन्त को, आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं को पूर्ण-समाजवादी उन्नत सहकारिताओं में परिणत करने के आन्दोलन का विकास, १९५५ में जाकर हुआ। इसी प्रकार, सहकारिता-संस्थाओं का सदस्य कैसे किसानों को बनाया जाय इसका निश्चय क्रमशः किया गया। सहकारिताओं के आरम्भिक विकास के समय, उनका सदस्य केवल गरीब और उन निम्न मध्य-वित्त किसानों को बनाया जाता था जिनकी निर्धन अवस्था में भूमि-सुधार के पश्चात् सुधार हो गया था। अनिच्छुक मध्य-वित्त किसानों को सहकारिताओं में नहीं घसीटा जाता था, क्योंकि इन संस्थाओं का सदस्य होना एक अधिकार माना जाता था और उसे नियन्त्रित करना आवश्यक था। वस्तुतः सहकारिताओं के विकास की आरम्भिक दशा में साधारण नीति यह थी कि अपेक्षाकृत अच्छी स्थिति के मध्य-वित्त किसानों को उनका सदस्य न बनाया जाए। गरीब और निम्न मध्य-वित्त किसानों की सहकारिताओं की जड़ भली प्रकार जम जाने के पश्चात् ही, अच्छी स्थिति के मध्यवित्त किसानों को उनमें सम्मिलित किया जाने लगा। ज़मींदारों और सम्पन्न किसानों को उनमें सबसे पीछे लिया गया। परन्तु स्वेच्छया सदस्य बनने की नीति का पालन निरन्तर किया जाता रहा। जून १९५६ के अन्त तक भी ८ प्रतिशत से अधिक किसान परिवार सहकारिताओं के सदस्य नहीं बने थे। स्वेच्छा और क्रमिकता के सिद्धान्त पर चलने के कारण, सारे आन्दोलन को स्थिर होने में बड़ी सहायता मिली। सरकार और नेताओं ने मिलकर जो मार्ग निर्धारित कर दिया था उसपर किसानों को धीरे-धीरे चलाया गया और उन्हें यह अनुभव नहीं होने दिया गया कि उनके साथ ज़बरदस्ती की जा रही है। आगे बढ़ते हुए, हरेक मंज़िल पर, जितना रास्ता तय हो चुका था उसे देख लिया जाता था, और अगला कदम उठाने से पहले तब तक तय की हुई मंज़िल को मजबूत बना लिया जाता था।

सहकारी प्रबन्ध की विधि

६. चीन में उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाओं को जो सफलता हुई है उसका एक बड़ा कारण यह है कि चीनी नेता प्रत्येक सहकारिता में श्रमिकों को संगठित करने की उपयुक्त विधियां निकालने, काम मिलकर करने, अनुशासन रखने, मेहनत से अधिक अच्छा काम करके दिखाने के लिए बढ़ावा देने और उत्पादन का कार्यक्रम पहले से बना लेने पर, बहुत जोर देते थे। सब श्रमिकों को दलों में बांटकर, दलों की भी कई टोलियां बना दी जाती हैं। काम करने के लिए प्रत्येक दल के सुपुर्द एक क्षेत्र कर दिया जाता है। प्रत्येक सहकारिता की एक कार्यकारिणी-समिति होती है, जिसका चुनाव साधारण सभा के सदस्य करते हैं। यह कार्यकारिणी ही, दलों और टोलियों के नेता नियुक्त करती है। ऐसा करते हुए वह उनके सदस्यों और सहकारिता में कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिनिधियों से भी सलाह कर लेती है। कार्यकारिणी-समिति के अतिरिक्त, प्रत्येक सहकारिता में एक निरीक्षक-समिति होती है, उसका चुनाव भी साधारण सभा अथवा उसके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि करते हैं। निरीक्षक-समिति का काम यह देखना होता है कि प्रबन्ध-समिति के सदस्य सहकारिता के नियमों और साधारण-सभा के निश्चयों का ठीक प्रकार पालन करते रहें, हिसाब-किताब ठीक रखा जाए और सहकारिता की सम्पत्ति का प्रबन्ध और रक्षा ठीक

प्रकार किये जाएं। काम बांटते हुए, प्रत्येक दल या टोली अपने प्रत्येक सदस्य की क्षमता का विचार कर लेता है। स्त्रियों की विशेष शारीरिक असमर्थताओं का भी उचित ध्यान रक्खा जाता है। कार्यकर्ताओं का उत्साह बढ़ाने के लिये, अधिकतर कामों को खंडों में बांटकर किया जाता है और पारिश्रमिक का निश्चय इस प्रकार किया जाता है कि प्रत्येक सदस्य के काम के परिमाण और उत्कृष्टता का विचार हो जाए। इसके लिए काम के सैकड़ों पैमाने निर्धारित कर दिए गए हैं। इस प्रकार, चीनियों को सहकारी खेती के दिन-प्रति-दिन के काम में सदस्यों का स्वेच्छा-सहयोग प्राप्त करने, अनुशासन स्थिर रखने, प्रबन्ध अच्छा करने और सम्मिलित काम में भी सूझ-बूझ कायम रखने में अच्छी सफलता हुई है। प्रत्येक सहकारिता-संस्था उत्पादन का अपना कार्यक्रम बनाकर, उसे शियांग की सरकार से स्वीकृत करवा लेती है। कृषि-बैंक भी उत्पादन का कार्यक्रम पूरा करने लिए बहुतैरी सहायता देता है। प्रत्येक चुई में नई-नई और अच्छी अच्छी विधियों का प्रचार करने के लिए एक केन्द्र होता है, उसके कार्यकर्ता आवश्यक विधियों का निर्देश देते रहते हैं। सहकारिता-संस्थाओं को उत्पादन-कार्य के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है उन्हें मुहैया करने की भी व्यवस्था रहती है। व्यापारिक फसलों के लिए पेशगी रकमें दे दी जाती हैं। सहकारिता-संस्थाओं को नुकसान की जोखिम से बचाने के लिए प्रधान फ़सलों के मूल्य की सरकार गारण्टी दे देती है।

सामान की खरीद

७. चीन की भूमि-व्यवस्था का काया-पलट करने में वहां की कम्युनिस्ट पार्टी ने निर्णायक भाग लिया है। रूसी राज-क्रान्ति के विपरीत, चीन की क्रान्ति किसानों की क्रान्ति थी। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का किसानों के साथ बहुत पुराना सम्बन्ध था। यह पार्टी १९२१ में बनी थी, और तभी से जहां कहीं कम्युनिस्ट सरकार की स्थापना हुई वहीं यह भूमि का पुनर्वितरण करने का काम उत्साह-पूर्वक करती रही। हम ऊपर बतला चुके हैं कि किस प्रकार भूमि-सुधार के कार्यक्रम की पूर्ति के समय कम्युनिस्ट पार्टी किसान जनता में घुल-मिल गई थी। चिआंग-काई-शेक की सरकार के समय जो मुद्रा-स्फीति फैली हुई थी उसका नियन्त्रण कम्युनिस्टों ने बहुत थोड़े समय में कर लिया। खेती की पैदावार का मूल्य निश्चित कर दिया गया। यह प्रबन्ध भी किया गया कि किसानों को उनकी नित्य आवश्यकता की ऐसी वस्तुएं निश्चित मूल्यपर मिल जाएं जो खेती से उत्पन्न नहीं होती। इन सब कारणों से, किसानों का विश्वास सरकार और कम्युनिस्ट पार्टी में जम गया और उन्हें सरकार और पार्टी ने जो भी सलाह दी उस पर अमल करने के लिए वे झट तैयार हो गए। प्रत्येक ग्राम, प्रत्येक सहकारिता और प्रत्येक दल में कम्युनिस्ट पार्टी के उत्साही सदस्य विद्यमान थे। पार्टी के नए सदस्य स्थानीय किसानों में से ही भरती करके, उन्हें देहातों में उत्साहपूर्वक काम करने के लिए प्रशिक्षित करें लिया जाता था। हम जिन सदस्यों से मिले उनके अधिकतर नवयुवक थे। वे देशभक्ति की भावना से अनुप्राणित और कम्युनिस्ट आदर्शों से प्रेरित थे। स्थानीय लोगों में से भरती हुआ होने के कारण वे उनके साथ खूब घुले-मिले रहते थे और उनके बहुत अच्छे नेता सिद्ध हो रहे थे। किसानों को सहकारिता-संस्थाओं में संगठित करने का उत्तरदायित्व उन पर ही था। वे किसानों के मित्र, मन्त्रणादाता और मार्गदर्शक बने हुए थे। सरकारी कर्मचारियों का भाग पुनर्गठन में अपेक्षाकृत गौण ही रहता था।

अभियोग-सभाएं

८. एक आलोचना यह की जाती है कि कम्युनिस्ट देशों में सरकार जो चाहे सो कर सकती है, इस कारण उसके लिए अपना मनचाहा कोई भी काम करवा लेना सरल होता है। चीन में भी लोगों को सहकारिताओं का सदस्य बनने के लिए विवश किया गया होगा। इसी सम्बन्ध में उन "अभियोग-सभाओं" का ज़िक्र किया जाता है जो कि भूमि के पुनर्वितरण से पहले सारे चीन में की गई थीं, और यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि इन सभाओं में जो हिंसा-पूर्ण ज्यादतियां की जाती थीं उनके कारण लोगों के मन बहुत डर गए होंगे और उस डर के ज़ोर पर ही सरकार के लिए लोगों को सहकारिताओं में सम्मिलित होने के लिए विवश करना सुगम हो गया होगा।

निःसन्देह ये अभियोग-सभाएं चीनियों की सर्वथा अपनी सूझ थीं। चीन के ज़मींदार, ज़मीन के मालिक तो थे ही, कुछ और भी थे। ग्रामों में वे सरकार के प्रतिनिधि भी थे। उनको अनेक अधिकार प्राप्त थे और वे बहुधा उनका दुरुपयोग किया करते थे। चीन में बहुत-सा साहित्य इन ज़मींदारों के अत्याचारों पर ही लिखा गया है। उस समय की सरकार पर उनका इतना प्रभाव था कि वह उन के विरुद्ध किसानों की शिकायतों का कोई इलाज नहीं कर सकती थी। कम्युनिस्ट लोग ज़मींदारों को, किसानों और उनकी स्त्रियों के साथ किए गए अपराधों के कारण ही नहीं, उनके राजनीतिक अपराधों के कारण भी, दण्डित करना चाहते थे। सरकार चाहती तो दूर-दूर के ज़िलों और प्रान्तों में विशेष अदालतें बिठा कर भी उन पर मुकदमे चला सकती थी। परन्तु चीनी नेता इस अवसर का लाभ उठाकर किसानों में वर्ग-चेतना उत्पन्न करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने इन अभियोग-सभाओं का संगठन किया। इन सभाओं में सब किसान स्त्री और पुरुष दोनों—एकत्र होकर ज़मींदारों के विरुद्ध अभियोग लगाते और उन्हें सत्य सिद्ध करके यह सिफारिश कर देते थे कि अभियुक्तों को सज़ा क्या दी जाए। हमें बतलाया गया कि अभियोग-सभाओं में जो सज़ाएं दी जाती थीं उन्हें प्रान्तिक सरकारों से स्वीकृत करवाना पड़ता था और उनके विरुद्ध अपील करने का अधिकार भी अभियुक्त को होता था। हमें यह भी बतलाया गया कि मृत्यु-दण्ड केवल कत्ल अथवा स्त्रियों के साथ अत्याचार करने सरीखे गम्भीर अपराधों के कारण दिया जाता था। हम लोग न्याय की इससे सर्वथा भिन्न शासन-प्रणाली के अभ्यासी हैं। इस कारण हमें चीनियों द्वारा बरता गया तरीका अति उद्वेगजनक जान पड़ता है। वर्ग-संघर्ष को बढ़ावा देने का उनका लक्ष्य भी हमें उतना ही अनुचित लगता है। परन्तु यहां हमारा उद्देश्य केवल इतना देखने का है कि इस सबका उस सहकारिता-आन्दोलन पर क्या प्रभाव पड़ा जिसका विकास पांच वर्ष पश्चात् हुआ। अभियोग-सभाओं के कारण ज़मींदारों और उनसे सम्बन्ध रखने वालों पर आतंक तो छा ही गया होगा। सम्भव है कि इन सभाओं का प्रभाव सम्पन्न किसानों पर भी पड़ा हो। तो क्या इन सभाओं से मध्य-वित्त, निम्न मध्य-वित्त और गरीब किसानों में भी भय का संचार हो गया था? इन सभाओं में अभियोक्ता और निर्णायक, दोनों का काम वही करते थे। चीन की सरकार और कम्युनिस्ट पार्टी ने यह सब जानबूझ कर किसानों को अपना मित्र बनाने, उनसे वर्ग-चेतना उत्पन्न करने और उन्हें उकसाने के लिये किया था। इसलिये ऐसी कोई सम्भावना नहीं है कि इन सभाओं के कारण उनके मन में भय का संचार हो गया होगा। उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाएं बनाने के आन्दोलन की आरम्भिक अवस्था में, ज़मींदारों और सम्पन्न किसानों को तो सहकारिताओं से पृथक् रक्खा ही जाता था, मध्य-वित्त किसानों तक को उनमें सम्मिलित नहीं किया जाता था, उनकी सदस्यता केवल निम्न मध्य-वित्त और गरीब किसानों तक सीमित थी। इसलिए हमारा ख्याल है कि अभियोग-सभाओं के हिंसामय कार्यों का प्रभाव सहकारिता-आन्दोलन को बढ़ाने पर अधिक नहीं पड़ा होगा। सरकार की नीति यह थी कि जिन लोगों को वह पसन्द नहीं करती थी और जिनकी ओर से उसे सरकार-विरोधी दल संगठित किए जाने का भय हो सकता था उनको काटकर समाज से पृथक् कर दिया जाए। अभियोग सभाएं भी इस नीति पर चलने वाली सरकार का ही अंग थीं। परन्तु इन सभाओं आदि ने अधिकतर किसानों को सहकारिता-संस्थाएं बनाने के लिए तैयार कर दिया होगा, इस बात की सम्भावना बहुत ही कम है।

९. चीनी सरकार और कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी अनेक घोषणाओं में बार-बार दोहराया है कि उत्पादकों की सहकारिता-संस्थायें बनाते हुए हमारा ज़ोर स्वेच्छा-सहयोग पर बहुत अधिक रहता था। श्री लुई-शाउ-ची ने अपने पूर्व-निर्दिष्ट 'राजनीतिक प्रतिवेदन' में लिखा है :

> "मध्य-वित्त किसानों के साथ अपनी मित्रता दृढ़ करने का मूलमन्त्र यह है कि कृषि-सहकारिता के आन्दोलन में स्वेच्छा-सहयोग की नीति का दृढ़ता से पालन किया जाए और परस्पर लाभ पहुंचाने की बात को न भुलाया जाए। स्वेच्छा-सहयोग और परस्पर लाभ पहुंचाने की नीति, बिना अपवाद के सबके लिए अच्छी है, परन्तु मध्य-वित्त किसानों के लिए इसका महत्व विशेष रूप से अधिक है। अनिच्छुक मध्य-वित्त किसानों को सहकारिता-संस्था में घसीट लेने का तो पार्टी निषेध करती ही है, वह यह भी कहती है कि इन संस्थाओं के विकास की आरम्भिक अवस्था में पहले केवल गरीब किसानों को सदस्य बनाया जाए

और अपेक्षाकृत अच्छे मध्य-वित्त किसानों को संस्था में सम्मिलित न किया जाए। पार्टी ने यह भी निश्चय किया है कि सहकारिता में मध्य-वित्त किसानों के सम्मिलित होने से पहले और पीछे न तो उनके स्वार्थों पर कोई आंच आने दी जाए और न उनसे कोई लाभ उठाया जाए, विशेषतः जब उत्पादन के उन साधनों के प्रयोग का प्रश्न हो जोकि उन्होंने सहकारिता में सम्मिलित कर लेने के लिए दिए हैं। यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं कि मध्य-वित्त किसानों को भी, न तो गरीब किसानों के स्वार्थों की हानि करने दी जाती है और न उनसे लाभ उठाने दिया जाता है।"

चीन में केवल एक पार्टी का राज होने का एक लाभ यह भी है कि लोगों को किसी विशेष प्रकार का व्यवहार करने के लिए प्रभावित किया जा सकता है। इस व्यवस्था में शासक पार्टी के विरोध का विकास तथा संगठन नहीं हो सकता, उसे पद-च्युत कर दिए जाने का प्रायः कोई भय नहीं रहता, और इसलिए वह सरकार द्वारा आरम्भ किए गए कार्यक्रमों के संगठित विरोध का उत्साह-भंग करती रहती है। वह ध्यान रखती है कि लोगों तक उसके अतिरिक्त अन्य किसी के विचार न पहुंचने पावें। इन परिस्थितियों में किसी विशेष कार्यक्रम पर लोगों का विश्वास जमाना अपेक्षाकृत सुगम होता है। यदि कोई व्यक्ति सरकार से सहमत न भी हो तो भी वह उसके विरुद्ध विरोध का संगठन नहीं कर सकता। इस प्रकार चीन में यदि कोई सहकारिता-संस्थामें सम्मिलित न भी होना चाहे तो वह पृथक् रह सकता और अकेला अपनी खेती कर सकता है। परन्तु यदि वह सहकारिता-कार्यक्रम के विरुद्ध विरोध कर संगठन करे तो सम्भव है कि वह सरकार की अप्रसन्नता का भाजन बन जाए। सभी कम्युनिस्ट देशों में, संसदीय लोकतन्त्री देशों की अपेक्षा, सरकार का आतंक बहुत अधिक रहता है, इसलिए जब वह लोगों को सहकारिताओं में संगठित करने की निश्चित नीति पर चलती और उसे सफल बनाने के सब प्रयत्न करने लगती है तब वह वातावरण ही ऐसा बना देती है उसमें उसका विरोध करना कठिन हो जाता है। सम्भव है कि लोग सरकार से आंतकित और भयभीत होकर भी सहकारिताओं में सम्मिलित हो गए हों। परन्तु हमारा विचार यही है कि किसानों की प्रबल बहुसंख्या सहकारिताओं में सम्मिलित यह सोचकर ही हुई होगी कि उससे उनका भला होगा। यदि किसानों को बहुसंख्या में दबाकर सहकारिताओं में सम्मिलित किया गया होता तो उनकी वर्तमान मनोवृत्ति पर उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य दिखलाई देता। कहीं भी किसी विशेष मामले में लोगों की इच्छा अथवा सम्पति का जानना बहुत कठिन होता है। तिसपर यदि लोगों के साथ बात चीत केवल दुभाषियों के द्वारा की जा सके, और वह भी स्वल्पकाल की भेंट भर में, तो कठिनाइयां और भी अधिक बढ़ जाती हैं। इन सब बाधाओं के बावजूद, हम जिन किसानों से मिले उनके मन की बात जानने का हमने यथाशक्ति पूरा प्रयत्न किया। हमने सहकारिता-संस्थाओं के पदाधिकारियों, सदस्यों, सदस्येतर किसानों, और भूतपूर्व जमींदार सदस्यों आदि नाना प्रकार के लोगों से वार्तालाप किया। हमने अपने चारों ओर एकत्र हो जाने वाली भीड़ के लोगों का भी मन जानने का यत्न किया। चीनी जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हम जिन जिन लोगों के सम्पर्क में आए उन सबसे हमने ये प्रश्न कर-करके देखे। सारांश यह कि जिन बाधाओं की हमने ऊपर चर्चा की है उनकी सीमा में रहते हुए, हम सहकारिताओं का वातावरण जानने के लिए जो कुछ कर सकते थे, एक 'गैलपपोल,' की विधि को छोड़ कर, हमने वह सब कुछ किया। हमारा ख्याल है कि सहकारिताओं में काम करने वाले किसानों में से अधिकतर सर्वथा सुखी हैं। किसी प्रकार के दबाव अथवा विवशता के विपरीत, हमने देहाती चीनियों को प्रसन्नता से काम करते देखा। हमें लगा कि एक राष्ट्र नया जन्म लेकर, नष्ट हुए समय की पूर्ति करने का प्रयत्न कर रहा है और उसे अपने भविष्य में पूरा विश्वास है। देहातों में एक नई क्रान्ति सी हो रही, है और उसका प्रधान प्रेरक कारण लोगों का भय नहीं, अपितु उनकी मानसिक उथल-पुथल है। उसका जन्म, किसी भी शासन के कुछ भी किए, नहीं हो सकता था। चीन में सर्वत्र हमें ऐसे निःस्वार्थ और अनुशासन-बद्ध नेता जनता का मार्ग-प्रदर्शन करते हुए दिखलाई पड़े जो अपने देश को यथाशीघ्र एक शक्तिशाली तथा आधुनिक औद्योगिक राष्ट्र बना डालने की उच्च भावना से अनुप्राणित थे। वे पूर्ण विश्वास के साथ लोगों को जीवन की नवीन प्रणाली अपनाने के लिए प्रेरित कर रहे थे : अनेक स्थानों पर किसानों ने हमसे कहा कि अब हमारी अवस्था पहले से अच्छी है। हमने

जो सहकारिताएं देखीं उनमें प्रत्येक हमें बतलाया गया कि उत्पादन में पहले की अपेक्षा खासी वृद्धि हुई है और लोगों को अब खाने और पहनने को, पहले से अधिक मिलने लगा है। सहकारिता-संस्थाओं ने जो अनेक सुधार कर दिये थे वे सब उन्होंने हमको दिखलाये। उन्होंने बतलाया कि बहुत सी सहकारिताएं अपने निर्धारित लक्ष्य से भी आगे बढ़ चुकी हैं। लिआउनींग प्रान्त में कुएं खोदने का लक्ष्य डेढ़ लाख रक्खा गया था, परन्तु कुछ ही वर्ष में तीन लाख कुएं खुद गये और सिंचाई की भूमि का परिमाण दुगना हो गया। हमें बतलाया गया कि सहकारिताओं में खेती से पहले की अपेक्षा अधिक घनी पैदावार ली जाती है। यह स्वाभाविक ही है कि इन सब विकास-कार्यों का फल, उत्पादन की वृद्धि और रहन-सहन का दर्जा ऊंचा उठ जाने के रूप में प्रत्यक्ष दिखलाई दे। दबाव से उत्साह का नाश होता है, वृद्धि नहीं। हमने लोगों को जिस उत्साह और तत्परता से काम करते देखा वह सहकारिता-संस्थाओं में दबाकर भरती किये हुए लोगों में नहीं हो सकता था। चीनियों का देशभक्ति-पूर्ण जोश देखकर हमें अपने देश वासियों के उस देशभक्ति-भरे उत्साह व जोश की याद हो आई जो कि उनमें इस शताब्दी के सन् ३०–३१ और ४२–४३ के स्वातन्त्र्य आन्दोलनों के समय भर गया था। अपनी आय बढ़ जाने और रहन-सहन अच्छा हो जाने को तो चीनी किसान, उत्पादकों की सहकारिताओं का केवल एक पहलू मानते थे। वे बार-बार कहते थे कि सहकारिताओं में सम्मिलित हम, अपने देश की उन्नति करने और अपने समाज का संगठन समाजवादी बनाने के लिये, हुए हैं। किसान जनता राजनीतिक दृष्टि से कितनी जागृत हो गई और देशभक्त बन गई है, यह सिद्ध करने के लिये हमें अनेक किस्से सुनाये गये। उनमें से एक का जिक्र हम यहां भी किये देते हैं। उत्तर-पश्चिम की एक सहकारिता-संस्था अच्छी उन्नति कर रही थी। उसकी एक सुअरि ने जाड़ों के मौसम में एक रात को कई बच्चे दिये। उस सहकारिता की सदस्या एक स्त्री ने यह सोचकर उन बच्चों को लाकर अपने बिस्तर में सुला दिया कि यदि कहीं ये सरदी के मारे मर गये तो राष्ट्र की हानि हो जायगी। शहरों और गांवों की जनता के बहुत बड़े भाग में इस प्रकार की जागृति का उत्पन्न कर देना चीन के वर्तमान शासन की एक बहुत बड़ी सफलता है, और उत्पादकों की सहकारिताओं के सफल होने का बड़ा कारण भी यही है।

अर्थ-व्यवस्था के अन्य भागों का विकास

१०. इस प्रकार सहकारिता-आन्दोलन के समाजवादी पहलू का निरन्तर प्रचार करते रहने का परिणाम यह हुआ कि उससे समाज का ढांचा ही बदल गया। इसी समय देश के जीवन के अन्य भागों में जो परिवर्तन हुए उनसे देहाती जीवन को परिवर्तित करने में बहुत सहायता और सहारा मिला। प्रतीत होता है कि आन्दोलन की तीव्रता के समय, सारे देश की अर्थ-व्यवस्था, समाजवादी परिवर्तन की लहर में बह-सी गई थी। उसका परिणाम यह हुआ कि दस्तकारियां और गृहोद्योग तो सहकारिताओं में परिणत हो गये और बड़े-बड़े उद्योग तथा व्यापार निजी और सरकारी संयुक्त प्रयत्न से चलाये जाने लगे। कृषि के अतिरिक्त भी अन्य क्षेत्रों में यह समाजवादी प्रवृत्ति चल जाने से, कृषि के क्षेत्र में समाजवादी परिवर्तन के लिये बहुत अनुकूल वातावरण तैयार हो गया और किसान बहुत जल्दी जल्दी सहकारिता-संस्थाओं में संगठित होने लगे।

इस कार्य में युवकों का भाग

११. सहकारिता आन्दोलन के इतना तीव्र हो जाने का एक और कारण यह हुआ कि चीनियों को देहातों में बहुत बढ़िया नेता तैयार करने में खूब सफलता हुई। हम यह देखकर बहुत प्रभावित हुए कि सहकारिता आन्दोलन के प्रायः सभी नेता स्त्री और पुरुष दोनों—नवयुवक थे। उनमें से अधिकतर अभी अपनी आयु की बीसी और तीसी में ही थे। सहकारिता आन्दोलन को वेगवान् बनाने में इन नवयुवक नेताओं का कार्य बड़ा प्रभावशाली था। उन्हें तैयार करने के लिये उनके व्यवहार में बहुत परिवर्तन करना पड़ा। परन्तु बूढ़ों की अपेक्षा युवकों में परिवर्तन अधिक सुगमता से किया जा सकता है। हमने देखा कि ये युवक नेता अपना काम बड़ी चतुरता और कुशलता से, करथे थे। उनका व्यवहार-प्रेम-तथा-प्रसन्नतामय था, जिससे अन्दाज होता था कि वे अपना काम

किसानों पर हुक्म चलाने के बजाय, उन्हें समझा-बुझाकर और मनाकर निकाल लेते थे। वे अपनी-अपनी सहकारिता की छोटी बड़ी सब बातों से परिचित जान पड़ते थे। प्रतीत होता है कि उन्हें सहकारिता के आदर्शों के अतिरिक्त, उत्पादन में वृद्धि करने के व्यावहारिक उपायों का प्रशिक्षण भी भली भांति दिया गया था। सहकारिता-संस्थाओं के अध्यक्षों और उपाध्यक्षों में स्त्रियों की संख्या भी खासी थी। यह एक परम्परा सी जान पड़ती थी कि प्रत्येक सहकारिता-संस्था के अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्षों में एक अवश्य स्त्री ही होनी चाहिये। नेतृत्व के गुणों में स्त्रियां हमें पुरुषों से किसी भी प्रकार कम नहीं जान पड़ीं।

खंड ३

जापान

आठवाँ अध्याय

जापान की संहकारिता–सस्थाएं

साधारण परिस्थितियाँ

१. यद्यपि जापान ने विगत सौ वर्षों में औद्योगिक उन्नति बहुत द्रुत गति से की है और यह पूर्व का सबसे अग्रणी औद्योगिक देश है, तथापि इसकी अर्थव्यवस्था में अब भी कृषि का स्थान बहुत ऊंचा है और इसकी आबादी में ५१ प्रतिशत से अधिक लोगों का पेशा खेती ही है। इस देश का समस्त क्षेत्रफल ९२० लाख एकड़ है। इसका अधिकतर भाग पहाड़ी है, और इसकी भूमि के जिन भागों में खेती होती है उनमें ऐसे ऐसे खेत भी सम्मिलित हैं जिनका ढलान १५ डिग्री या इससे भी कुछ अधिक है। इतनी ढलवां ज़मीन को हल चलाने योग्य नहीं समझा जाता। परन्तु जापानी लोग भूमि का खेती में उपयोग कर लेने के लिए कैसा भी कष्ट-साध्य प्रयत्न क्यों न करना पड़े उसे कुछ नहीं गिनते। इतने पर भी जापान में खेती के नीचे आई हुई भूमि का क्षेत्रफल १३५ लाख एकड़, अर्थात् समस्त भूमि का केवल १५ प्रतिशत है। देश में वर्षा प्रचुर मात्रा में होती है। गरमियों में तो प्रशान्त महासागर की बरसाती हवाएं तट-वर्ती ज़िलों में खूब वर्षा कर देती हैं और सर्दियों में साइबीरियां की तरफ से बर्फ से लदी हुई जो हवाएं आती हैं वे जापानी समुद्र की तरफ के जिलों में वर्षा कर देती हैं। जिन ज़िलों में ऐसा समझा जाता है कि वर्षा थोड़ी होती है उनमें भी वर्षा का वार्षिक औसत १००० मिलीमीटर (लगभग ४० इंच) अथवा इससे अधिक है, और बरसाती ज़िलों में तो प्रति वर्ष लगभग ३००० मिलीमीटर (१२० इंच) से भी अधिक वर्षा हो जाती है। जापान में मौसम साधारणतया बरसाती, नम (आर्द्र) और सम-शीतोष्ण रहता है। इसमें चावल तो अच्छा हो जाता है, अन्य फसलें वैसी नहीं होतीं। वर्ष-भर हवाएं तेज चलती रहती हैं और उनसे फसलों को बहुत नुकसान पहुंचता है।

२. जुती हुई भूमि के अधिकतर भाग में अन्न की खेती होती है। १० प्रतिशत से भी कम का उपयोग चरागाह के रूप में किया जाता है। शेष ९० प्रतिशत में फसलें बोई जाती हैं। ७५ लाख एकड़ में अथवा जोत की ५६ प्रतिशत भूमि में धान और ५२·५ लाख एकड़ में गेहूं, जो तथा औद्योगिक फसलें बोई जाती हैं। ७·५ लाख एगड़ में बाग लगे हुए हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले (१९३४–३६) में औसत किसान-कुटुम्ब के खेत का नाप २·६७ एकड़ था। परन्तु इस युद्ध के पश्चात्, सैनिक सेवा से मुक्त होकर और कोरिया तथा फारमोसा से लौटकर बहुत-से लोग खेती करने लगे और इस लिए १९५२ में औसत खेत का नाप घटकर २·१७ एकड़ रह गया। १९४६ में किसानों की जनसंख्या ३४२ लाख थी, १९५० में वह बढ़कर ३७८ लाख हो गई, अर्थात् लगभग १० प्रतिशत की वृद्धि हो गई। १९२६ और १९४५ के बीच किसान-परिवारों की संख्या ५५ लाख थी, १९४८ में यह संख्या ६२ लाख से भी उपर हो चुकी थी। उसके पश्चात् इस संख्या में कुछ कमी हुई है, परन्तु युद्ध-पूर्व काल की तुलना में, १० प्रतिशत अधिक व्यक्तियों ने अपने निर्वाह और आजीविका के लिए कृषि का आश्रय लिया हुआ है। यद्यपि जापान की आधी से अधिक आबादी कृषि-जीवी है, फिर भी उसे देश की समस्त आय में कृषि की आय का भाग केवल १८·७ प्रतिशत है। जो लोग कृषि अथवा जंगल लगाने का व्यवसाय करते हैं उनकी प्रति-व्यक्ति वार्षिक आय १९५३ में ८८३ रु० कूती गई थी। इसकी तुलना में निर्माण-उद्योग में लगे हुए लोगों की प्रति-व्यक्ति वार्षिक आय २९५० रु० थी।

३. भूमि-सुधार होने से पूर्व, जापान की भूमि-व्यवस्था की दो बड़ी विशेषताएं काश्तकारी की अस्थिरता और लगान का ऊंचापन थीं। १९४७ से पहले तक, ७० प्रतिशत किसान-कुटुम्ब पूर्णतया अथवा अंशतः ऐसे काश्तकार थे जो दूसरों की ज़मीन में खेती करते थे। २५ प्रतिशत के पास ज़मीन एक इंच भी नहीं थी। ज़मीन के मालिकों में आधे ऐसे थे कि उनमें से प्रत्येक की भूमि

का नाप १ ˙ २५ एकड़ या इससे भी कम था, परन्तु उन सबके पास की सारी भूमि देश की समस्त खेती की भूमि का केवल १६ प्रतिशत थी। १२ एकड़ या इससे अधिक भूमि के स्वामी, देशभर के भू-स्वामियों का केवल ३ प्रतिशत थे, परन्तु समस्त भूमि के ३० प्रतिशत भाग पर उनका ही स्वामित्व था। १५ से १७ प्रतिशत तक भूमि के स्वामी ऐसे लोग थे जो उस भूमि से दूर रहते थे, और इस भूमि का अधिकतर भाग धान की खेती के नीचे था। आधि से अधिक भूमि को जोतने वाले किसान काश्तकार थे। काश्तकारों की संख्या धान बोने वालों में और भी अधिक थी। ज़मींदारों को स्वयं खेती करने की अपेक्षा, ज़मीन किसानों को काश्तपर उठा देने से, अधिक लाभ होता था। धान के खेतों का लगान माल के रूप में वसूल किया जाता था। लगान चुकाने के पश्चात्, ४० प्रतिशत काश्तकारों को अपने खाने के लिए भी चावल दूसरों से खरीदना पड़ता था — वह उनका ही उत्पन्न किया हुआ क्यों न हो। उन्हें बेदखली का डर हमेशा लगा रहता था। यदि वे लगान नियम-पूर्वक चुका देने वाले काश्तकार होते थे तो भी पट्टे की मियाद खत्म हो जाने पर उन्हें उक्त भय रहता ही था।

४. १९४७ में जापान के विजेताओं (अमरीकन शासकों) ने अनेक भूमि सुधार लागू किए और ३ वर्ष के भीतर ५० लाख एकड़ भूमि जोतने वालों को उसका स्वामी बना दिया। ज़मीन के जो मालिक मौक़े पर मौजूद नहीं रहते थे उन सबसे लेकर ज़मीन किसानों को दे दी गई। जो ज़मींदार मौके पर रहते थे उन्हें काश्त पर उठाई हुई ज़मीन में से २ ˙ ५ एकड़ अपने लिए रख लेने देकर, उनकी भी शेष सब ज़मीन काश्तकारों को दे दी गई। प्रत्येक मालिक की ज़मीन का अधिकतम नाप ७ ˙ ५ एकड़ रक्खा गया। इन सुधारों का परिणाम यह हुआ कि किसानों में काश्तकारों की संख्या ७० प्रतिशत से घटकर ९ प्रतिशत रह गई।

५. ६० लाख कुटुम्बों का पेशा कृषि है। परन्तु उनमेंसे केवल ५० प्रतिशत को पूरे समय का काम मिलता है। शेष सब—उनमें अधिकतर छोटे किसान हैं—दूसरे दूसरे रोज़गार करते हैं, और शहरों और बड़े नगरों के व्यापारियों तथा उद्योगपतियों को मज़दूर उन्हीं में से मिलते हैं। जापानी खेती घनी खूब होती है। ४४ प्रतिशत ज़मीन में प्रतिवर्ष दो या इससे भी अधिक फसलें होती हैं। एशिया में प्रति-एकड़ पीछे धान की उपज सबसे अधिक जापान में ही होती है (६००० पौंड या ७५ मन प्रति हेक्टेयर अथवा २४०० पौण्ड प्रति एकड़ अर्थात् कोई ८ मन प्रति बीघा)। उपज बढ़ाने के लिए जापानी किसान दो चीजों पर बहुत ध्यान देते हैं—(१) अच्छे बीजों पर और (२) उर्वरकों के प्रयोग पर। सरकारी फार्मों और चावल बोने वाले किसानों ने, चावल की वर्तमान क़िस्मों में से छाटंकर ऐसे पौधे तलाश किए हैं जिनसे कम खर्च में ज्यादा पैदावार होती है, और इसके उत्कृष्ट परिणाम निकले हैं। साधारणतया बढ़िया बीज की कसौटी अधिक उपज मानी जाती है, परन्तु जापान में इसके अतिरिक्त, यह भी देखा जाता है कि पौधा तेज़ सर्दी और तेज धूप सहने में समर्थ हो। साधारणतया, ये बढ़िया पौधे उर्वरक अधिक मात्रा में मांगते हैं। हमने मालूम किया था कि जापान में प्रति एकड़ ८०० पौण्ड (लगभग १० मन) तक उर्वरक डाला जाता है। इस समय जापान में उर्वरकों की कुल खपत ५० लाख टन से भी अधिक है। १९४० में यह मात्रा १५ लाख टन और १९४५ में ३ लाख टन थी। इस ५० लाख टन में २७ लाख टन नाइट्रोजन वाले उर्वरक (नाइट्रोजन २२ प्रतिशत), २२ लाख टन फोस्फेट (फौस्फोरस १६ प्रतिशत) और ४ लाख टन पोटाश भी सम्मिलित है। इसकी तुलना में, भारत और चीन में खेती की भूमि को १५ से २० गुणा तक है, परन्तु उर्वरकों की खपत क्रमशः केवल ८ लाख और १८ लाख टन है। जापान में रासायनिक उर्वरकों का निर्माण बहुत बड़ी मात्रा में होता है, और यदि हें सबके सब देश में ही नहीं खपते तो उनकी बिक्री के लिए विदेशों में बाजार तलाश करना पड़ता है। अब जापानी लोग अमोनियम सल्फेट के स्थान पर यूरिया और बोरोन, लोहे तथा सिलिकन के द्रव्यों का प्रयोग बढ़ाने का यत्न कर रहे हैं। जापान में कम्पोस्ट, हरी खाद और मनुष्य के मल आदि खादों का प्रयोग भी बड़ी मात्रा में किया जाता है। परन्तु जापान में हमें ये खादें एकत्र करने के लिए वैसा उत्साह और प्रयत्न दिखलाई नहीं पड़ा जैसा कि हमने चीन में देखा था। बल्कि, बातचीत में भी इन खादों का जिक्र बहुत कम जापानियों ने किया। इसका कारण शायद यह हो कि जापानी इस दिशा में बहुत आगे बढ़ चुके हैं। जापानी किसान बिजली या डीज़ल तेल के मोटरों, धान कूटने की मशीनों और शक्ति से चलने वाली कूटने की मशीनों आदि का प्रयोग भी अधिकाधिक संख्या में करने लगे हैं। उदाहरणार्थ, १९३५ और

१९५३ के बीच में, बिजली और पेट्रोल के मोटरों की संख्या बढ़कर क्रमशः १७·२ और ६·७ गुणा हो गई। इसी अवधि में शक्ति से चलने वाली धान कूटने और छिलका उतारने वाली मशीनों की संख्या क्रमशः १३·८ और ५·२ गुणा हो गई। बीज बोने, पौध को उठाकर लगाने, नलाई करने और फसल काटने आदि खेती के काम अब भी प्रायः हाथ से ही किए जाते ह्। परन्तु हल चलाने के लिए पशुओं का प्रयोग किया जाता है, और द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् तो छोटे ट्रैक्टरों का प्रयोग भी बढ़ता जा रहा है। १९५१ में जापान, में १४,९३१ छोटे ट्रैक्टर चल रहे थे। दो ही वर्ष में, अर्थात् १९५३ तक, यह संख्या दुगने से भी बढ़ कर ३४,९७४ तक पहुंच गई थी। युद्ध के पश्चात् पशुओं का प्रयोग भी युद्ध-पूर्व की अपेक्षा बढ़ा है।

६. द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् कुछ वर्ष तक जापान में कृषि का उत्पादन युद्ध-पूर्व की अपेक्षा भी कम हो गया था। यदि १९३३–३४ के औसत उत्पादन को १०० माना जाए तो १९४७ में उत्पादन का औसत केवल ७४·७ रह गया था। परन्तु राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का पुनरुत्थान होने के साथ साथ कृषि के उत्पादन में भी सुधार होता गया, और १९५१ में युद्ध-पूर्व की स्थिति फिर लौट आई थी। १९५२में ऋतु की अनुकलता के कारण कृषि का उत्पादन असाधारण अच्छा हुआ और वह युद्ध-पूर्व के उत्पादन से भी १० प्रतिशत बढ़ गया था। १९५३ फिर कम उत्पादन का वर्ष सिद्ध हुआ, परन्तु १९५५ में फसल अच्छी हुई। इस प्रकार विश्व-युद्ध के पश्चात् जापान में कृषि का उत्पादन, युद्ध-पूर्व के उत्पादन की तुलना में, घटता बढ़ता रहा। पृथक् पृथक् वस्तुओं के उत्पादन की स्थिति बहुत विभिन्न है, कई तो युद्ध-पूर्व के उत्पादन से बहुत आगे बढ़ चुकी हैं, और कई उसके ३० प्रतिशत तक भी नहीं पहुंचीं। इन कारणों से, जापान को अपनी बड़ी आबादी के खाद्य की व्यवस्था करने के लिए अन्न बड़ी मात्रा में विदेशों से मंगाना पड़ता है। इस समस्या की विषमता और विकटता इस बात मे भली भांति स्पष्ट हो जाएगी कि १९३४–३६ में तो जापान की आबादी ६८९ लाख थी, परन्तु १९५६ में वह बढ़कर ९०० लाख तक पहुंच चुकी थी, अर्थात् वृद्धि ३० प्रतिशत से भी अधिक हो गई थी। युद्ध से पूर्व, बाहर से केवल चावल मंगवाना पड़ता था। युद्ध के पश्चात्, गेहूं और जौ भी बड़ी मात्रा में मंगवाए जा रहे हैं। १९५१ से १९५३ तक के वर्षों का औसत आयात ३२ लाख टन था। १९५४ में यह बढ़ कर ४३ लाख टन हो गया था, और जापान को अपने विदेशी मुद्रा के व्यय का २० प्रतिशत, केवल बाहर से मंगाए हुए अन्न का मूल्य चुकाने के लिए, दे देना पड़ा था।

सहकारिता

७. यद्यपि जापान में खेत इतने छोटे छोटे हैं, फिर भी वहां खेती सहकारिता-पूर्वक करके देखने का प्रयत्न नहीं किया गया। इसका कारण यह नहीं कि जापान में सम्मिलित खेती करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। प्रत्युत हमने देखा था कि जापान के जानकार लोग अनुभव करते थे कि भूमि-सुधारों के बावजूद उनके देश में छोटे किसानों की अवस्था निरन्तर बिगड़ती जा रही है। छोटा किसान अपने पांव पर खड़ा नहीं हो सक रहा और कृषि के क्षेत्र में असमानता बढ़ती जा रही है। विचारक लोग मानते हैं कि सहकारिता की खेती से न केवल छोटे किसानों के हितों की रक्षा होगी, उत्पादन भी बढ़ जाएगा। हमें बतलाया गया था कि बाहर से लौटे हुए जापानियों को बसाने के लिए भूमि का पुनरुद्धार, उनकी सहकारिता-संस्थाएं संगठित करके ही किया गया था, परन्तु पुनरुद्धार हो चुकने पर सदस्यों ने भूमि आपस में बांट ली। अब जापान का वातावरण उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाएं बनाने के लिए अनुकूल नहीं रहा है।

८. यद्यपि जापान में कृषि-सहकारिता संस्थाएं नहीं हैं, परन्तु ऋण देने, किसानों का माल बेचने और उन्हें सामग्री पहुचाने के लिए उस देश में सहकारिता-संस्थाओं का विकास बहुत ऊंचे पाए पर पहुंच चुका है। ९५ प्रतिशत से अधिक किसान-कुटुम्ब सहकारिता-संस्थाओं के सदस्य हैं, कृषि में लगी हुई पूंजी में से ३९ प्रतिशत का प्रबन्ध यही सहकारिता-संस्थाएं करती हैं, और किसान-परिवारों की बचत का ६५ प्रतिशत इन्हीं संस्थाओं के पास जमा रहता है। किसानों की निजी आवश्यकता से बचा हुआ ९६ प्रतिशत चावल और ८५ प्रतिशत गेहूं और जौ इन्हीं सहकारिता-संस्थाओं की मारफ़त बेचा जाता है।

९. जापान में सहकारिता-आन्दोलन का आरम्भ, आधी शताब्दी से भी अधिक समय हुआ, १९०० में एक औद्योगिक-सहकारिता-संघ, क़ानून बना कर किया गया था। इस क़ानून द्वारा औद्योगिक-सहकारिता-संस्थाएं बनाने की व्यवस्था की गई थी, परन्तु व्यवहार में अधिकतर सहकारिता-संस्थाएं खेती करने वाले ग्रामों में बनीं। इस क़ानून में चार प्रकार की सहकारिता-संस्थाओं को मान्यता दी गई थी—१. ऋण देने वाली, २. माल की बिक्री करने वाली, ३. माल खरीदने वाली और ४. माल तयार करने वाली। १९०७ में इस कानून में संशोधन करके, ऋण देने वाली सहकारिता-संस्थाओं को अन्य काम करने की भी अनुमति दे दी गई। तब से आरम्भिक सहकारिता-संस्थाएं (जापान में इन्हें सहकारिता-संस्थाओं की इकाइयां कहते हैं) बहु-कर्मी संस्थाएं बन गई हैं और वे आरम्भ से ही ऋण देने के अतिरिक्त, माल बेचने आदि के काम भी साथ-साथ करने लगती हैं। कार्य की सुविधा के लिए आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं ने जिला-संघ बना लिए हैं, परन्तु जिलों के स्तर पर कार्य का विभाग करके संघ के दो विभाग बना दिए जाते हैं—एक ऋण देने का काम करने के लिए और दूसरा माल की बिक्री करने और अपने सदस्यों को सामग्री देने आदि के लिए। राष्ट्रीय स्तर पर पहुंच कर कार्य के और भी विशिष्ट विभाग हो जाते हैं। आर्थिक कार्य के मुख्यतया दो भाग हैं—माल का खरीदना और बेचना। इन दोनों के लिए पृथक् पृथक् संस्थाएं बना दी जाती हैं। ऋण देने वाली सहकारिता-संस्थाओं की आवश्यकताएं राष्ट्रीय स्तर पर सेण्ट्रल-कोआपरेटिव बैंक पूरी करता रहता है।

१०. प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् जापान में कृषि की उपज के बाज़ार में एक दम ज़ोर की मन्दी आ गई थी, और उसके कारण देश वित्तीय संकट में ग्रस्त हो गया था। तब देहात की अर्थ-व्यवस्था का पुनरुद्धार करने के लिए, १९३२ में सहकारिता-संस्थाओं का संगठन और विस्तार करने का एक पंचवर्षीय कार्यक्रम आरम्भ किया गया था। उसके अनुसार, सहकारिता-संस्थाओं के सदस्यों का सीमित वित्तीय उत्तरदायित्व केवल एक-मुखी रखने के स्थान पर बहुमुखी कर दिया गया, अर्थात् सदस्यों के उत्तरदायित्व की सीमा बढ़ा कर उनके हिस्सों के हिसाब से वह एक निश्चित बड़ी राशि तक नियत कर दी गई। सरकार ने अस्थायी सहायता-कार्यों के रूप में अनेक निर्माण-कार्य आरम्भ करवाए। सरकार ने कम व्याज पर लम्बी मियाद के ऋण दिए और घाटा उठाने वालों को मुआवज़ा भी दिया। ये सब कार्य सहकारिता-संस्थाओं की मारफ़त किए गए। इससे उनकी स्थिति दृढ़ हो गई। परन्तु १९३७ में चीन-जापान युद्ध छिड़ जाने पर सरकार की उदार नीति में परिवर्तन हो गया, नियन्त्रण कठोरता से किया जाने लगा, और वह सहकारिता-संस्थाओं पर भी लागू किया गया। सहकारिता-संस्थाओं की चालू पूंजी का लेन-देन रोक दिया गया, और उनकी ऋण देने तथा पूंजी का विनियोग करने की नीतियों का संचालन स्वयं सरकार करने लगी। १९४३ में कृषि-संघों का एक कानून बनाकर सब सहकारिता-संस्थाओं के लिए कृषि-संघों में समा जाना अनिवार्य कर दिया गया। इन संघों का उद्देश्य तो वैज्ञानिक कृषि को बढ़ावा देना बतलाया गया था, परन्तु वस्तुतः ये सम्पन्न जमींदारों—जागीरदारों के हाथ की कठपुतली थे। इस प्रकार एक सरकारी आज्ञा द्वारा सहकारिता-संस्थाओं का अन्त कर दिया गया और उनकी पूंजी पर उक्त नए कृषि-संघों का अधिकार हो गया। प्रत्येक किसान के लिए इन संघों का सदस्य बनने का अनिवार्य नियम रखा गया था—वह चाहे मालिक-किसान हो चाहे काश्तकार। इस से सहकारिता-संस्थाओं को बड़ा भारी धक्का लगा। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् कृषि-संघ तोड़ दिए गए और सहकारिता-संस्थाओं को पुनरुज्जीवित करके उनकी पूंजी उन्हें वापिस कर दी गई। नया कानून सहकारिता-संस्थाओं को लोकतन्त्री आधार पर संगठित होने के लिए उत्साहित करता है और नए जमींदार भी (जो कल तक निरे काश्तकार थे) उनके सदस्य बन सकते हैं।

११. गत दस वर्षों में इस आन्दोलन की प्रगति द्रुत गति से हुई है। इस समय जापान में आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं की संख्या ३५,००० है। इन में से १३,८४५ संस्थाएं तो बहु-कर्मी हैं, शेष सब एक एक काम करने वाली हैं और जो सदस्य फलों की खेती या रेशम के कीड़े पालने आदि का खास खास काम करना चाहते हैं उनकी आवश्यकताएं पूरी करती हैं। एक-कर्मी सहकारिता-संस्थाओं के अपने अपने पृथक् जिला तथा राष्ट्रीय संघ हैं। एक-कर्मी और बहु-कर्मी संस्थाओं के काम कभी कभी आपस में टकरा या पुनरावृत्त भी हो जाते हैं, परन्तु काम की और सदस्य-संख्या की

दृष्टि से बहु-कर्मी संस्थाओं का महत्व अधिक है। बहु-कर्मी संस्थाओं के सदस्य दो प्रकार के होते हैं—(१) पूर्ण सदस्य और (२) सहायक सदस्य। खेती करने वाले किसान पूर्ण सदस्य और खेती न करने वाले केवल सहायक सदस्य हो सकते हैं। बहु-कर्मी सहकारिता-संस्थाओं की समस्त सदस्य-संख्या ७२ लाख है। इनमें से ६५ लाख पूर्ण सदस्य हैं। जापान की औसत आरम्भिक सहकारिता-संस्था के लगभग ६०० सदस्य होते हैं। प्रति सदस्य के पीछे प्रदत्त पूंजी का औसत ३४०० येन अथवा ४५ रुपए है। औसत आरम्भिक सहकारिता-संस्था वर्ष में ऋण-खाते प्रायः २३५ लाख येन (३ लाख रुपए) का कार-बार कर लेती है और पूरा समय काम करने वाले ११ कर्मचारी रखती है। जापानी सहकारिता-संस्थाओं के संगठन का नक्शा इस अध्याय के अन्त में दिया गया है।

ऋण की सुविधाएं

१२. जापान की आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं के पास लोगों की जमा के रूप में बड़ी बड़ी राशियां एकत्र रहती हैं। इस प्रकार, १२ हज़ार सहकारिता-संस्थाओं के पास ३१ मार्च १९५५ को २९३ अरब येन (३९० करोड़ रुपए) जमा थे, उनमें से ४७ प्रतिशत तो मियादी जमा थी और शेष ५३ प्रतिशत सेविंग्स या चालू खातों में थी। इन संस्थाओं को अपने ऋणियों से वसूल होने वाली रक़म, उस दिन, १७ अरब १० करोड़ येन (२२७ करोड़ रुपए) थी, जो कि इनके पास जमा रक़मों के ६० प्रतिशत से भी कम थी। जब हम नमेदा सहकारिता-संस्था के दफ्तर में गए थे तब हमने देखा था कि ३१ मार्च १९५५ को उसकी किताबों में जमा रक़म तो २९८ लाख येन (४ लाख रुपए) थी और उसने अपने सदस्यों को ऋण केवल ७१ लाख ३० हज़ार येन (एक लाख रु० से भी कम) का दिया हुआ था। जापानी लोग बड़े मितव्ययी होते हैं। वे बहुत तंगदस्ती के समय भी कुछ न कुछ बचा लेते हैं।

१३. जापानी किसान को ऋण ली हुई राशि पर सूद का दर बहुत ऊंचा देना पड़ता है। नगानो ज़िले में हमने देखा था कि एक संस्था निम्न व्याज-दर से ऋण देती थी :—

उर्वरक खरीदने के लिए . . .	११ प्रतिशत
पशु और औज़ार खरीदने के लिए . .	१० प्रतिशत
खेत की ज़मीन सुधारने के लिये . .	१० प्रतिशत

हमें बतलाया गया कि संस्था इतना ऊंचा व्याज इस कारण लेती है कि उसे स्वयं भी बाहर से उधार ली हुई राशियों पर ८ प्रतिशत व्याज देना पड़ता है और बैंक का दर भी ऊंचा है। हमें पता लगा कि कहीं कहीं तो व्याज-दर १५ प्रतिशत तक है।

१४. ऋण देने के काम में आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं की सहायता करने के लिए देश के ४६ ज़िलों में से प्रत्येक में, ऋण-संघों का संगठन कर दिया गया है। ये संघ अपने-अपने ज़िले में वित्तीय कार-बार चलाने में सहायता करते रहते हैं। सहकारिता क़ानून के अनुसार ये ऋण-संघ स्वयं कोई कार-बार नहीं कर सकते, परन्तु ये ज़िले के आर्थिक-संघ को आर्थिक सहायता दे सकते हैं। राष्ट्रीय स्तर पर, कृषि, जंगल और मत्स्य-सहकारिता-संस्थाओं को, बीच की या छोटी मियाद की आर्थिक सहायता देना, सेण्ट्रल-कोआपरेटिव-बैंक का काम है। इस बैंक की स्थापना १९२३ में हुई थी। इसके हिस्सेदारों की संख्या २४,४२६ है, और उनमें १२,७५४ आरम्भिक सहकारिता-संस्थाएं, ४,४८४ जंगल-सहकारिता-संस्थाएं और ३,२५८ मत्स्य-सहकारिता-संस्थाएं भी सम्मिलित हैं। इन सबको बैंक से ऋण पाने का अधिकार है। यह बैंक, डिबेन्चर जारी करके, सरकारी हुण्डियां बेचकर अथवा 'बैंक आफ जापान' से ऋण लेकर, सहकारिता-संस्थाओं के दायरे से बाहर, पूंजी एकत्र करता है। यह अपनी फालतू रक़मों को बाज़ार की हुण्डियां सिकारने आदि में लगा देता है। इसकी चुकता हिस्सा-पूंजी २ अरब ६० करोड़ येन (३ करोड़ ४६ लाख रु०) है। इसमें से ८० करोड़ येन (१ करोड़ ६ लाख रुपए) पूंजी तो बैंक से सम्बद्ध सहकारिता-संस्थाओं के मामूली हिस्सों के रूप में है, और १ अरब ८० करोड़ येन (२ करोड़ ४० लाख रुपए) के प्रेफरेन्स हिस्से जापान-सरकार ने लिये हुए हैं। सरकार ने आरम्भ आरम्भ में २ अरब येन के हिस्से लिए थे। परन्तु लगभग २० करोड़ येन के हिस्से चुका दिए गए और यह राशि विशेष सुरक्षित कोश के रूप में पृथक् रख दी

गई। सेण्ट्रल-बैंक का प्रबन्ध एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष, १६ डायरेक्टर (इन में से ६ पूरा समय काम करते हैं) और ३ आडिटर (हिसाब-किताब परीक्षक) करते हैं। डाइरेक्टरों और अन्य सब पदाधिकारियों की नियुक्ति सरकार करती है। इनके अतिरिक्त २५ व्यक्ति अध्यक्ष के सलाहकार होते हैं, और प्रायः उन सबका सम्बन्ध हिस्सेदार सहकारिता-संस्थाओं के साथ होता है। ३१ मार्च १६५५ को इस बैंक में जमा रकमों का जोड़ ६५ अरब येन (१२६ करोड़ रु०) था। इसमें से ५५ प्रतिशत रक़में कृषि-सहकारिता-सस्थाओं की थीं। बैंक को वसूल होने वाले ऋणों का योग ८१ अरब ६० करोड़ येन (१०८ करोड़ रु०) था। इसमें से ६१ प्रतिशत ऋण कृषि-सहकारिता-संस्थाओं को और १६ प्रतिशत मत्स्य-सहकारिता-संस्थाओं को दिये हुए थे।

१५. सेण्ट्रल-कोआपरेटिव-बैंक के साधन इतने नहीं हैं कि वह लम्बी मियाद के ऋण दे सके, इसलिये जापान सरकार ने १६५१ में एक पृथक् कार्पोरेशन 'कृषि-जंगल-तथा-मत्स्य-वित्त-कार्पोरेशन' के नाम से बनाया। वह किसानों, जंगलों का रोज़गार करने वालों और मत्स्य-व्यवसायियों को नीची ब्याज-दर पर लम्बी मियाद के ऋण देता है। यह कार्पोरेशन सीधा ही सहकारिता-संस्थाओं के साथ व्यवहार नहीं करता। इसका सम्बन्ध तो सेण्ट्रल कोआपरेटिव-बैंक और अन्य इसी प्रकार की संस्थाओं से रहता है और सहकारिता-संस्थाओं के साथ व्यवहार वही करती हैं। कार्पोरेशन अपना काम व्यापारिक बैंकों की मारफ़त भी करता है। जब से यह कार्पोरेशन बना है तब से अब तक यह ६० अरब येन (१२० करोड़ रु०) के ऋण दे चुका है। इसमें ५० प्रतिशत का उपयोग भूमि का सुधार करने अर्थात् सिंचाई की सुविधाए बढ़ाने और पानी के निकास की नालियां सुधारने आदि के लिए किया गया है।

माल की बाज़ार में बिक्री

१६. ऊपर ऋण देने के जिस संगठन का विवरण दिया गया है, वह माल बेचने और ख़रीदने के संगठनों के साथ जुड़ा हुआ है। अक्टूबर १६४८ में 'ज़ेन-हान-रेन' नामक एक संगठन बनाया गया था। उसका काम खेती की पैदावार को बाजार में बेचना है और वह इस काम के लिए आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं की सहायता और मार्ग-प्रदर्शन करता रहता है।

१७. जापान में चावल की एकमात्र ख़रीदार सरकार है। वह प्रत्येक किसान के साथ एक प्रकार का ठेका कर लेती है और उसके अनुसार किसान को चावल की एक नियत मात्रा निश्चित तारीख़ से पहले सरकार को दे देनी पड़ती है। कृषि-तथा-जंगल मन्त्रालय, पैदावार और किसानों की आवश्यकता का अन्दाज़ा लगाकर, यह निश्चय कर देता है कि किस ज़िले में किसानों से कितना चावल एकत्र किया जाएगा। ज़िले का शासक, जिले की कृषि-समिति की सलाह से चावल की उक्त मात्रा गांवों में बांट देता है। ज़िले की कृषि-समिति का संगठन सहकारिता-संस्थाओं के प्रतिनिधियों द्वारा होता है। गांव के ज़िम्मे लगाई गई मात्रा किसानों में बांट दी जाती है। यह कार्य नगर का मेयर स्वयं नहीं करता। वह इसे आरम्भिक सहकारिता-संस्था के सुपुर्द कर देता है। और वह, प्रत्येक परिवार की निजी आवश्यकता का विचार करके, उक्त मात्रा किसान परिवारों में विभक्त कर देती है। इन इक़रारनामों के आधार पर इस बात का ख़ासा सही अन्दाजा लग जाता है कि कितना चावल इकट्ठा किया जा सकेगा। सरकार किसान को उसकी अनुमानित फसल के मूल्य का २० प्रतिशत पेशगी दे देती है। यह मूल्य आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं की मारफ़त ही दिया जाता है। इससे छोटे किसानों को अपनी आवश्यकता का सामान ख़रीदने में सहायता मिल जाती है। सरकार की ओर से चावल एकत्र करने का काम आरम्भिक सहकारिता-संस्थाए, ज़िले के आर्थिक संघ और राष्ट्रीय संघ करते हैं। परन्तु सहकारिता-संस्थाओं को इस अन्न-संग्रह का एकाधिकार नहीं है। सरकार चाहे तो ऐसे किसी भी व्यक्ति को अन्न-संग्रह करने का लाइसेन्स दे सकती है जिसका नाम ५० किसान मिलकर अन्न एकत्र करने के लिये पेश कर दें। परन्तु अमल में ६५·६ प्रतिशत किसान अपना चावल सहकारिता-संस्थाओं को ही बेचते हैं, केवल ४·४ प्रतिशत चावल निजी व्यापारियों के हाथ में होकर गुज़रता है। इस सेवा के बदले सरकार ४८ येन प्रति बोरा समस्त सहकारिता-संगठन को देती है, उसमें से २ येन राष्ट्रीय संघ, ६ येन जिला-संघ और शेष ३७ येन आरम्भिक सहकारिता को मिलता है।

१८. जापानी किसान धान नहीं बेचता। वह छिलका उतरा हुआ चावल बेचता है। इसका लाभ यह होता है कि माल को भरने, लाने-ले जाने और गोदामों में रखने आदि का व्यय लगभग ५० प्रतिशत रह जाता है। धान को कूटने के बाद वह उसे फटकता एक छोटी फटकने की मशीन द्वारा है। यह मशीन या तो उसकी निजी होती है, या उसके पड़ोसी की और या सहकारिता-संस्था की। इन मशीनों की बनावट ऐसी है कि रबर के दो रोलर उनमें अलग अलग रफ्तार से घूमते हैं, धान लगातार उनके साथ रगड़ खाता रहता है, और दाने को बिना कोई चोट पहुंचे उसका छिलका अलग हो जाता है। छोटे बड़े छेदों की तीन चलनियां भी मशीन में लगी रहती है। वे कुटे हुए धान को फटक देने का काम करती हैं और विभिन्न माप के दाने उनमें से छन जाते हैं। इस प्रकार साफ़ किया हुआ चावल चक्की में पीसा भी सुगमता से जाता है। उसमें से पिसाई ८० या ८३ प्रतिशत निकलती है। धान कूटने और फटकने की मशीनें छोटी होती हैं और डीज़ल तेल या बिजली की मोटर से चल सकती हैं। वे महंगी भी नहीं हैं। हमारा ख्याल है कि वे हमारे देश की परिस्थितियों में भी काम दे सकती हैं। उनसे किसान की आमदनी और रोज़गार, दोनों में वृद्धि हो सकेगी। इसलिए हमारी सलाह है कि चावल बोने के इलाकों में संगठित हुई बड़ी सहकारिता-संस्थाओं को ये मशीनें अपने यहां लगा लेनी चाहिए। परन्तु उनका चलन करने से पहले अच्छा हो यदि केन्द्र और राज्यों की सरकारों के कृषि-इंजिनीयरिंग विभाग उन्हें परख लें। हमने यह भी देखा कि भारत में और संसार के अन्य देशों में तो अन्न भरने के लिये जूट, सूत या कागज़ के बोरे काम में लाए जाते हैं, परन्तु जापानी लोग धान के डण्ठलों के बोरे बनाकर उन में चावल भरते हैं। इन बोरों को किसान ही अपने फ़ालतू समय में बिना अधिक व्यय के बना लेते हैं। प्रत्येक बोरे से किसान को कम से कम १ रुपया आय हो जाती है। जापानियों ने ये बोरे बनाने की मशीनें भी बनाई हैं। केन्द्र और राज्यों की सरकारों के कृषि-इंजिनीयरिंग-विभागों को ऐसी कुछ मशीनें मंगाकर उनकी परीक्षा करके देखना चाहिए कि वे भारत में भी चलाई जा सकती हैं या नहीं। आवश्यकता हो तो एकाध जापानी विशेषज्ञ को भी इसके लिए यहां बुलाया जा सकता है।

१९. सरकार किसान को चावल का मूल्य ३३ रु० मन देती है। किसान अपनी चावल की मात्रा अपनी सहकारिता-संस्था के गोदाम तक पहुंचा देता है। वहां एक सरकारी निरीक्षक चावल को जांचकर उसी समय एक प्रमाण-पत्र दे देता है। इस प्रमाण पत्र के आधार पर, सहकारिता-संस्था चावल मिल जाने की रसीद तैयार करती है। उसकी एक प्रति किसान को दे दी जाती, दूसरी आर्थिक-संघ को भेज दी जाती, और तीसरी स्वयं सहकारिता-संस्था अपने पास रख लेती है। यदि किसान चाहे तो उस रसीद के आधार पर उसी समय अपने चावल का नक़द मूल्य ले सकता है। परन्तु ऐसा बहुत कम होता है, क्योंकि किसान इस रक़म को जमा रखना पसन्द करते हैं। जिले का आर्थिक संघ, अपने साथ सम्बद्ध सहकारिता-संस्थाओं से आई हुई रसीदों के आधार पर, प्रति दिन खरीदे गए चावल का और उसके मूल्य का हिसाब बनाकर, उसे राष्ट्रीय संघ और कृषि-मंत्रालय के पास भेज देता है। इन प्रतिवेदनों के आधार पर, कृषि-मन्त्रालय सेण्ट्रल-कोआपरेटिव-बैंक को कहता है कि तुम ज़िला आर्थिक-संघ को मूल्य चुका दो। चावल के बाद, उपयोगिता की दृष्टि से गेहूं और जौ का नम्बर आता है। यद्यपि इन पर सरकार का सीधा नियन्त्रण नहीं है, फिर भी सरकार ने घोषणा कर दी है कि वह इन दोनों चीज़ों को अनिश्चित मात्रा में खरीदेगी, और इनका मूल्य फ़सल की पैदावार का अन्दाज़ा लगाकर और अन्य परिस्थितियों को देखकर निश्चित किया जाएगा। किसानों की इच्छा है कि वे चाहें तो गेहूं और जौं सरकार को बेचें और चाहें न बेचें। परन्तु अमल में वे अपना फ़ालतू माल सरकार को बेच ही देते हैं। फालतू गेहूं और जौं का लगभग ८५ प्रतिशत सहकारिता-संस्थाओं की मारफ़त ही विकता है। इनके अतिरिक्त लगभग ४० प्रतिशत शकरकन्द और ७० प्रतिशत सूखे शकरकन्द के कटे हुए कतले भी सहकारिता-संस्थाओं की मारफ़त बेचे जाते हैं। आलू के बीज की भी लगभग ९० प्रतिशत मांग राष्ट्रीय-बिक्री-संघ के द्वारा पूरी की जाती है। आरम्भिक सहकारिता-संस्थाए लगभग २००० कारख़ाने स्टार्च बनाने के चलाती हैं। आलू की लगभग आधी पैदावार वे इन कारखानों के लिए खरीद लेती हैं। सहकारिता-संस्थायें चावल पौलिश करने के कारख़ाने भी चलाती हैं। वे फलों और सब्ज़ियों की

भी बिक्री करती हैं और उन्होंने फलों आदि को बरफ़खानों में रखने और डब्बों में बन्द करने के लिए पर्याप्त प्रबन्ध किया हुआ है।

माल गोदामों में भर कर रखना

२०. १९५४–५५ में सहकारिता-संस्थाओं की मारफ़त लगभग ४०–५० लाख टन अन्न और अन्य वस्तुए बेची गई थीं। इनका मूल्य ३६६ अरब येन (४८७ करोड़ रु०) बैठा था। इतना बड़ा काम करना सम्भव इस कारण हो सका था कि प्राय: सब आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं के अपने अपने गोदाम थे। उनमें कोई ४२ लाख टन माल समा सकता है। जापान की खेती की पैदावार गोदामों में भर कर रखने का इतिहास ४० वर्ष पुराना है। १९१४–१५ में और उसके बाद कई वर्ष तक फ़सलें बड़ी जोर की होती रहीं। साथ ही सरकार बाज़ार में से नोटों का चलन घटा देने की नीति पर चलती रही। इन दोनों का परिणाम मिलकर यह हुआ कि १९१६ में चावल का मूल्य गत वर्ष की तुलना में आधा रह गया। तब जुलाई १९१७ में, सरकार ने खेती की पैदावार गोदामों में भर कर रखने का क़ानून बनाया। इसका उद्देश्य यह था कि खेती की पैदावार के माल को गोदामों में भर कर रखने और बाज़ार में बेचने का काम साथ-साथ किया जाए, जिससे कि चावल का मूल्य नियन्त्रण में रहे और किसानों तथा भूमि के स्वामियों को समान रूप से लाभ हो। आरम्भ में, सरकार ने दस वर्ष का एक कार्यक्रम तैयार किया, उसके अनुसार १९१७ में उत्पन्न हुए चावल का १० प्रतिशत गोदामों में भर कर रखने की व्यवस्था की गई, और इसके लिये ४१०० गोदाम बनाए गए। बाद को, अधिक उपज का सामना करने के लिए द्वितीय दस-वर्षीय कार्यक्रम बनाया गया। गोदाम बनाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने के लिए सरकार ने गोदाम बनाने के व्यय का ५० प्रतिशत अपने ज़िम्मे ले लेने की नीति चलाई। इसका फल यह हुआ कि सहकारिता-संस्थाओं ने सरकार की सहायता से १९३७ तक ५९१२ इमारतें बना लीं। बहुत-सी इमारतें सहकारिताओं ने केवल अपने व्यय से भी बनवाईं। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात्, नए गोदाम बनाने और पुरानों की मरम्मत कराने की आवश्यकता फिर अनुभव की गई। इसके लिए, कृषि-जंगल-तथा-मत्स्य-वित्तकार्पोरेशन ने ३ अरब येन (४ करोड़ रु०) का ऋण दिया है। जापानी लोग गोदाम बनाने के लिये अधिकतर स्थानीय सामग्री का ही उपयोग करते हैं। ५० प्रतिशत से अधिक गोदाम तो परम्परानुसार अग्नि-सिद्ध बनाए गए हैं, परन्तु लगभग २५ प्रतिशत केवल लकड़ी के बने हुए हैं। गोदाम बनाने में ईंटों और पत्थरों का भी प्रयोग किया जाता है। भारत का भी गोदाम बनाने का कार्यक्रम बहुत बड़ा है। उसकी पूर्ति में यदि स्थानीय आवश्यकताओं का और व्यय कम करने का ध्यान रखा जाएगा तो सफलता शीघ्र हो सकेगी। इस कार्य में अनुभवी जापानी इंजीनियरों की भी सहायता ली जा सकती है। जापान में सहकारिताओं की इकाइयों को गोदाम रखने और चलाने में सफलता होने का बड़ा कारण यह है कि चावल और गेहूं की खरीद पर सरकार का एकाधिकार है, और इसलिए सहकारिताओं को सरकार से बहुत बड़ी मात्रा में रोजगार मिलता रहता है।

सहकारिताओं द्वारा सामग्री मुहैया करना

२१. अपनी आरम्भिक अवस्था में, जापानी सहकारिताओं का प्राय: सारा का सारा ध्यान किसानों से चावल तथा अन्य अन्न एकत्र करने में लगा रहता था। उनका ध्यान, किसानों को खेती करने के लिए तथा अपने दैनिक जीवन के लिए आवश्यक सामग्री पहुंचाने की ओर, उतना नहीं था। विगत तीन वर्षों में, इस इकतरफ़ा त्रुटि को सुधारने का यत्न किया गया है। अब आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं ने एक ऐसी प्रणाली निकाल ली है जिसके अनुसार किसान अपनी आवश्यकताओं का पहले से अन्दाज़ा लगाकर आर्डर दे देते हैं और उनके अनुसार सहकारिताए समय पर माल पहुंचा देती हैं। यह प्रणाली उर्वरकों और अन्य रासायनिक द्रव्यों के विषय में विशेष रूप से लागू होती है। किसानों के आर्डर लेकर आरम्भिक सहकारिताए अपनी एकत्रित मांग ज़िला-सहकारिता-संघ के सामने पेश करती हैं। ज़िला-संघ, सब संयुक्त मांगों को राष्ट्रीय-क्रय-सहकारिता-संघ के पास भेज देते हैं। इस व्यवस्था के फल-स्वरूप अब किसानों की उर्वरकों की ७१ प्रतिशत और कृमिनाशक तथा अन्य रासायनिक द्रव्यों की ४४ प्रतिशत आवश्यकता, सहकारिता-संस्थाओं द्वारा पूरी कर दी जाती है।

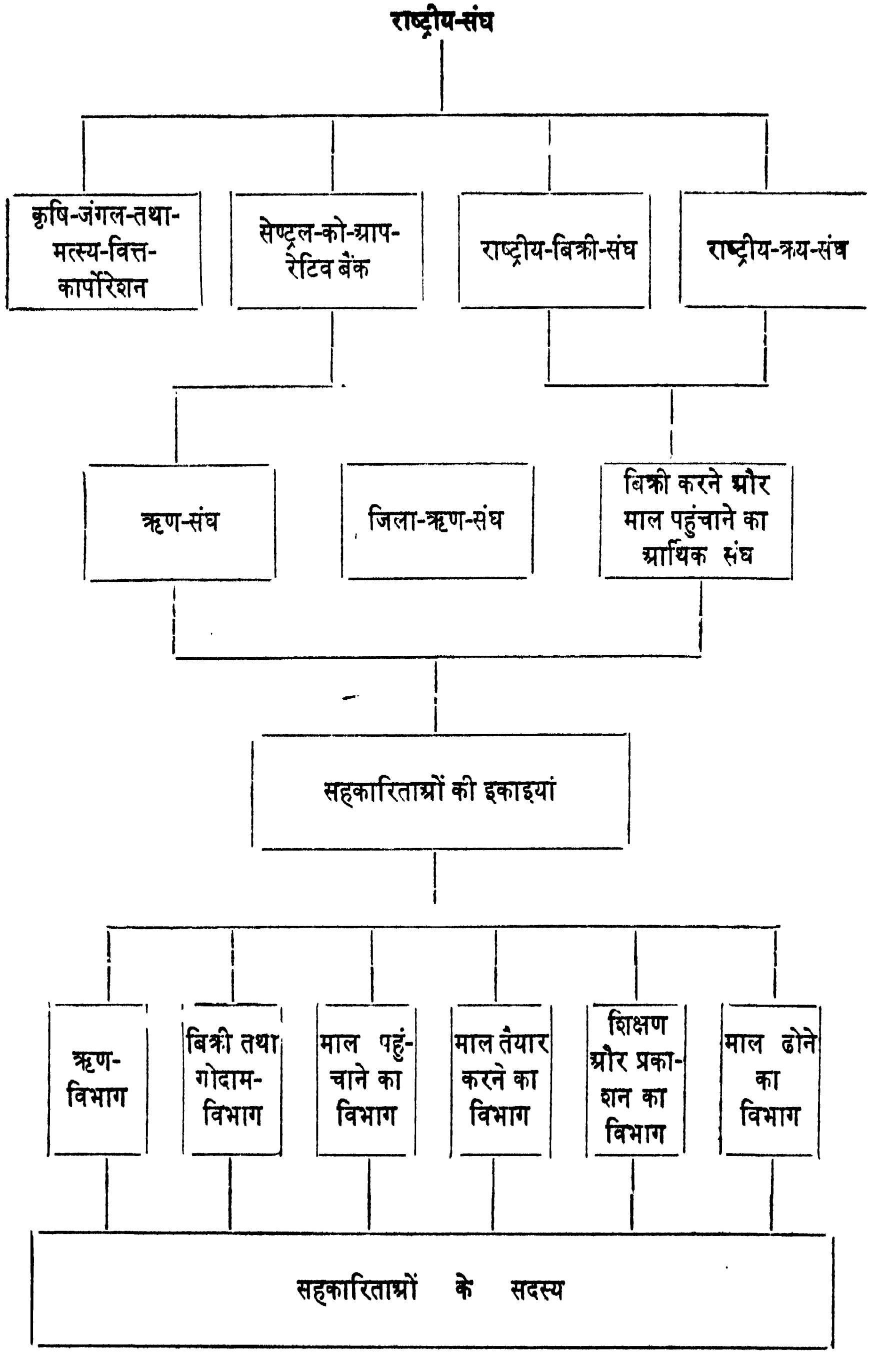
२२. राष्ट्रीय-क्रय-सहकारिता-संघ का अनुभव है कि सहकारिता-संस्थाए निजी व्यापारियों और संगठित उद्योगपतियों का मुकाबला करने में सफल तभी हो सकती हैं जब वे अपना उत्पादन स्वयं करें। इसलिए संघ ने, कृमिनाशक तथा अन्य रासायनिक द्रव्य बनाने के, अपने दो कारखाने खोल लिए हैं। उपभोज्य वस्तुओं की बिक्री में सहकारिता-संस्थाओं का भाग बहुत अधिक न हो सकने का एक कारण यह है कि बहुत-से सदस्यों को अपनी आवश्यकताए शहरों की दुकानों से खरीद लेने में सुगमता होती है, परन्तु जो वस्तुएं सहकारिता-संस्थाएं स्वयं बनाती हैं उनमें उनकी जीत रहती है। उदाहरणार्थ, नगानो ज़िले में सहकारिता-संस्था रबर का एक जूता-जोड़ी लगभग २२५ येन (३ रु०) में बेच रही थी, और दुकानदार उसी जूते का ३०० येन (४ रु०) मांगते थे। सहकारिता उसे इतना सस्ता केवल इस कारण बेच सकती थी कि वह राष्ट्रीय संघ के एक कारखाने में बना था। १९५४ में इस कारखाने में ऐसे जूते ७ लाख जोड़ी बने थे, परन्तु १९५५ में इनका उत्पादन दुगना हो गया था। अकेले नगानो ज़िले में सहकारिताओं ने सवा-दो लाख जोड़ी जूते बेचे थे। उनकी योजना इस बिक्री को दुगना कर देने की थी और वे दो जोड़ी प्रति परिवार के हिसाब से अपनी योजना बना रही थीं।

शिक्षण और प्रशिक्षण

२३. सदस्यों को शिक्षित करने और प्रबन्ध-सम्बन्धी समस्याओं का सर्वेक्षण तथा अनुसन्धान करने का उत्तरदायित्व राष्ट्रीय-सहकारिता-संघ के सुपुर्द है। वही, सम्बद्ध सहकारिता-संस्थाओं की ओर से, इस कार्य को करता है। ज़िलों में भी यह कार्य करने के लिए संघों का संगठन किया गया है। राष्ट्रीय संघ का इस कार्य का बजट ११ करोड़ ३० लाख येन (लगभग १५ लाख रु०) का है। इस कार्य के लिए उसने ७० व्यक्तिको तो पूरे समय का कार्य करने के लिए नियुक्त किए हुए हैं, और उनके अतिरिक्त वह बहुत-से जानकार मुनीम भी रखता है जो आवश्यकता पड़ने पर ज़िलों में जाकर हिसाब-किताब आदि की जांच करते रहते हैं। वह "टैक्निकल" (प्राविधिक) कर्मचारियों और अन्य पदाधिकारियों को भी प्रशिक्षित करता रहता है। प्रत्येक ज़िले में यह प्रशिक्षण देने का एक केन्द्र है। हाल में एक कालिज खोला गया है, उसमें प्रशिक्षित करके ऐसे व्यक्ति तैयार किए जाएंगे जो भविष्य में राष्ट्रीय अथवा ज़िला सहकारिताओं में उत्तरदायित्व के पदों पर कार्य कर सकेंगे। जब हम वहां गए थे तब १०० व्यक्ति इस कालिज में काम सीख रहे थे। राष्ट्रीय संस्थाओं के कर्मचारियों को प्रशिक्षित करने के लिये वर्ष में दो बार प्रशिक्षण-गोष्टियों का आयोजन किया जाता है। राष्ट्रीय-संघ ऐसी विशेष गोष्ठियों का भी आयोजन करता है जिनमें ऋण देने, किसानों से माल ख़रीद ने और बाज़ार में बेचने, और हिसाब-किताब रखने व जांचने के प्रश्नों पर विचार तथा वाद-विवाद किया जाता है। जापानी सहकारिताए कार्य-कुशलता और कार-बार के उचित प्रबन्ध पर बहुत ध्यान देती हैं। आंकड़ों का संग्रह विधि-पूर्वक किया जाता है और समय-समय पर उनकी परीक्षा की जाती रहती है। हमने देखा था कि छोटी-छोटी सहकारिताओं तक का हिसाब-किताब बहुत अच्छी प्रकार रखा हुआ था। दफ्तरी सामान और फ़र्निचर यदि कठोर नहीं तो सादा अवश्य था।

२४. परन्तु इन सब सावधानताओं के बावजूद लगभग एक-तिहाई सहकारिताए अपना आय व्यय संतुलित रखने में सफल नहीं हो रही थीं। उनकी असफलता का प्रधान कारण उनकी सदस्य-संख्या और कार-बार में न्यूनता था। हमें बतलाया गया था कि अप्रैल १९५६ से इस प्रकार की सहकारिताओं को समर्थ बनाने की एक योजना आरम्भ की गई है और सरकार ने वादा किया है कि जो सहकारिताएं अच्छी तथा समर्थ सहकारिताओं के साथ मिल जाने अथवा अपना कार-बार ठीक प्रकार पुनर्गठित करने को तैयार हो जाएंगी उनके मार्ग-दर्शकों का और घाटे का व्यय सरकार उठा लेगी। सहकारिता के आधार पर संगठन और कार-बार करने का जापानियों का अनुभव इतना अधिक और दीर्घ-कालिक हो चुका है कि वे आरम्भिक सहकारिताओं की कठिनाइयां हल करने में शीघ्र ही सफल हो जाएंगे। परन्तु उससे एक पाठ भारत भी सीख सकता है। वह यह कि छोटी सहकारिता-संस्थाएं प्रायः लाभ पर नहीं चल पातीं।

जापानी सहकारिता-संस्थाओं का संघठन-सूचक नक्शा



नौवां अध्याय

जापान के छोटे किसान

१८७४ से १९४० तक की देहाती अवस्था

चीन ने तो अपना आर्थिक विकास शीघ्र करने के उद्देश्य से समाजवाद का मार्ग अपना लिया है, और इस कारण वहां निजी कारबार की प्रायः कोई गुंजायश नहीं रही, परन्तु जापान अब तक निजी उद्योग पर आधारित स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था का ही मार्ग अपनाये हुए है। मीजी राज-वंश के पुनः पदारूढ़ होने के पश्चात्, जापान की आर्थिक प्रगति का अध्ययन करने से पता लगता है कि उक्त काल में उस देश की औद्योगिक उन्नति तो उल्लेखनीय मात्रा में हुई, परन्तु वहां के किसान पुरातन काल से जमी हुई जागीरदारी प्रथा के ही आधीन रहे। मीजी राज-वंश ने पुनः पदारूढ़ होने पर जागीरदारी प्रथा की परम्परागत बड़ी बड़ी ज्यादतियों को समाप्त कर दिया था, क्योंकि उनके अनुसार किसानों को नाना प्रकार की भेंटे और नजरें देमियो (जागीरदारों व ठिकानेदारों) और समुराइयों (जापान के क्षत्रिय जाति वालों) को देनी पड़ती थीं। परन्तु भूमि-व्यवस्था जमींदारी की प्रायः अपरिवर्तित प्रथा के अनुसार ही चलती रही और किसानों को प्रायः कोई अधिकार प्राप्त नहीं हुये। इस कारण देहातों की आर्थिक अवस्था शीघ्र-शीघ्र बिगड़ती चली गई। फल यह हुआ कि ग्रामीण जनता में असन्तोष फैल गया और बार बार दंगे तथा विद्रोह होने लगा। मीजी युग के पूर्वार्धं में यही दशा रही। एक अन्दाज के अनुसार १८७० से १९१२ तक विद्रोह की २१० घटनायें घटित हुईं। जमीनें किसानों के हाथ से निकलती गईं और उन पर ऋण आदि का बोझ बढ़ता चला गया। १८७२ में काश्तकार अर्थात् लगान पर जमीन लेकर उसे जोतने वाले किसान जिन जमीनों को जोतते थे उनका नाप ३२½ लाख एकड़ कूता गया था। यह बढ़ते-बढ़ते १९३९ तक ७२½ लाख एकड़ हो गया था, अर्थात् इसमें १२० प्रतिशत से भी अधिक वृद्धि हो चुकी थी। परन्तु इसी अवधि में खेती की जमीन केवल ४६ प्रतिशत बढ़ी थी। दूसरे शब्दों में लगान पर उठाई हुई भूमि का परिमाण, खेती के क्षेत्र की अपेक्षा, बहुत अधिक शीघ्रता से बढ़ा। इस वृद्धि का बड़ा कारण, छोटे किसान-मालिकों को बदखल करके, उनकी जमीनों पर जमींदारों द्वारा अधिकार कर लिया जाना था। यद्यपि सरकार की नीति खेती की जमीनों पर छोटे किसान-मालिकों को आबाद करने की थी, फिर भी परिणाम वह हुआ जिसकी चर्चा हमने अभी की है। जमीन-लगान का दर भी ऊंचा था। बरस में केवल एक फसल देने वाली धान की जमीन का औसत लगान १·०४ कोकू प्रति तान (अर्थात् लगभग १६ मन प्रति पौने-पांच बीघे), और दो फसल देने वाली का १·२ कोकू प्रति तान (अर्थात् लगभग १९ मन प्रति पौने-पांच बीघे) था। प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व तक, किसानों की ऋण-ग्रस्तता भूमि की अर्थ-व्यवस्था की एक विशेषता समझी जाती थी। १९२० और १९३० के पश्चात्वर्ती वर्षों में यह ऋण-ग्रस्तता क्रमशः ४ और ७ अरब येन (अर्थात् ५·२ और ९ करोड़ रुपये) आंकी गई थी—और तब तक मुद्रा-स्फीति अर्थात् सरकारों द्वारा कागजी नोटों का बाजारी हिसाब से अधिक चलन कर देने की प्रथा नहीं फैली थी। किसानों की इस विशाल ऋण-राशि में बैंकों द्वारा दिये हुए ऋण केवल ३० प्रतिशत और ऋण-सहकारिता-संस्थाओं द्वारा दिये हुए केवल १० से १५ प्रतिशत तक थे। ५५ प्रतिशत से अधिक ऋण, सूदखोर महाजनों ने १५ से २५ प्रतिशत तक के व्याज-दर पर दिये हुए थे। काश्तकारों की देनदारी और ऋण का भार, कृषि के समस्त उत्पादन का २८ से ३० प्रतिशत तक और विशुद्ध उत्पादन का ४८ प्रतिशत तक, कूता गया था।

२. यदि १८६० से लगा कर द्वितीय विश्व-युद्ध में पराजित होने तक, जापान का असाधारण और निरन्तर आर्थिक विकास न होता रहता तो शायद देहातों की अवस्था इससे भी अधिक खराब हो जाती। १८७४ से १९२० तक जापान में खेती की भूमि तो लगभग ४६ प्रतिशत ही बढ़ी,

परन्तु चावल और छिले हुए जौं की उपज दुगनी, गेहूं और जौं की तिगनी, और आलुओं की लगभग तिगनी हो गई थी। १९२० तक जापान में खेती का काम करने वाले लोगों की संख्या १३५ लाख पर स्थित हो गई थी, और उसके बाद आबादी में जितनी भी वृद्धि हुई वह सब प्रति वर्ष उद्योग-व्यवसाय तथा व्यापार में बढ़ते हुए रोजगार, सैनिक सेवाओं और नये उपनिवेशों में खपती चली गई। इस प्रकार जमीन पर आबादी का बोझ बढ़ना बन्द हो गया, और चहुंमुखी समृद्धि के इस वातावरण में भूमि-व्यवस्था की समस्याएं सुलझाने की ओर किसी का ध्यान जाता ही क्या। काश्तकारों की समस्याओं पर ध्यान किसी ने भी नहीं दिया। शासनारूढ़ व्यक्तियों को आशा थी कि भूमि-व्यवस्था की सभी समस्यायें अतिरिक्त आबादी को जापान से बाहर के उपनिवेशों में बसा देने से हल हो जायेंगी, और इस प्रकार जमीन पर आबादी का बोझ क्रमशः घटता चला जायगा।

महायुद्ध और भूमि-सुधारों का प्रभाव

३. परन्तु महायुद्ध बढ़ने के साथ-साथ देहातों की आबादी भी बढ़ती चली गई। नगरों में जान-माल की अरक्षा और खाद्य की दुर्लभता हो जाने के कारण, इस प्रवृत्ति को बहुत बढ़ावा मिला। युद्ध में पराजय के कारण, उपनिवेशों में बसे हुए जापानियों को स्वदेश लौटना पड़ा और इसलिये देहातों की आबादी और भी बढ़ गई। १९२० के पश्चात् प्रथम बार खेती के कामों में लगे हुए लोगों की संख्या फिर बढ़ने लगी। निम्न तालिका से यह बात स्पष्ट हो जायगी:—

	खेती में लगे हुए व्यक्तियों की संख्या (हजारों में)
१९२०	१३,७२७
१९३०	१३,७४२
१९४०	१३,३६३
१९५०	१६,१३२

युद्ध में पराजय के कारण तो खेती करने वाले परिवारों की संख्या में वृद्धि हुई ही थी, नये भूमि-सुधारों ने उसे और भी बढ़ा दिया। छोटे किसानों और लाभ-हीन खेतों की संख्या में वृद्धि के क्रम का कुछ अन्दाजा निम्नतालिका से लग सकेगा :—

खेतों का नाप	विभिन्न नापों के खेतों को जोतने वाले परिवारों की संख्या (हजारों में) १९३८	१९५०
१·२५ एकड़ से कम	१८७०	२५२३
१·२५ एकड़ से ३·७५ एकड़ तक . . .	१८०७	२९३४
३·७५ एकड़ से ५·०० एकड़ तक . . .	१३२९	३७९
५·०० एकड़ से ७·५० एकड़ तक . . .	३१४	२०८
७·५० एकड़ से १२·५० एकड़ तक . . .	१३३	७७
१२·५० एकड़ से २५·०० एकड़ तक } . . .	६७	३८
२५ एकड़ से अधिक . . } . . .	..	१०
बिना नपे खेत	..	८
योग .	५५२०	६१७७

(६१७६ ?)

इस प्रकार द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् जापान की भूमि-व्यवस्था की समस्या बिकट से बिकट-तर हो गई। विशेषतः छोटे किसानों और लाभ-हीन खेतों का प्रश्न बहुत उग्र बन गया। इसी समय सरकार ने चावल का मूल्य नियन्त्रित कर दिया, और वह बाजार में उतार-चढ़ाव को रोकने के लिये किसानों से चावल की नियत मात्रा अनिवार्यरूपेण वसूल करने लगी। इसने परिस्थिति को और भी गम्भीर बना दिया। युद्ध में जापान के पराजय की घोषणा होते ही चावल का मूल्य लागत से भी नीचे उतर गया और वह संसार के चावल-उत्पादक अन्य किसी भी देश की तुलना में सस्ता हो गया। १९२० के पश्चात् से, जापान में खेती की जमीन का नाप १५० लाख एकड़ पर और खेती की उपज का परिमाण १५० लाख टन पर टिक-सा गया था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि देहातों की आर्थिक अवस्था एकदम बहुत कष्टमय हो गई, बहुत से किसान अपने खेत, और कोई कोई तो अपनी कन्यायें तक, बेचने को विवश हो गये, क्योंकि वे अपना निर्वाह तक चलाने में असमर्थ हो गये थे। तब २१ नवम्बर १९५१ के "निधोन-टाइम्स" में छपा था :

> "युद्ध के पश्चात्वर्त्ती क्रान्तिकारी भूमि-सुधारों कीं कृपा से किसानों को जो जमीन मिली थीं उन्हें वे, भारी करों के कारण, बेंचने को विवश हो रहे हैं। कोई कोई तो अपनी कन्यायें तक बेच रहे हैं।
>
> "अब तक प्राप्त अपूर्ण सूचनाओं से ज्ञात होता है कि अपनी जमीनें बेंचने वाले किसानों की संख्या, गत वर्ष की संख्या १,००,००० से भी आगे बढ़ जायगी। १९४९ में ७३,००० किसानों ने अपनी जमीनें बेची थीं।"

१९५० में जिन एक लाख छोटे किसानों ने अपनी जमीनें बेची थीं वे समस्त-किसान-कुटुम्बों का केवल दो प्रतिशत थे। ये जमीनें जब बेची गई थीं, तब बाजार का रुख तेजी की ओर को था। परन्तु १९५० के आरम्भ में मन्दी की लहर चल पड़ी थी। उसके कारण जो दशा होने की सम्भावना हो सकती थी उसकी कल्पना सुगमता से कोई भी कर सकता है। परन्तु कोरिया में युद्ध छिड़ जाने के कारण परिस्थिति सम्भल गई। जापान में फिर समृद्धि होने लगी और विश्व-युद्ध समाप्त होते ही मन्द की जो लहर आई थी वह उलट गई। तब से जापान की अर्थ-व्यवस्था निरन्तर सुधर रही है। जमीन के सहारे निर्वाह करने वालों की संख्या में भी कुछ कमी हुई है। इसका अन्दाजा एक लाख से दो लाख वार्षिक तक लगाया गया है। १९४८ में चावल का मूल्य गिरकर केवल १२ रु० मन रह गया था। वह फिर चढ़ते-चढ़ते १९५५ में ३३ रु० मन तक पहुंच गया था। इससे भी छोटे किसानों को कुछ सहायता मिली होगी।

जापान की भूमि समस्या

४. जापान पूर्व में, औद्योगिक दृष्टि से, सर्वाधिक उन्नत देश है। फिर भी उसकी ५० प्रतिशत आबादी अपना निर्वाह कृषि से करती है। जापान में जमीन पर आबादी का दबाव चीन के ही समान है। जापान में औसतन प्रत्येक किसान-परिवार के हिस्से में २·२ एकड़ जमीन आती है, और चीन में २·५ एकड़। पहले वहां जमीन का वितरण समान नहीं था और जमींदारी प्रथा का रूप असंयत तथा अनियन्त्रित था। इस कारण जापान की भूमि-व्यवस्था चीन की व्यवस्था से अधिक भिन्न नहीं थी। जापान में भी अति-परिवर्तनकारी भूमि-सुधार लगभग उसी समय किये गये, जिस समय की चीन में। अधिकतर काश्तकारों को अपने खेतों का मालिक बना दिया गया। अपनी जमीन से दूर रहने वाले जमींदारों की सारी भूमि उनसे लेकर उनके काश्त-कारों को दे दी गई। मौके पर बसे हुए जमींदारों को, काश्त पर उठाई हुई जमीन में से २·५ एकड़ तक जमीन रख लेने दी गई, परन्तु उन्हें भी उसे काश्तकार से छीन कर आप जोतने का अधिकार नहीं दिया गया। जिन काश्तकारों को जमीन पर स्वामित्व का अधिकार नहीं मिला, उनका भी काश्त का अधिकार पूर्णतया सुरक्षित कर दिया गया। खेत का अधिकतम परिमाण ८·५ एकड़, अर्थात् प्रत्येक किसान परिवार की औसत जमीन का तीन गुणा नियत कर दिया गया। चीन में अधिकतम परिमाण औसत से दुगना नियत किया गया था। जापान में जमीन का बेचना कठोरता से नियन्त्रित कर दिया गया। कानून तो, परिवार में बंटवारे के कारण जमीनों के टुकड़

होने देने की इजाजत देता है, परन्तु अमल में उसे भी यथाशक्ति रोका जा सकता है। जापान में भूमि-सुधार का काम कृषि-भूमि-आयोगों द्वारा करवाया गया था, और ये आयोग, प्रत्येक ग्राम में लोकतन्त्री निर्वाचन-प्रणाली द्वारा नियुक्त किये गये थे। परन्तु चीन में भूमि सुधार किसान-संघों की मार्फत करवाये गये थे। यहां से आगे चीन और जापान में समानता का अन्त हो जाता है। चीन में जमीनों को बिना कोई मुआवजा दिये जब्त कर लिया गया था। परन्तु जापान में जमींदारों से भूमि पर के बहुत-से अधिकार लेते हुए उन्हें उनका मुआवजा दिया गया था, यह और बात है कि भूमि-सुधारों के तुरन्त पश्चात् ही भारी मुद्रा-स्फीति के कारण उस मुआवजे का मूल्य नाममात्र रह गया। चीन में भूमि-सुधार करने के तुरन्त पश्चात् खेती बहुत बड़े पैमाने पर सहकारिता द्वारा की जाने लगी। परन्तु जापान में खेती की प्रणाली और भूमि के प्रबन्धपर भूमि-सुधारों का प्रायः कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

५. जापान के लगभग तीन-चौथाई किसान-परिवार २.५ एकड़ से कम के खेत जोतते हैं। युद्ध में पराजय के पश्चात्, जापान पर अमरीका का अधिकार होने से पहले तक, केवल प्रथम पुत्र पिता की सारी भूमि का उत्तराधिकारी होता था, शेष पुत्रों को पैत्रिक भूमि में कोई भाग नहीं मिलता था। नये संविधान के अनुसार नियम यह है कि पिता की भूमि में सभी पुत्रों और पुत्रियों को समान भाग मिलता है। इससे खेतों के और भी छोटे-छोटे खण्ड हो जाने का डर है। भूमि-सुधारों से बहुत-से छोटे किसानों की स्थिति सुधर गई है, परन्तु केवल अंशतः। सब मानते हैं कि छोटे किसान की अवस्था अब भी अच्छी नहीं है। उसे अपने खेत से दिनभर का काम नहीं मिलता। उसे अपना आधे से अधिक समय खेत से बाहर के काम में बिताना पड़ता है। छोटे किसानों में खेत का काम स्त्रियों पर छोड़कर, और काम की तलाश में बाहर चले जाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इस कारण छोटे किसानों के खेतों पर काम करने वाली स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है। अन्य जिन पेशों में किसानों को काम मिलता है वे व्यापार और उद्योग हैं। पुराने समय में किसानों को अतिरिक्त काम खेत के आस-पास ही, अथवा अधिक से अधिक गांव के आसपास, मिल जाया करता था। इस कारण उसका जीवन किसानी का और देहाती ही रहता था। अब वह बात नहीं रही। अब तो उसे बहुधा अपने गांव से बाहर जाना पड़ता है। इस कारण अब छोटा किसान एक अर्थ में तो किसान है और दूसरे में किसान नहीं है। दूसरी ओर, वह पूरा-पूरा कारखाना मजदूर भी नहीं है। उसे खेती से बाहर थोड़ा ही काम मिलता है, इसके बावजूद उसकी किसानी की स्थिति धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही है। जमीन बेचने के प्रार्थना-पत्रों की संख्या प्रति वर्ष बढ़ती जा रही है। इस परिस्थिति में, ऋण देने, माल बेचने और अन्य सहायता देने का काम करने वाली सहकारिता-संस्थायें भी अधिक कुछ नहीं कर सकतीं। अपने खेत के छोटेपन के कारण, किसान सेवा-सहकारिता-संस्थाओं से अधिक लाभ नहीं उठा सकता। बहुत-सी सहकारिता-संस्थायें भी अनुभव करती हैं कि छोटे किसानों की अनिश्चित अवस्था के कारण उनका अपना विकास, और जीवन तक संकटापन्न हो जाता है।

६. द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् जब सहकारिता-संस्थाओं का पुनर्गठन किया जाने लगा तब यह विचार भी किया गया था कि उत्पादन को सहकारिताओं के आधार पर सम्मिलित कर देना चाहिये या नहीं, परन्तु प्रतीत होता है कि तब इस प्रश्न को टाल दिया गया। यदि उत्पादकों को भी सहकारिताओं में संगठित कर दिया जाता तो छोटे किसानों को बड़ी आर्थिक सहायता मिल जाती, उनकी कृषि में बहुविधता आ जाती, उनकी आर्थिक अवस्था में सुधार हो जाता, और उनके रहन-सहन का दर्जा ऊंचा होकर उनकी आजीविका में स्थिरता आ जाती। जापान के जानकार लोग भी इस विचार का समर्थन करते हैं, परन्तु वहां की कृषि में विद्यमान परिस्थितियां सहकारिता-संस्थाओं की उन्नति के लिये अनुकूल नहीं हैं। सम्भव है कि जापान की परिस्थितियों में सहकारितापूर्वक खेती करके उत्पादन में उतनी वृद्धि करना सम्भव न हो जितनी कि चीन और भारत में। जापान में भूमियां पहले से ही बहुत विकसित हैं। धान के ९० प्रतिशत से अधिक खेतों में सिंचाई और पानी की निकासी की सुन्दर व्यवस्था है। कृषि का उत्पादन बहुत ऊंचे दर्जे तक पहुंचा हुआ है। वर्तमान भूमियों की उपज बढ़ाने के लिये नई भूमियों का पुनरुद्धार

करने में पूंजी बहुत बड़ी मात्रा में लगानी पड़ेगी। जापान की कृषि-नीति ऐसा करने के लिये अनुकूल नहीं है। स्थानीय चावल का मूल्य लगभग ३० रु० मन बैठता है, इस कारण जापानियों का विचार है कि देश में ही भारी व्यय करके महंगा चावल उत्पन्न करने की अपेक्षा विदेशों से सस्ता चावल मंगा लेना अच्छा है।

७. परन्तु चीन और भारत की परिस्थिति इससे भिन्न है। यहां बड़े-बड़े क्षेत्र ऐसे पड़े हैं, जिनका खेती के लिये विकास किया जा सकता है। साथ ही यहां वर्तमान खेतों में भी खेती को और घना करने की बड़ी गुंजायश है। यहां कृषि को उत्पादन बढ़ाने की आवश्यकता न केवल किसानों के रहन-सहन का दर्जा ऊंचा उठाने और फैलते हुए उद्योगों के लिये कच्चा माल उपजाने के लिये है, विदेशों से मंगाई जाने वाली मशीनों का मूल्य चुकाने के लिए भी है। भारत में औद्योगिक उन्नति तथा विस्तार का सारा कार्यक्रम एक प्रकार से कृषि के उत्पादन की बड़ी मात्रा में निर्यात करने पर निर्भर करता है। इस कारण भारत में कृषि का उत्पादन बढ़ाने की आवश्यकता जापान से कहीं अधिक है।

खंड ४

भारत

दसवां अध्याय

कृषि सहकारितायें और भारत की परिस्थितियां

भारत में सहकारिता-आन्दोलन अब तक किसानों को ऋण देने तक ही सीमित था। कुछ समय पहले तक कृषि में सहकारिता का विकास करने पर हमारे देश में बहुत कम ध्यान दिया गया था। परन्तु भारतीय-राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) द्वारा नियुक्त कृषि-सुधार-समिति के प्रतिवेदन में इस पर बहुत जोर दिया गया थी। इस समिति ने खेतों को व्यावहारिक दृष्टि से तीन वर्गों में बांटा था : निर्वाह-योग्य, आधार-भूत और महत्तम। 'निर्वाह-योग्य' उन खेतों को माना गया था जिनमे किसान का निर्वाह हो जाये, उसके रहन-सहन का दर्जा उचित स्तर पर कायम रहे, और उसके परिवार तथा एक जोड़ी बलों को पूरे समय का काम मिल जाय—परिवार से अभिप्राय औसत परिवार का लिया गया था। 'आधारभूत' खेत 'निर्वाह-योग्य' का तीसरा भाग, और 'महत्तम' खेत 'निर्वाह-योग्य' खेत का तीन गुणा माना गया था। समिति ने सिफारिश की थी कि एक व्यक्ति को अधिकतम कितनी भूमि का स्वामी बनने दिया जायगा अथवा कितनी जमीन जोतने दी जायगी, इसकी सीमा निर्धारित कर देनी चाहिए। यह सीमा 'महत्तम' खेतों के परिमाण से अधिक नहीं रखनी चाहिये। 'महत्तम' और 'आधार-भूत' के बीच के खेतों के विषय में समिति की सिफारिश थी कि उनमें खेती किसानों के कुटुम्बों द्वारा की जानी चाहिये और सेवा-सहकारिता-संस्थाओं को उनकी सहायता करनी चाहिये। परन्तु साथ ही समिति ने माना था कि खेतों के परिमाण की एक सीमा ऐसी आ जायगी कि उससे छोटे खेत, सहकारिता-संस्थाओं की समस्त सहायता के बावजूद, किसान के परिवार के निर्वाह के लिये पर्याप्त सिद्ध नहीं होंगे, और इसलिये उसने सिफारिश की थी कि 'आधार-भूत' खेतों से छोटे सब खेतों को धीरे-धीरे सहकारिताओं की सम्मिलित खेती में मिला दिया जाय।

२. बाद को इस प्रश्न पर प्रथम पंचवर्षीय योजना में भी विचार किया गया था, और उसमें इस समस्या को एक भिन्न ही दृष्टि से देखा गया था। प्रथम योजना में लक्ष्य, सहकारिता पर आधारित ऐसी ग्राम-व्यवस्था का निर्माण करना रखा गया था जिसमें कि ग्राम की सारी भूमि, जन-शक्ति, और अन्य साधन-सम्पत्ति का उपयोग, विकास और संगठन पर इस प्रकार किया जाय, कि उसका लाभ ग्राम की सारी जनता को हो। इस लक्ष्य की पूर्ति में पहला कदम यह माना गया था कि छोटे और मध्यम किसानों को स्वेच्छापूर्वक कृषि-सहकारिता-संस्थाओं में संगठित हो जाने के लिये उत्साहित किया जायगा, और जो ऐसा करेंगे उनकी सब प्रकार सहायता की जायगी। और ज्यों-ज्यों सहकारिता पर आधारित खेती का विकास होता जायगा त्यों-त्यों ग्राम के जुते और अनजुते, सारे क्षेत्र को सहकारिता के दायरे में लाकर, उसका प्रबन्ध एक ही खेत के समान किया जायगा।

३. द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इस लक्ष्य पर और भी जोर दिया गया, और इस बात को दोहराया गया कि अन्तिम लक्ष्य, ग्रामों की व्यवस्था सहकारिता के आधार पर करने का ही है। सहकारिता पर आधारित ग्राम-व्यवस्था का रूप क्या होगा और वह किन और कितनी मंजिलों में से गुजरने के बाद स्पष्ट होगा, इन प्रश्नों का उत्तर प्रत्येक क्षेत्र के लोगों के उत्साह तथा अनुभव के और देहातों का विकास करने के विभिन्न कार्यक्रमों में सफलता की मात्रा के भरोसे छोड़ दिया गया है। द्वितीय योजना में यह बात बार बार जोर देकर दोहराई गई है कि सहकारिता द्वारा खेती करना, ग्राम की समस्त व्यवस्था को सहकारिता पर आधारित करने की दिशा में ही एक कदम है, और वैसा करने के लिये अनेक सुझाव दिये गये हैं। कहा गया है कि "द्वितीय पंचवर्षीय योजना में मुख्य कार्य ऐसे उपाय करना होना चाहिये जिनसे कि सहकारिता की खेती के विकास की नींव पड़ जाय और अगले दस वर्षों अथवा लगभग इतने समय में कृषि की अधिकतर

भूमि में खेती सहकारितापूर्वक होने लगे। अच्छा तो यह होगा कि राज्यों के साथ विचार-विनिमय करके और अब तक प्राप्त अनुभव को सामने रखकर, योजना के प्रथम वर्ष में ही यह निश्चय कर लिया जाय कि योजना की पंचवर्षीय अवधि में हमें सहकारिता की खेती के क्या क्या लक्ष्य पूर्ण कर लेने हैं।"

४. १९५६ में १ से ३ जुलाई तक, मसूरी में राज्यों के सहकारिता-मन्त्रियों का एक सम्मेलन हुआ था। उसमें द्वितीय पंचवर्षीय योजना के उक्त सुझावों पर भी विचार किया गया था। सम्मेलन ने अनुभव किया था कि कोई निश्चित लक्ष्य निर्धारित करना तो कठिन है, परन्तु द्वितीय योजना के समय इस दिशा में प्रगति करने के लिये इतना लक्ष्य सामने रखा जा सकता है कि प्रत्येक राष्ट्रीय विस्तार-क्षेत्र में कम से कम एक-एक कृषि-सहकारिता-संस्था का संगठन कर दिया जाय। इसका फल यह होगा कि १९६०–६१ तक देश के विभिन्न भागों में सहकारिता के कोई ५,००० प्रयोग योजनापूर्वक होने लगेंगे।

प्रगति की मन्दता

५. सहकारिता की खेती पर योजना-आयोग ने पहले प्रथम पंचवर्षीय योजना में, और फिर द्वितीय योजना में बहुत जोर दिया था। उसने राज्य-सरकारों से भी प्रार्थना की थी कि वे सह-कारिता की खेती को बढ़ावा देने के लिये क्रमिक कार्यक्रम बना लें। प्रधान मंत्री भी, संसद और राष्ट्रीय-विकास-परिषद् के अपने अनेक भाषणों में, बार-बार जोर देकर कहते रहे हैं कि उत्पादन बढ़ाने और देहातों के रहन-सहन का दर्जा ऊंचा उठाने के लिये, खेती को सहकारिता के आधार पर पुनर्गठित करना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु इतना सब जोर देने के बावजूद, अधिकतर राज्यों में, सहकारिता के आधार पर योजनापूर्वक खेती करने के लिये बहुत ही कम काम किया गया है। गत वर्षों में केवल कोई एक हजार कृषि-सहकारिता-संस्थाओं की रजिस्ट्री कराई गई। इनमें भी ७० प्रतिशत की रजिस्ट्री केवल पंजाब, बंबई और उत्तर प्रदेश में हुई। छानबीन करने पर पता चला कि इनमें से बहुत सी संस्थायें तो बनाई ही इस प्रयोजन से गई थीं कि विभिन्न राज्यों के भूमि-सुधार के कानूनों से बचा जा सके। इनमें से कुछ संस्थायें तो सफलतापूर्वक चल रही हैं, परन्तु अधिकतर को व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, और वे उन्हें हल करने का मार्ग नहीं निकाल पा रहीं। प्रथम योजना में सहकारिता की कृषि को बढ़ावा देने के लिये ५० लाख रु० की अल्प राशि रखी गई थी, परन्तु उसका भी सारी का उपयोग नहीं किया गया।

सहकारिता की कृषि पर आपत्तियां

६. गत कुछ महीनों में हमें जिन भारतीय विचारकों, शासकों और जन-नेताओं से विचार-विनिमय करने का अवसर मिला उनमें से बहुतों ने, सहकारी कृषि के कार्यक्रम की उपयोगिता और व्यवहार्यता में गम्भीर सन्देह प्रकट किया। कुछ की राय तो यह थी कि सहकारी कृषि हमारे देश की जनता की प्रकृति के ही विपरीत है—और जिनकी यह राय थी उनकी स्थिति हमारे राष्ट्रीय जीवन में बहुत ऊंची है। उनका कथन था कि हमारे देश के किसानों का भूमि से लगाव बहुत घनिष्ठ है। इसलिये उनका ख्याल था कि हमारे देश में किसी बड़ी मात्रा में सहकारिता का प्रयोग बिना दबाव या जोर-जबरदस्ती के नहीं किया जा सकता, और किसी भी लोकतन्त्री देश में वैसा करने की कल्पना तक नहीं की जा सकती। सहकारिता से कृषि करने का तर्क-संगत परिणाम यह होगा कि हमारा समाज नियम, व्यवस्था और संस्थाओं में बहुत अधिक जकड़ जाएगा, और वैसा होने पर किसान के व्यक्तित्व का और संसदीय जनतन्त्र का विकास रुक जायगा। उन्हें यह भी डर था कि सहकारिता की खेती से किसान का अपना उत्साह शायद मन्द हो जायगा, उत्पादन घट जायगा और व्यय बढ़ जायगा। अपने विचार के समर्थन में उन्होंने ऐसी सहकारी खेतियों में से कुछेक का अनुभव भी सुनाया जो इस समय देश के कुछ भागों में चल रही हैं। इसलिये उनका विचार था कि उचित मार्ग यह है कि कृषि का भलीभांति विस्तार करके, किसानों को ऋण देने, उन्हें खेती के लिये आवश्यक सब सामान मिलने और उनकी पैदावार को बाजार में

खपाने का प्रबन्ध सहकारिता-संस्थायें संगठित करके किया जाय। इस मार्ग पर चलने का लाभ यह होगा कि सहकारिता की खेती के जो गुण-व्यय घट जाना, काम का अच्छा और जल्दी होना और उत्पादन में वृद्धि हो जाना इत्यादि—बतलाये जाते हैं वे सब किसानों को आपसे आप उपलब्ध हो जायंगे। अपनी बात के समर्थन में उन्होंने जापान का उदाहरण भी दिया था।

७. कुछ अन्य लोग सहकारिता की खेती को, देहाती जनता के केवल एक सीमित भाग के लिये लाभदायक मानते हैं। उनका विश्वास है कि देहातों में भूमि की आदर्श व्यवस्था यह होगी कि खेती किसानों के कुटुम्बों द्वारा की जाय, क्योंकि किसान का व्यक्तित्व विकसित होने का अवसर एकमात्र इस प्रकार के समाज में मिल सकता है। उनके विचार के अनुसार जिन खेतों में खेती लाभपूर्वक हो सकती हो उन सबको कौटुम्बिक सम्पत्ति के रूपमें यथापूर्व बने रहने देना चाहिये। हां, खेतों की इस प्रकार की इकाइयां बनी रहने देने के कारण जो त्रुटियां उत्पन्न होती दिखलाई दें उन्हें, बहु कर्मी सहकारिता-संस्थाओं द्वारा सेवा और सामग्री का वितरण करके, दूर किया जा सकता है। परन्तु खेतों के परिमाण की एक सीमा ऐसी आ जायगी कि उससे छोटे कौटुम्बिक खेतों को, सहकारिता-संस्थाओं द्वारा सहायता देकर भी लाभपूर्वक नहीं जोता जा सकेगा। ऐसे लाभहीन खेतों को मिलाकर, सहकारी खेतों में परिणत कर देने का विरोध ये विचारक भी नहीं करते। कांग्रेस की कृषि-सुधार-समिति का विचार भी यही था।

८. अन्य कुछ विचारकों की दृष्टि, सहकारी खेती के सम्बन्ध में, सर्वथा उदासीनता की है। उनका विचार है कि भारत की मूल समस्या भूमि के परिमाण और मनुष्यों की संख्या में असन्तुलन की है, और इसे सहकारिता द्वारा खेती करके हल नहीं किया जा सकता। वे यह तो मानते हैं कि सहकारिता द्वारा खेती करने के अनेक लाभ हैं, परन्तु साथ ही वे कहते हैं कि वर्तमान पारिवारिक खेतों को सहकारी खेती में परिणत करने में जितना श्रम होगा उसकी तुलना में ये लाभ कुछ भी नहीं हैं।

९. अन्य कुछ का विचार है कि कृषि के आधुनिक यन्त्रों का और वैज्ञानिक विधियों का लाभ उठाने, व्यय घटाने और उत्पादन बढ़ाने के लिए, सहकारिता द्वारा खेती करना न केवल अभीष्ट है, अपितु आवश्यक भी है। परन्तु वे डरते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि सहकारी खेती की प्रक्रियाओं द्वारा व्यय घटाने का परिणाम, छिपी हुई बेकारी को उखाड़ डालने और लोगों को रोजगार से वंचित कर देने के रूप में प्रकट होने लगे। इस प्रकार जो लोग बेरोजगार हो जायंगे उन्हें यदि साथ ही साथ अर्थ-व्यवस्था के अन्य विभागों में खपा लेने के लिये रोजगार का पर्याप्त प्रबन्ध न किया जाय तो अनेक कठिन सामाजिक और राजनीतिक समस्यायें खड़ी हो जायेंगी। इसलिये सहकारी खेती का विकास उतना ही करना चाहिये जितना कि अर्थ-व्यवस्था के अन्य विभागों में रोजगार मिलने के नये अवसरों का प्रबन्ध हो जाय—और यह काम बहुत धीरे-धीरे होता है। इसके अतिरिक्त सहकारिता के आधार पर खेती का पुनर्गठन करते हुए शासन-सम्बन्धी अनेक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। सहकारी खेतों के लिये अति कुशल प्रबन्धकर्ताओं की आवश्यकता होगी, वे शीघ्र और सुगमता से नहीं मिल सकेंगे और धीरे-धीरे ही प्रशिक्षित किये जा सकेंगे। और अन्त में वे कहते हैं कि सहकारी खेती की कल्पना समाजवादी है, हमारे देश की अर्थ-व्यवस्था पूंजीवादी है, यहां आर्थिक विषमता बहुत अधिक है, इन परिस्थितियों में सहकारी खेती सफल कैसे हो सकेगी?

१०. इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे जन-नेताओं और शासकों में से अनेकों को सहकारी खेती के कार्यक्रमों की आवश्यकता, उपयोगिता और व्यवहार्यता में भारी सन्देह है। तिस पर सहकारिता का मूल ही स्वेच्छा-प्रयत्न है, यदि जनता इसमें सक्रिय सहयोग नहीं करेगी तो सरकार कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, इसका फल अभीष्ट और पर्याप्त नहीं निकलेगा। साथ ही यह भी सत्य है कि इस आन्दोलन की उन्नति और विकास के लिये प्रेरणा देने में पहल सरकार और राजनीतिक नेताओं को ही करनी पड़ेगी। अभी तक हमारे नेताओं और शासकों दोनों ने ही, इस बात को पूरी तरह नहीं समझा कि भूमि की अर्थ-व्यवस्था को सुधारने और देहातों को सुखी बनाने में सहकारी खेती का महत्व कितना अधिक है। हम पहले लिख आये हैं कि किसी

समय चीनी नेता भी इसी प्रकार संकोच किया करते थे और तब तक सहकारिता का कार्यक्रम वहां अधिक उन्नति नहीं कर पाया था। परन्तु अपने सन्देहों की निवृद्धि होते ही उन्होंने सहकारी खेती का विकास करने के लिये दृढ़ संकल्प के साथ प्रयत्न किया, और उसका फल भी तुरन्त ही निकल आया। जनता ने उनके साथ पूरा सहयोग किया और एक उमड़ती हुई बाढ़-सी चीन भर में फैल गई। डेढ़ वर्ष के भीतर सहकारिता-संस्थाओं के सदस्य परिवारों का अनुपात १४ प्रतिशत से बढ़कर ६२ प्रतिशत तक जा पहुंचा। आगे कुछ पृष्ठों में हम यह विचार करेंगे कि आर्थिक और सामाजिक, दोनों दृष्टियों से, सहकारी खेती क्यों आवश्यक है।

भारत में कृषि की परिस्थितियां

११. यह तो सभी मानते हैं कि हमारे देश में केवल भूमि के आसरे अपना निर्वाह करने वाली आबादी अत्यधिक है। १९५१ में अन्दाजा लगाया गया था कि खेती के सहारे गुजर-बसर करने वाले सब लोगों की संख्या २४ करोड़ ९० लाख थी, अर्थात् ५ करोड़ परिवार अथवा लगभग ७० प्रतिशत लोग अपनी गिनती किसानों में करते थे। इस हिसाब से, सारे देश में उपलब्ध खेती की जमीन, खेती के सहारे जीने वाले प्रति व्यक्ति के हिस्से में, लगभग १.६ एकड़ (अथवा प्रति किसान कुटुम्ब के भाग में लगभग ८ एकड़) आती है। जैसा कि निम्न तालिका से प्रकट है देश के विभिन्न भागों में इसका परिणाम १ से २.६ एकड़ तक है :—

	एकड़
उत्तरी भारत	१·०१
पूर्वी भारत	१·२५
दक्षिणी भारत	१·१७
पश्चिमी भारत	२·२९
मध्य भारत	२·५७
उत्तर-पश्चिमी भारत	२·५९

गंगा नदी के उत्तरी और दक्षिणी मैदानों, केरल और उड़ीसा के समुद्र-तटवर्ती प्रदेशों आदि देश के जिन भागों में आबादी घनी है उनमें प्रति व्यक्ति पीछे भूमि का अनुपात और भी कम बैठता है। आबादी बढने के साथ-साथ जमीन पर दबाव भी बढ़ता जा रहा है। कभी-कभी सुझाया जाता है कि इस समस्या का हल यह है कि कारखानों और अर्थ-व्यवस्था के अन्य विभागों में रोजगार के अधिकाधिक अवसर उत्पन्न कर दिये जायं, जिससे कि खेती के आसरे रहने वालों की संख्या घट जाय। परन्तु यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि लोगों का झुकाव कारखानों की ओर करके अथवा अन्य उपायों का अवलम्बन करके, इस समस्या को निकट भविष्य में हल नहीं किया जा सकता। हिसाब लगाकर देखा गया है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के कार्यक्रमों द्वारा दिये जाने वाले रोजगार के नये अवसरों का पूरा लाभ उठाने के पश्चात् भी, इस योजना के अन्त में, केवल खेती के आसरे रहने वाले श्रमिकों की संख्या २० से ३० लाख तक बढ़ जायगी। यदि कृषि के अतिरिक्त अन्य विभागों में काम मिलने के अवसरों का विस्तार, हमारे वर्तमान अन्दाजे से अधिक तीव्र गति से हो जाय तो भी यह अनिवार्य-सा दीखता है कि अपने काम और निर्वाह के लिये केवल खेती का भरोसा करने वालों की संख्या में वृद्धि होकर रहेगी। इस प्रवृत्ति के बदलने और जमीन पर आबादी का दबाव जहां का तहां रुक जाने में अभी पर्याप्त समय लगेगा।

जापान के अनुभव से भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि लोगों को खेती से हटा कर अन्य पेशों में लगाने की मर्यादा कितनी होती है। जापान में औद्योगिक विस्तार उन्नीसवीं शताब्दी में ही बहुत तीव्र गति से होने लगा था। तब तक कल्याण-राज्य की कल्पना तक भलीभांति विकसित नहीं हुई थी। इसलिये कारखानों के मालिक, श्रमिकों और उपनिवेशों का शोषण करके, पूंजी भी बड़ी मात्रा में एकत्र कर सकते थे। इस अनुकूल परिस्थितियों के रहते हुए भी, जापानी लोग अपने यहां जमीन पर आबादी के दबाव को जहां का तहां रोक देने में कहीं १६२० में जाकर सफल हो सके थे। और उसके पश्चात् वे केवल आबादी में हुई वृद्धि को खपाने में सफल हो सके हैं, जमीन पर दबाव को नहीं घटा सके। द्वितीय विश्व-युद्ध में पराजय के पश्चात् विदेशी व्यापार और उपनिवेशों की क्षति हो जाने के कारण, जापान में खेती की जमीन पर आबादी का दबाव फिर बढ़ने लगा है। इसके विपरीत, भारत कल तक स्वयं ही ब्रिटेन का उपनिवेश बना हुआ था। वह जब स्वतन्त्र हुआ तब कल्याण-राज्य का विचार खासा आगे बढ़ चुका था। कृषि अब भी उसकी अर्थ-व्यवस्था का सबसे बड़ा विभाग है और उसकी आधी से अधिक राष्ट्रीय आय इसी विभाग से होती है। वह पूंजी का संग्रह भी, खेती तथा अन्य विभागों में बचत करके ही, कर सकता है। खेती में लगे हुए लोगों की औसत आय बहुत कम है। अधिकतर लोग गरीब हैं। इसलिये यहां पूंजी का संग्रह और फलतः औद्योगिक विकास, जापानी की अपेक्षा बहुत मन्द गति से हो सकेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत में जमीन पर आबादी का दबाव घटने की सम्भावना प्रायः नहीं है—कम से कम भविष्य में जहां तक दृष्टी जा सकती है वहां तक तो नहीं ही है। इस कारण हमें अपनी कृषि-व्यवस्था को ही इस प्रकार पुनर्गठित करने पर विचार करना पड़ेगा कि उसमें अधिक लोगों को काम मिलने की गुंजायश हो जाय।

भूमि का विषम वितरण

१२. भारत में खेती की भूमि पर आबादी के दबाव के कारण तो स्थिति विषम है ही, वह भूमि के वितरण और खेतों की असमानता के कारण विषमत्तर बन गई है। वितरण की इस विषमता का कुछ अन्दाजा, कृषि श्रमिक-जांच समिति द्वारा तैयार की हुई निम्न तालिका से लग सकता है :—

खेत का नाप	समस्त मालिकों और समस्त क्षेत्रफल का प्रतिशत	
	संख्या	क्षेत्रफल
०.०० एकड़	१६.००	..
१.०० एकड़ तक	१३.६०	१.०
१ से २.५ एकड़ तक	१७.३०	४.६
२.५ से ५.० एकड़ तक	१७.००	६.६
५.० से १०.० एकड़ तक	१५.५०	१७.६
१० से २५ एकड़ तक	१३.१०	३२.५
२५ एकड़ से अधिक	४.५०	३४.४
	१००.००	१००.०

इस तालिका के अनुसार ५ प्रतिशत से कम व्यक्ति ३३ प्रतिशत से अधिक भूमि में खेती कर रहे हैं। इसके विपरीत, लगभग दो-तिहाई लोग जितनी भूमि जोत रहे हैं, वह खेती की भूमि के समस्त क्षेत्रफल के १५ प्रतिशत से भी कम है। १६ प्रतिशत लोगों का पेशा तो खेती है, परन्तु उनके पास जमीन बिल्कुल नहीं है। लगभग ४८ प्रतिशत लोगों में से प्रत्येक के पास ५ एकड़ से भी कम जमीन है, इस कारण उन्हें अपने निर्वाह के लिये दूसरों के खेतों पर थोड़ी बहुत मजदूरी भी करनी पड़ती है। उक्त जांच के अनुसार, कृषि-जीवी आबादी में से ४० प्रतिशत (अर्थात् देहाती आबादी में ३० प्रतिशत) व्यक्ति ऐसे हैं जिनका पूरा अथवा अधूरा निर्वाह, दूसरों के लिये श्रम करके होता है। यह भी निश्चय हो चुका है कि उन्हें वर्ष के सब दिनों में काम नहीं मिलता। उन्हें मजदूरी बहुत कम मिलती है। मजदूरी-सम्बन्धी कानून भी, उनकी विशेष सहायता नहीं कर सके। उनका लाभ केवल कुछ खास खास चीजों की खेतियों के मजदूरों को मिला है। बहुत से छोटे किसानों के पास जमीन लगानी है और उन्हें अपनी पैदावार का बड़ा भाग लगान चुकाने के लिये दे देना पड़ता है। इस प्रकार, खेती पेशा आबादी का बहुत बड़ा भाग अपना निर्वाह-मात्र कर पाता है। जात-पात और धर्म के आधार पर समाज के तंग दायरों में बंट जाने के कारण, खेती करने वालों की कठिनाइयां और भी बढ़ जाती हैं। उनके कारण, समाज और अर्थ की वर्तमान व्यवस्था में सुधार कर सकना प्रायः असम्भव हो जाता है।

कौटुम्बिक खेती की त्रुटियां

१३. एक ओर तो जमीन के आसरे रहने वाली आबादी का बहुत बड़ा भाग आधा बेकार रहता है, और दूसरी ओर, बड़ा भारी करने का काम अन-किया पड़ा है। इस समय सरकारी या निजी साधनों से सिचाई खेती की समस्त भमि के पांचवे से भी कम भाग में हो पाती है। नये कुएं, तालाब और बांध आदि बनाकर सिचाई बढ़ाने की बड़ी गुंजायश है। बहुत से पुराने तालाब मरम्मत करने के लिये पड़े हैं। आर्द्रता (नमी) को सुरक्षित रखने के लिये बांध बनाने की जरूरत है। जमीन कट जाने के कारण अनेक बड़े इलाकों में खेती होना बन्द हो गया है। उस जमीन का पुनरुद्धार करने की आवश्यकता है। कई स्थानों पर जमीन का कटाव रोकने की जरूरत है। कई स्थानों पर पानी जमीन में भर जाता है, वहां पानी निकालने के लिये नालियां बनाई जानी चाहियें। ये सब काम ऐसे हैं जो बहुत-से लोग मिलकर ही कर सकते हैं। इन्हें करने के लिये प्रायः केवल श्रम-विनियोग की आवश्यकता है। श्रम का अधिक उपयोग करके उत्पादन में भी बहुतेरी वृद्धि की जा सकती है। जमीन पर आबादी के दबाव में और मजदूरों (आबादी) की संख्या में वृद्धि तो दसियों वर्ष से निरन्तर हो रही है, परन्तु इस बढ़ी हुई आबादी का उपयोग ऊपर गिनाये गये सुधार के काम करने और खेती से अधिक पैदावार लेने के लिये प्रायः बिल्कुल नहीं किया गया। इस दुरवस्था के कारणों का विचार छिड़ने पर प्रायः कुशलता या नई विधियों के ज्ञान या पूंजी या सूझ-बूझ अथवा किसानों में सुधार के लिये उत्साह की कमी और खेतों के छोटेपन आदि की चर्चा होती रहती है। परन्तु हमारा ख्याल है कि भूमि का शीघ्र सुधार न होने और खेतों से अधिक उपज न ली जाने के वास्तविक कारण, इनसे कहीं अधिक गहरे हैं। हम इस विचार से सहमत नहीं हैं कि औसत भारतीय किसान में पर्याप्त सूझ-बूझ का अभाव है या वह कठोर श्रम करने में असमर्थ है। उसे भी अपनी आर्थिक अवस्था सुधारने की चिन्ता उतनी ही है जितनी कि देश में अन्य कोई व्यवसाय करने वाली किसी भी व्यक्ति को हो सकती है। वह भी चीन और जापान के किसानों जितना ही चतुर किसान है।

यह ठीक है कि भारत में अधिकतर खेत छोटे हैं, परन्तु हम कृषि-श्रमिक-जांच का हवाला देकर दिखला चुके हैं कि हमारे देश के दो-तिहाई से अधिक खेतों का नाप १०/१० एकड़ से अधिक है। इतने बड़े खेत भारतीय परिस्थितियों की दृष्टि से खेती की खासी बड़ी इकाइयां हैं। क्या कारण है कि इन बड़े खेतों की भूमि में भी कोई उन्नति नहीं हुई अथवा उत्पादन नहीं बढ़ाया गया? सम्भव है कि इन मालिकों को पूंजी अथवा अन्य साधनों की कमी रही हो, परन्तु हमारी सम्पत्ति में वह कोई वास्तविक बाधा नहीं है।

१४. हमारा ख्याल है कि बाधाएं और कठिनाइयां मुख्यतया उन त्रुटियों के कारण होती हैं जो पारिवारिक खेती के साथ स्वाभाविक रूप से जुड़ी रहती हैं। इस प्रकार की खेती में लागत लगाने और उससे होने वाले लाभ (पूंजी और नफे का) विचार करते हुए, व्यक्ति केवल अपनी पूंजी और अपने लाभ का ध्यान रखते हैं, समाज की पूंजी और समाज के लाभ का विचार वे प्रायः कभी नहीं करते। भूमि-सुधार के कामों को मोटी दृष्टि से दो वर्गों में बांट सकते हैं। पहले वर्ग में वे काम आते हैं जिन्हें किसान केवल अपने अथवा अपने परिवार के श्रम से पूरा कर सकता है, दूसरे वर्ग में उन कामों की गिनती करनी चाहिये जिन्हें पूरा करने के लिये मजूरी देकर अन्य लोगों की सहायता लेनी पड़ती है। पहले वर्ग के कामों को किसान, लागत और लाभ का बिना कोई विचार किये, स्वयं कर सकते हैं। परन्तु दूसरे वर्ग के काम सामने आते ही, उन पर होने वाले व्यय और उससे मिलने वाले लाभ का विचार उठ खड़ा होता है। किसान भूमि में केवल ऐसे सुधार करता है जिनसे उसे स्वयं लाभ होता है। वह उन सुधारों को नहीं करना चाहता जिनसे कि उसे इतना पर्याप्त लाभ न हो कि वह उनके लिये लिये हुए ऋण और उसके व्याज को भी न चुका सके। खेती की पैदावार का जो मूल्य मिलता है और उसके कामों के लिये जो मजदूरियाँ देनी पड़ती हैं, उनके हिसाब से भूमि-सुधार के बहुत से काम ऐसे हैं कि वे पर्याप्त लाभदायक नहीं हो सकते। इस कारण, यदि सुधार के इन कामों के लिये किसान को पूंजी तथा अन्य साधन दे दिये जायं तो भी वह एक हद से आगे बढ़ना पसन्द नहीं करेगा। शायद गत दसियों बरसों में भूमि-सुधार की गति मन्द रहने का एक बड़ा कारण यह भी है। उससे पहले सुधार के जो काम होते थे उनमें से बहुत-से सरकार की या जागीरदारों जमींदारों आदि की कारवाइयों के कारण, हुआ करते थे। वे फालतू मजदूरों को इकट्ठा करके काम में जोत तो देते थे, परन्तु उन्हें मजदूरी या तो बिल्कुल नहीं देते थे और या नाममात्र देते थे। अब बेगार लेने का यह रिवाज उठ चुका है। परन्तु इसके स्थान पर ऐसा कोई रिवाज नहीं पड़ा या कारवाई शुरू नहीं हुई, जिसके द्वारा बहुत-से लोगों को इकट्ठा करके सारी बस्ती या समाज के लाभ के लिये कोई काम करवा लिया जाय। इन परिस्थितियों में भूमि-सुधार का उत्तरदायित्व अधिकाधिक सरकार को ही उठाना पड़ेगा।

१५. पैदावार बढ़ाने के लिये खेती को घना करते हुए भी, कितनी लागत लगाने से कितना लाभ होगा, यह विचार किया ही जाता है। इसका अपवाद केवल वहां होता है जहां कि सारा काम किसान स्वयं कर सकता या अपने कुटुम्ब से करवा सकता है। जो काम किसान को, मजदूरी देकर दूसरों से करवाने पड़ते हैं, उन्हें वह केवल उतना करवाता है जितने से उसे मजदूरी पर लगाई हुई लागत की अपेक्षा कुछ अधिक की प्राप्ति हो जाय। खेती में, न केवल क्रमशः न्यून से न्यूनतर लाभ होने का नियम शीघ्र लागू होने लगता है, अपितु मजदूरी और मूल्यों की विशेष परिस्थितियों में, ऐसी स्थिति शीघ्रतर आ जाती है जब कि किसान को मजदूरी पर खर्च की हुई रकम तक वसूल नहीं होती। प्रायः देखा गया है कि छोटी खेतियों से अनेक बाधाओं के होते हुए भी, पैदावार अधिक ली जाती है और प्रति एकड़ पीछे उपज भी अधिक होती है। छोटे किसानों के पास मेहनत करने की फुरसत प्रायः इतनी अधिक होती है कि वे उसका पूरा उपयोग दूसरों के लिये मजदूरी करने में भी नहीं कर सकते, इस कारण उन्हें विवश होकर, फल का बिना कोई विचार किये, उसका उपयोग अपने ही खेत में अधिक पैदावार लेने के लिये कर लेना पड़ता है। जैसा कि अभी जिक्र कर चुके हैं, हमारे देश में दो-तिहाई से अधिक से अधिक खेत १०/१० एकड़ से बड़े हैं। जिन किसानों के खेत इससे (१० एकड़ से) बड़े हैं उन्हें अपने खेत के नाम के अनुसार कम ज्यादा दूसरे मजदूर रखने ही पड़ते हैं। उनके अतिरिक्त भी, कुछ समय के लिये तो दूसरे मजदूरों को प्रत्येक किसान रखता ही है। इसका अर्थ यह हुआ कि अधिकतर भूमि ऐसे लोगों के पास है जिन्हें अंशतः या पूर्णतः उसका काम दूसरे मजदूरों से करवाना पड़ता है, परन्तु कितनी लागत लगाकर कितना लाभ मिलेगा, इस विचार के कारण घनी खेती बहुत नहीं हो सकती। लागत पर लाभ अधिक मिलने के दो ही उपाय हैं—या तो पैदावार का मूल्य बढ़ जाये और या मजदूरी घट जाये, दोनों उपाय किये जा सकें तो लाभ और भी बढ़ सकता है। इस समय खेत-मजदूरों को मजदूरी बहुत कम दी जाती है और वे अपना निर्वाह तक कठिनाई से कर पाते हैं। भारत की कई राज्य-सरकारों ने खेत-मजदूरों की मजदूरियां बढ़ाने के कानून बनाये हैं। परन्तु उनका पालन

पूरी तरह करवाया जाय तो खेती का व्यय और भी बढ़ जायगा और भूमि-सुधार के लिये किसान का उत्साह मन्द से मन्दतर हो जायगा।

सेवा-सहकारिता-संस्थाओं की कठिनाइयां

१६. जिन देशों में भूमि की प्रचुरता है और जिनमें खेती, समस्त उपज के विचार के स्थान पर, विशुद्ध आर्थिक लाभ के लिये की जाती है, उनके लिये तो कौटुम्बिक खेती की बात ठीक है। परन्तु भारत में भूमि और पूंजी, दोनों की तो दुर्लभता है, और मजदूरों की प्रचुरता है। हम अपने बहुत-से मजदूरों से कोई काम नहीं ले पाते। बरस के बहुत-से दिनों में वे बेरोजगार अथवा अर्ध-बेरोजगार रहते हैं। इसलिये भारत में हमें विशुद्ध आर्थिक लाभ का तो ध्यान रखना ही चाहिये, उससे भी अधिक ध्यान इस बात पर देना चाहिये कि उपलब्ध मजदूरों का पूर्णतम उपयोग करके और वर्तमान भूमि से ही यथासम्भव अधिकतम उपज लेकर उत्पादन में वृद्धि कर ली जाय। जैसा कि हम पहले चर्चा कर चुके हैं कौटुम्बिक खेती में, लागत और लाभ का विचार मुख्य रहने के कारण, ऐसे बहुत-से सुधार नहीं किये जा सकते जो व्यक्ति की दृष्टि से लाभदायक नहीं होते। यह बात खेती को घना करने पर भी लागू होती है। ऐसे सुधार न तो किसान स्वयं कर सकता है और न उन पर सेवा-सहकारिता-संस्था लागत लगा सकती है। छोटे खेतों में लाभ-दायक सुधार करना जोखिम से खाली भी नहीं है। अधिकतर किसानों के खेत बहुत छोटे-छोटे हैं। उनकी आमदनी और उनके जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं तक में बहुत अन्तर रहता है। यह अन्तर उस अतिरिक्त आय से भी कठिनाई से पूरा हो सकेगा जो कि सेवा-सहकारिता-संस्थाओं द्वारा लगाई हुई लागत और किये हुए सुधारों से होगी। इस कारण, इन संस्थाओं के सामने छोटे किसानों से अपना ऋण वसूल करने की एक नई समस्या खड़ी हो जायगी। अनुभव बतलाता है कि छोटा किसान यदि एक बार ऋण-ग्रस्त हो जाय तो सदा ही ऋण-ग्रस्त रहता है। इन कारणों से सेवा-सहकारिता संस्थाओं के कार्य का क्षेत्र भी सीमित हो जायगा।

१७. इसके अतिरिक्त इन संस्थाओं को वित्तीय बाधाओं का भी सामना करना पड़ेगा। ये पूंजी कहां से लायेंगी? भारत में औद्योगिक उन्नति और यातायात के साधनों का विकास करने के लिये जो कार्यक्रम बनाये गए है, उनके कारण ही उपलब्ध पूंजी-साधनों पर भारी दबाव पड़ा रहा है। घाटे के बजट बनाकर काम निकालने की भी हद हो चुकी है। इस कारण, कृषि की उन्नति करने के लिये साधन, कृषि की बचत में से ही, एकत्र करने पड़ेंगे। जहां भूमि की अर्थ-व्यवस्था का आधार छोटे-छोटे खेतों की कौटुम्बिक खेती होता है वहां बचत करके पूंजी का संग्रह बहुत सीमित मात्रा में ही, हो सकता है। हाल में कृषि-मन्त्रालय ने खेतों के प्रबन्ध का एक विशेष अध्ययन करवाया था। उससे ज्ञात हुआ था कि छोटे खेतों पर व्यय आय से सदा अधिक होता है। दूसरे शब्दों में, छोटे किसानों को अपने श्रम तक का उचित मूल्य नहीं मिलता। बीच के दर्जे की खेतियों में भी बचत थोड़ी ही होती है। केवल बड़ी खेतियों में थोड़ी बहुत बचत होती है। व्यय अधिक होने का एक बड़ा कारण यह है कि हल खींचने वाले पशुओं और बड़े औजारों में पूंजी की बड़ी रकम फंस जाती है, और वे बरस में बहुत-सा समय बेकार पड़े रहते हैं। भारत में भूमि दुर्लभ और पूंजी की मात्रा सीमित है, और इन तक का उपयोग मितव्ययता से नहीं किया जाता, उन्हें व्यर्थ पड़ा रहने दिया जाता है।

१८. कुछ लोगों का विचार है कि भूमि और जनशक्ति ठीक प्रकार उपयोग न हो सकने का प्रधान कारण, भूमि पर लोगों का निजी स्वामित्व है। इसलिये वे कहते हैं कि भूमि पर सब प्रकार के निजी अधिकारों का अन्त करके उसका स्वामी गांव की जनता को बना देना चाहिये। ऐसा कर देने पर घनी खेती करने अर्थात् उतनी ही भूमि से अधिक उपज लेने के लिये, जनशक्ति का उपयोग ठीक ठीक होने लगेगा। किसान अपने अपने खेत में खेती करते हुए भी सुधार के काम एक दूसरे के साथ मिलकर कर सकेंगे, और सेवा-सहकारिता-संस्थायें उनकी सहायता करेंगी। उनका एक सुझाव यह भी है कि सुधार के कामों का लाभ सब किसानों को मिल सके, इसके लिये कुछ कुछ समय पश्चात् भूमि का पुनर्वितरण कर देना चाहिये। हमारा ख्याल है कि यह

मार्ग भी विघ्नबाधा-रहित नहीं है। पहली बात तो यह है कि जिन जमीनों पर इस समय एक-एक आदमी खेती कर रहा है उनका सुधार करने के लिये लोगों को सहकारिता में संगठित करते हुए मानव-स्वभाव-सुलभ बाधाओं का सामना करना पड़ेगा। दूसरे, कुछ-कुछ समय पश्चात् भूमि का पुनर्वितरण कर देने का सुझाव बहुत व्यवहार्य नहीं है। अन्तिम बात यह है कि जब तक खेती छोटे-छोटे खेतों में पृथक्-पृथक् होती रहेगी तब तक बड़ी मात्रा में मितव्ययता करके दुर्लभ पूंजी की बरबादी को रोकना अत्यन्त कठिन होगा, अर्थात् व्यय में कमी तथा विशेष विधियों का प्रयोग करने और प्रबन्ध-कुशलता का लाभ उठाने आदि के काम सुगमता से नहीं किये जा सकेंगे।

सहकारिता की खेती के लाभ

१६. सेवा-सहकारिता-संस्थायें इस सब विनाश को रोकने के लिये अधिक काम नहीं कर सकतीं। इस कारण हमें सारी ही भूमि-व्यवस्था का इस प्रकार पुनर्गठन करने पर विचार करना पड़गा कि उसमें भूमि, पूंजी, जनशक्ति और प्रबन्ध-कुशलता का उपयोग योजनापूर्वक किया जा सके। इसके लिये हमें भूमि, पूंजी और जनशक्ति के साधनों को एकत्र करके उनका उपयोग सहकारितापूर्वक करना पड़ेगा, जिससे कि उपलब्ध साधनों का उपयोग पूरा-पूरा हो जाय और बड़ी मात्रा में काम करने से व्यय में जो कमी होती है उसका भी लाभ मिल जाय। सहकारिता की खेती में, लागत और लाभ का विचार भी, बहुत बड़े क्षेत्र को सामने रखकर किया जायगा। उसमें, प्रबन्ध की दृष्टि से एकत्रित सारी भूमि को एक खेत और एकत्रित श्रमिकों को एक कुटुम्ब माना जायगा। उसमें खेती को घना, खेत के सब भागों में किया जा सकेगा और अधिकतम मजदूरों से काम लेते हुए भी लागत का कोई विचार नहीं करना पड़ेगा। फलों और सब्जियों की खेती भी की जा सकेगी। दूध-व्यवसाय चालू किया जा सकेगा। और यदि सब लोग खेती के काम में नहीं खपेंगे तो उनका उपयोग गाँव के रास्ते और मकान सुधारने और बालकों तथा वयस्कों को लिखाने-पढ़ाने आदि समाज-सेवा के कार्यों में किया जा सकेगा। हल और गाड़ी के पशुओं को कम किया जा सकेगा और इससे जो चारा बचेगा उसका उपयोग दूध बढ़ाने के लिये, दुधारू पशुओं को खिलाने में हो सकेगा। पूंजी-साधनों का उपयोग अधिक पूरी तरह होने लगेगा। व्यय घट जायंगे। जिन साधनों की बचत होगी उनका उपयोग कुटीर तथा अन्य छोटे उद्योग-धंधों का विकास करने के लिये हो सकेगा। इस प्रकार सहकारितापूर्वक खेती करने से रोजगार के नये रास्ते खुल जायंगे और लोगों का रहन-सहन का दर्जा ऊंचा हो जायगा। खेती सहकारितापूर्वक न की जायगी तो ५ करोड़ किसान परिवारों में से प्रत्येक की आवश्यकताओं का पता लगाकर उनकी पूर्ति का प्रबन्ध करना पड़ेगा। कृषि-उत्पादक यदि सहकारिता-संस्थाओं में संगठित हो गये तो सरकार को भी कोई पाँच लाख से कम सहकारिता-संस्थाओं के साथ व्यवहार करना पड़ेगा और अन्त को वही कल्याण-कार्यक्रमों की पूर्ति के लिये सरकार का साधन बन जायंगी। इसके अतिरिक्त, अब जो लोग सामाजिक रीतिरिवाजों और जात-पात के झगड़ों के कारण नाना खण्डों में बंटे हुए हैं, सहकारिताओं का संगठन हो जाने पर उन सबको मिलकर काम करने का अवसर मिलेगा और उनमें विचारों तथा भावनाओं की एकता का बीज जमकर वह क्रमशः फलता-फूलता चला जायगा।

२०. अभी जिन सम्भावनाओं की चर्चा की गई है उन सबको, चीन की उत्पादक-सहकारिता-संस्थाओं ने, असन्दिग्ध रूप में, प्रत्यक्ष कर दिखलाया है। वहाँ सिंचाई के पुराने साधनों को सुधारा जा रहा और नयों का विकास किया जा रहा है। नई भूमियाँ तोड़कर उनमें खेती की जा रही है। खाद की उपलब्धि वहाँ बहुत बढ़ाई जा चुकी है। खेत को जल्दी जोत देने और अच्छे बीजों, औजारों, भूमि-नाशक और रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग आदि खेती की नई विधियों से लाभ बड़ी मात्रा में उठाया जा रहा है। बाढ़ और सूखे जैसी प्राकृतिक आपत्तियों का सामना करने में भी वहाँ की उत्पादक-सहकारिता-संस्थायें सफल हुई हैं। हमने देखा था कि अधिक बरसात का पानी निकालने के लिये सहकारिता-संस्था वालों ने दूर-दूर तक नालियाँ खोद दी थीं। समाज-सेवा के काम की सहकारिता-संस्थाओं में खूब हो रहे थे। बूढ़े और असमर्थ लोगों की सहायता करने में भी सहकारिता-संस्थाओं को सफलता हुई थी। सारांश यह है कि सहकारिताओं के कारण समस्त जनशक्ति का योजनापूर्वक उपयोग हो गया था और इस प्रकार देहातों के पुनर्निर्माण के लिये खेती की बचत में से ही पूंजी अधिकाधिक मात्रा में निकाली जा रही थी।

२१. हम यहां इतना और बतला दें कि भारत की कृषि का तुरन्त ही विकास करने के लिये सेवा-सहकारिता-संस्थाओं का जो उपयोग हो सकता है, हमारा इरादा उसे घटाकर प्रकट करने का नहीं है। हमारा प्रयोजन इस अध्याय में केवल इतना बतलाने का है कि खेती की उपज में शीघ्र वृद्धि करने में कौटुम्बिक खेती के कारण कितनी रुकावटें खड़ी हो जाती हैं और इसलिये भारत में कृषि-सहकारिता-संस्थाओं का कार्यक्रम आरम्भ कर देना चाहिये। हम मानते हैं कि भारत में कौटुम्बिक खेती भी, खेती के एक प्रकार के रूप में, अभी बहुत समय तक चलती रहेगी, और किसान-परिवारों की सहायता सेवा-सहकारिता-संस्थाओं का विकास करके ही करनी पड़ेगी।

लाभरहित खेतों में सहकारिता की खेती

२२. अब हम इस विचार की परीक्षा करते हैं कि जिन खेतों से लाभ नहीं होता उन पर पूंजी का व्यय करना उसे नष्ट करना है, और ऐसे खेतों की सहायता सेवा-सहकारिता-संस्थाओं द्वारा भी नहीं की जा सकती, इसलिये सहकारिता की खेती केवल ऐसे लाभरहित खेतों तक सीमित करके, जो खेत अपने ही बल पर खड़े रह सकते हो उन्हें पारिवारिक खेतों के रूप में चलता रहने देकर उनकी सहायता सेवा-सहकारिता-संस्थाओं द्वारा करनी चाहिये। यह विचार भी कठिनाइयों और विघ्न-बाधाओं से रहित नहीं है। पहली बात तो यह है कि अधिकतर खेत लाभरहित ही हैं, परन्तु उनके नीचे आई हुई भूमि, समस्त भूमि का केवल छोटा-सा भाग है। यदि सहकारिता की खेती केवल इन लाभ-रहित खेतों की भूमि में की जायगी तो वह बहुत थोड़ी भूमि में होगी, और इसलिये जो लोग खेती की विधियों में सुधार करने, खेती को घना करने और मितव्ययता के अन्य उपायों का अवलम्बन करने के कारण फालतू हो जायंगे उन सब को उसमें नहीं खपाया जा सकेगा। परिणाम यह होगा कि अनेक बड़ी बड़ी सामाजिक और राजनीतिक समस्यायें नई खड़ी हो जायंगी। दूसरी बात यह है कि खेती और प्रबन्ध की कुशलता, अपेक्षाकृत सम्पन्न किसानों में ही पाई जाती है, वे यदि इन सहकारिताओं में सम्मिलित न हुए तो ये उनके अनुभव और कुशलता से वंचित रह जायंगी। और तीसरी बात यह कि जो खेत लाभ-रहित नहीं हैं उनमें यदि यथापूर्व कौटुम्बिक खेती की होती रहने दी गई तो खेती की भूमि के अधिकतर भाग में कौटुम्बिक खेती की बुराइयाँ चलती चली जायंगी, क्योंकि भूमि का अधिक भाग इसी प्रकार के खेतों में घिरा हुआ है। इन खेतों में, भूमि और जनशक्ति का उपयोग, योजनापूर्वक भी नहीं किया जा सकेगा। आज भारत की आवश्यकता यह है कि उपलब्ध साधनों का पूर्णतम उपयोग करके समस्त भूमि की उपज को यथाशीघ्र बढ़ा लिया जाय, वह सहकारितापूर्वक खेती करने से ही पूरी हो सकती है।

२३. इसके अतिरिक्त, इस विचार में, बे-जमीन खेत-मजदूरों का ध्यान बिल्कुल नहीं रखा गया। जब तक उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाओं को पर्याप्त समय तक सारी बस्ती के क्षेत्र का उपयोग न करने दिया जायगा तब तक उनके लाभ प्रकट नहीं होंगे। इसलिये सहकारी खेतों की हमारी कल्पना तो यह है कि उनमें गाँव के वे सभी लोग पारस्परिक लाभ के लिये स्वेच्छया सम्मिलित हो जायं जो कि सचमुच खेती का पेशा करते हैं—उनके पास चाहे जमीन हो चाहे नहीं। गाँव का अधिकतर क्षेत्र सरकारी खेती के अन्तर्मुक्त हो जाने के पश्चात् ही, गांव को किसी योजना का आधार बनाया जा सकता है और तभी उपलब्ध भूमि जन-शक्ति और साधनों का उपयोग, सब किसानों और सारी बस्ती के लिए, योजनापूर्वक किया जा सकता है।

सहकारिता की खेती के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों का उत्तर

२४. अब हम इस प्रकार की कुछ आपत्तियों पर विचार करते हैं कि सहकारिता की खेती से व्यक्तियों का उत्साह और स्वतन्त्रता नष्ट हो जायंगे, किसान के व्यक्तित्व का विकास रुक जायगा और सारा का सारा समाज संस्थाओं में जकड़ा जायगा। खेती का काम करने वालों को, कारखाने के मजदूरों की भांति, केवल एक प्रकार का काम नहीं करना पड़ता। उन्हें नाना प्रकार के काम करने का अवसर मिलता रहता है। इसलिये किसान चाहे काम सहकारिता-संस्था में करे चाहे

उसके बाहर, उसका उत्साह और सूझ-बूझ खेती के सभी कामों में बना रहने की सम्भावना है। हुक्म और हुकूमत के वातावरण में जो बुराइयाँ उत्पन्न हो जाया करती ह, उन्हें प्रबन्ध-कुशलता और वैयक्तिक सूझ-बूझ तथा स्वतन्त्रता की रक्षा करने के उपयुक्त उपाय करके बहुत कुछ रोका जा सकता है। इसके लिये चीनियों ने दलों में बंट कर काम करने की विधि निकाली है। सहकारिता-संस्था के सब किसानों को दलों में, और आवश्यकता हो तो दलों को भी टोलियों में, बाँट दिया जाता है। प्रत्येक टोली के सुपुर्द एक-एक क्षेत्र कर दिया जाता है और उसे अपने नेता के नेतृत्व में उसी में काम करना होता है। टोली में प्रायः थोड़े ही आदमी रखे जाते हैं। इस प्रकार बाँटकर काम करने का लाभ यह होता है कि काम करने वालों को सहकारिता-संस्था के प्रबन्धकर्ताओं के निरन्तर सम्पर्क में आने का अवसर मिलता रहता है। चीन में हमने देखा कि लोकतन्त्री प्रणाली से काम करने और व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करने का ध्यान सदा रखा जाता था। इतना तो हम भी मानते हैं कि सहकारिता-संस्था में सम्मिलित हो जाने पर प्रत्येक किसान को दल के अनुशासन में बंध कर चलना पड़ता है, और उतनी मात्रा में उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की हानि हो जाती है। परन्तु दूसरी ओर, सहकारितापूर्वक खेती करने से आर्थिक अवस्था में जो उन्नति हो जायगी उसके कारण सारा दल और उसके सब सदस्य अधिक स्वतन्त्रता से साँस ले सकेंगे, अब तो उन्हें ऐसा करने का अवसर तक नहीं मिलता। किसी भी सम्मिलित कार्य में दलीय अनुशासन की रक्षा के लिये वैयक्तिक स्वतन्त्रता का त्याग करना ही पड़ता है, और विकास की योजनाओं में थोड़ी-बहुत विवशता रहती ही है। इसलिए वास्तविक प्रश्न यह है कि हम राष्ट्र के आर्थिक विकास और कल्याण के लिये और विशेषतः समाज के पिछड़े हुए वर्गों के लाभ के लिए, थोड़ी-बहुत वैयक्तिक स्वतन्त्रता का त्याग करने को तैयार हैं या नहीं। वैयक्तिक खती की समाप्ति करके सहकारिता की खेती को अपनाने में, वैयक्तिक स्वतन्त्रता की हानि कितनी होगी, इस प्रश्न का सम्बन्ध प्रत्येक व्यक्ति के साथ पृथक्-पृथक् है। कुछ की हानि अधिक और कुछ की न्यून होगी। परन्तु सब मिलाकर हमारा ख्याल है कि सहकारिता की खेती से लाभ, हानियों की अपेक्षा, अधिक होंगे।

२५. हमारा यह विचार राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का १९४२ में लिखा हुआ एक लेख पढ़कर और भी दृढ़ हो गया। उनका मूल लेख हिन्दी में लिखा गया था और 'हरिजन सेवक' में प्रकाशित हुआ था। पीछे उसका अंग्रेजी अनुवाद अंग्रेजी के 'हरिजन' में भी उसी वर्ष फरवरी में प्रकाशित हुआ था। हमें यह लेख इतना महत्वपूर्ण लगा कि हमने इस सारे के सारे को इस अध्याय में, परिशिष्ट के रूप में, सम्मिलित कर लिया है। इस लेख में सामुदायिक और सहकारिता की खेती पर लोकतन्त्र तथा अहिंसा की दृष्टि से विचार किया गया है। गांधी जी के सामने प्रश्न यह था कि भारत में पशुओं की रक्षा और सुधार करने के लिये उनका व्यक्तियों द्वारा पाला जाना ठीक होगा या समुदाय या समाज द्वारा। इस प्रश्न पर अनेक दृष्टियों से विचार करने के पश्चात् गांधी जी निश्चित और असन्दिग्ध रूप से इस परिणाम पर पहुंचे थे कि भारत में पशुओं की शोचनीय दशा का एक बड़ा कारण यह भी है कि उनका पालन-पोषण वैयक्तिक सम्पत्ति के रूप में किया जाता है, और उसे सुधारने का उपाय उनका पालन सामुदायिक रूप से करना है। उन्होंने लिखा था :—

"मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि जब हम अपनी जमीन भी सामुदायिक पद्धति से जोतेंगे तभी उससे पूरा फायदा उठा सकेंगे। बनिस्बत इसके कि गाँव की खेती अलग-अलग सौ टुकड़ों में बंट जाय, क्या यह बेहतर नहीं कि सौ कुटुम्ब सारे गाँव की खेती सहयोग से करें और उसकी आमदनी आपस में बाँट लिया करें। और जो खेती के लिये ठीक है, वही पशु के लिये भी समझा जाय।"

"यह दूसरी बात है कि आज लोगों को सहयोगी पद्धति पर लाने में कठिनाई है, कठिनाई तो सभी सच्चे और अच्छे कामों में हुआ करती है। गो-सेवा के सभी अंग कठिन हैं, परन्तु कठिनाइयाँ दूर करने से ही सेवा का मार्ग सुगम बन सकता है। यहाँ तो बताना यह था कि सामुदायिक पद्धति क्या चीज है और वह वैयक्तिक (पद्धति) से इतनी अच्छी

क्यों है। यही नहीं, बल्कि वैयक्तिक गलत है, सामुदायिक सही है। व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा भी सहयोग को स्वीकार करके ही कर सकता है। अतएव सामुदायिक पद्धति अहिंसात्मक है, वैयक्तिक हिंसात्मक।"

२६. यह देखना भी अत्यावश्यक है कि सहकारिता की खेती अपनाने से, हमारी लोकतंत्री संस्थाओं पर तो उसका प्रभाव नहीं पड़ेगा। हमारा विचार तो यह है कि जिस देश में जैसा वातावरण होता है उसमें संस्थायें भी वैसी ही बन जाती हैं—वे चाहे केन्द्रीभूत हो चाहे विकेंद्रीकृत चाहे लोकतन्त्री हों चाहे एकाधिकारी। उनका खेती की प्रणाली के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता—वह चाहे कौटुम्बिक हो चाहे सहकारिता की। यों, गांव के अन्य किसी भी संगठन के समान, सहकारिता की खेती से भी लोकतन्त्री परम्पराओं की प्रगति में, बाधा पड़ने के स्थान पर, सहायता ही मिलनी चाहिये—और मूल में तथा शाखा-प्रशाखाओं में, सर्वत्र मिलनी चाहिये।

२७. सहकारिता की खेती के विरुद्ध एक और आपत्ति प्रायः यह की जाती है कि इसमें व्यक्ति को अपने परिश्रम का लाभ न मिलने के कारण, उसे काम करने का उत्साह नहीं रहता, इसके विपरीत कौटुम्बिक खेती में व्यक्ति को अपने परिश्रम का पूरा फल निजी लाभ के रूप में मिल जाता है और इस कारण उसे पहले से अच्छा और अधिक काम करने का उत्साह होता रहता है। इस सम्बन्ध में चीन के अनुभव से हमारी बात की पुष्टि हो जायगी। वहां काम के प्रकार और परिमाण के अनुसार उसके सैकड़ों 'पैमाने' बना दिये गए हैं। काम करने वालों की मजदूरी का हिसाब इन्हीं पैमानों से किया जाता है, और खेती के सभी कम प्रायः सब व्यक्ति बहुत उत्साह से करते हैं। भारत में भी, मजदूरी चुकाने के लिये स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार 'काम के पैमाने' बनाये जा सकते हैं, और हिसाब लगाते हुए काम के प्रकार व परिमाण का और व्यक्ति की योग्यता तथा सामर्थ्य का ध्यान रखा जा सकता है।

२८. पीछे चर्चा हो चुकी है कि जब जापान और इंग्लैंड आदि देशों का आर्थिक विकास हुआ था तब उनका औपनिवेशिक विस्तार हो रहा था और कच्चे तथा तैयार माल के बाजार पर उनका प्रायः एकाधिकार था। तब तक जनता में आत्मसम्मान की भावना भी जागृत नहीं हुई थी, इस कारण श्रमिकों से, बिना किसी रोक-टोक के, कसकर मनमाना काम लिया जा सकता था। इन परिस्थितियों के कारण, इन देशों ने स्वदेश और विदेश में, दोनों जगह, उचित अनुचित सब प्रकार खब लाभ कमाया, और बड़ी मात्रा में पूंजी एकत्र करके ये उसी के बल पर, औद्योगिक और आर्थिक दृष्टियों से समृद्ध हो गये। भारत में हमें सब कुछ एकमात्र अपने आन्तरिक साधनों के भरोसे करना पड़ेगा। 'कल्याण-राज्य' का विचार भी आज बहुत आगे बढ़ चुका है। इस कारण दूसरों के श्रम से लाभ उठाकर पूंजी एकत्र करने की कल्पना तक नहीं की जा सकती। हमारे आन्तरिक साधन सीमित हैं। जनता की आमदनी कम है। अधिकतर लोग अपना निर्वाह-मात्र कर पाते हैं। हमें उनका रहन-सहन का दर्जा ऊंचा उठाने के साथ-साथ, विकास और विनियोग दोनों के लिये पूंजी की बचत भी करनी है। सहकारिता-संस्थाओं का मार्ग अपनाकर हम जन-बल का अधिकतम उपयोग और राष्ट्रीय साधनों का संग्रह तथा संगठन कर सकते हैं। इसमें भारत के करोड़ों कुटुम्ब नया जीवन आरम्भ करने की आशा कर सकते हैं। हमें तो आज यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता प्रतीत हो रही है।

२९. इसमें सन्देह नहीं कि इतना बड़ा परिवर्तन करना सरल कार्य नहीं है। सहकारिता की खेती के मार्ग पर चलने के लिये किसान को सर्वथा नया जीवन आरम्भ करना पड़ेगा। उसे अपनाने के लिये वह तैयार तभी होगा जब देश का, विशेषतः देहातों का, वातावरण उसके अनुकूल बना दिया जायगा। चीन के अनुभव से आशा होती है कि कुटुम्ब की खेती को सहकारिता के खेती में परिवर्तित कर देना हमारी सामर्थ्य से बाहर का काम नहीं है।

वैयक्तिक या सामुदायिक

श्री जमनालाल जी ने गोसेवा का महान बोझ अपने सिर उठाया है इस बारे में गोसेवा संघ की सभा के सामने एक महत्व का प्रश्न यह था कि गोपालन वैयक्तिक हो या सामुदायिक ? मैंने राय दी कि सामुदायिक हुये बगैर गाय बच ही नहीं सकती, और इस लिये भैंस भी नहीं बच सकती। हर एक किसान अपने घर में गाय, बैल रख कर उनका पालन भलीभांति और शास्त्रीय पद्धति से नहीं कर सकता। गोवंश के हाल के दूसरे अनेक कारणों में वैयक्तिगत गोपालन भी एक कारण हुआ है। यह बोझ वैयक्तिक किसान की शक्ति के बिलकुल बाहर है।

मैं तो यहां तक कहता हूं कि आज संसार हर एक काम में सामुदायिक रूप से शक्ति का संगठन करने की ओर जा रहा है। इस संगठन का नाम सहयोग है। बहुत ही बातें आजकल सहयोग से ही हो रही हैं, हमारे मुल्क में भी सहयोग आया तो है, लेकिन वह एसे विकृत रुप में आया है, कि उसका सही लाभ हिन्दुस्तान के गरीबों को बिलकुल नहीं मिला।

हमारी आबादी बढ़ती जा रही है और उसके साथ व्यक्तिगत रुप से किसान की जमीन कम होती जा रही है, नतीजा यह हुआ है कि प्रत्येक किसान के पास जितनी चाहिये उतनी जमीन नहीं है। जो है वह उसकी अड़चनों को बढ़ाने वाली है। ऐसा किसान अपने घरों या खेत पर निज के गाय बैल नहीं रख सकता। रखता है तो अपने हाथों अपनी बरबादी को न्योता देता है। आज हिदुस्तान की यही हालत है। धर्म, दया या नीति की परवाह न करने वाला अर्थशास्त्र तो पुकार पुकार कर कहता है कि आज हिदुस्तान में लाखों पशु मनुष्य को खा रहे हैं। क्योंकि वे उसे कुछ लाभ नहीं पहुंचाते, फिर भी उन्हें खिलाना तो पड़ता ही है। इस लिये उन्हें मार डालना चाहिये। लेकिन धर्म कहो, नीति कहो, या दया कहो यह हमें इन निकम्मे पशुओं को मारने से रोकते हैं।

इस हालत में क्या किया जाय ? यही कि जितना प्रयत्न पशुओं को जिन्दा रखने और उन्हें बोझ न बनने देने का हो सकता है किया जाय। इस प्रयत्न में सहयोग का अपना बड़ा महत्व है।

१. सहयोग यानी सामुदायिक पद्धति से पशुपालन करने से जगह बचेगी। किसान को अपने घर में पशुओं नहीं रखने पड़ेंगे। आज तो जिस घर में किसान रहता है, उसी में उसके सारे मवेशी भी रहते है। इससे हवा बिगडती है और घर में गन्दगी रहती है। मनुष्य पशु के साथ एक ही घर रहने के लिये पैदा नहीं हुआ। ऐसा करने में न दया है, न ज्ञान है।

२. पशुओं की वृद्धि होने पर एक घर में रहना असम्भव हो जाता है। इस लिये किसान बछड़े को बेच डालता है, और भैंसे या पाडे को मार डालता है, या मरने के लिये छोड़ देता है, यह अधमता है।

३. जब पशु बिमार होता है तब व्यक्तिगत रुप से किसान उसका शास्त्रीय इलाज नहीं करवा सकता। सहयोग से चिकित्सा सुलभ होती है।

४. प्रत्येक किसान सांड नहीं रख सकता। लेकिन सहयोग के आधार पर बहुत से पशुओं के लिये एक अच्छा सांड रखना सहल है।

५. व्यक्तिशः किसान गोचरभूमि तो ठीक, पशुओं के लिये व्यायाम की यानी हिरने फिरने की भूमि भी नहीं छोड़ सकता। किन्तु सहयोग द्वारा यह दोनों सुविधायें आसानी से मिल सकती हैं।

६. व्यक्तिशः किसान को घास इत्यादि पर बहुत खर्च करना होगा सहयोग द्वारा कम खर्च में काम चल जायेगा।

७. व्यक्तिशः किसान अपना दूध आसानी से नहीं बेच सकता। सहयोग द्वारा उसे दाम भी अच्छे मिलेंगे और वह दूध में पानी इत्यादि भी मिलाने से भी बच सकेगा।

८. व्यक्तिशः किसान के पशुओं की परिक्षा असम्भव है, किन्तु गांव भर के पशुओं की परीक्षा आसान है, और उनकी नस्ल सुधार का उपाय भी आसान है।

९. सामुदायिक या सरकारी पद्धति के पक्ष में इतने कारण पर्याप्त होना चाहिये। सब से बड़ी और प्रत्यक्ष दलील यह है कि वैयक्तिक पद्धति के कारण ही हमारी और हमारे पशुओं की दशा आज इतनी दयनीय हो उठी है। उसे बदल कर ही हम बच सकते है, और पशुओं को बचा सकते हैं।

मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि जब हम अपनो जमीन भी सामुदायिक पद्धति से जोतेंगे, तभी उस से पूरा फायदा उठा सकेंगे। बनिस्बत इस के कि गांव की खेती अलग अलग सौ टुकडों में बंट जाय। क्या यह बेहतर नहीं कि सौ कुटुम्ब सारे गांव की खेती सहयोग से करे और उसकी आमदनी आपस में बांट लिया करें और जो खेती के लिये ठीक है, वही पशु के लिये भी समझा जाय।

यह दूसरी बात है कि आज लोगों को सहयोगी पद्धति पर लाने में कठिनाई है, कठिनाई तो सभी सच्चे और अच्छे कामों में होती है। गोसेवा के सभी अंग कठिन हैं, कठिनाईयां र करने से ही सेवा का मार्ग सुगम बन सकता है। यहां तो बताना यह था कि सामुदायिक पद्धति क्या चीज है, और वह वैयक्तिक से इतनी अच्छी क्यों है यह नहीं बल्कि वैयक्तिक गलत है, सामुदायिक सही है, व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा भी सहयोग को स्वीकार कर के ही कर सकता है, अतएव यहां सामुदायिक पद्धति अहिंसात्मक है, वैयक्तिक हिंसात्मक।

मोहनदास कर्मचन्द गांधी

सेवाग्राम : ८-२-१९४२
१५ फरवरी १९४२-हरिजन सेवक

ग्यारहवां अध्याय

भावी सम्भावनायें और कार्यक्रम

भावी सम्भावनायें

भारत का सहकारिता की खेती का अब तक का जो अनुभव है उसके आधार पर इसकी भावी सम्भावनाओं का निश्चय नहीं किया जा सकता। हमारे यहां सच्ची सहकारिता-संस्थाओं की संख्या बहुत थोड़ी है। भारत से बाहर भी, सहकारिता की खेती का अनुभव हमें केवल रूस, चीन और पूर्वी यूरोप के कम्युनिस्ट देशों से मिल सकता है। सहकारिता की खेती का विकास करने वाला एकमात्र गैर-कम्युनिस्ट देश इजरायल है। परन्तु वहां यहूदी बाहर से जाकर आबाद हुए, उनमें देशभक्ति का नया और प्रबल जोश था, और उनके पास सहकारिता की खेतियों में लगाने के लिये पूंजी की कमी नहीं थी। इन कारणों से उनका अनुभव हमारे बहुत काम नहीं आ सकता। रूस में सामुदायिक खेतों की स्थापना भारी जोखिम उठाकर की गई थी। किसान अपनी जमीन उसके लिये देना नहीं चाहते थे, परन्तु सरकार ने उनके विरोध की परवाह न करके उनके विरुद्ध निर्दयतापूर्ण कारवाइयां तक कीं। पूर्वी यूरोप के देशों में सहकारिता की खेती का विकास बहुत नहीं हुआ है। हमें ज्ञात नहीं कि वहां इसकी सफलता अधिक न हो सकने के कारण क्या हैं। चीन ही एकमात्र ऐसा देश है जहां कृषि सहकारिता-संस्थाओं का विकास देश भर में कर लिया गया है। वहां की सहकारिता-संस्थायें भली प्रकार चल रही हैं। उनके कारण देश का उत्पादन बढ़ा और किसानों को पहले से अधिक रोजगार मिला है। हमने वहां की अपनी स्वल्पकाल की यात्रा में, इन संस्थाओं के संचालन में किसी कठिनाई का अनुभव अथवा संघर्ष होता नहीं देखा। प्रतीत होता है कि चीन ने अन्य देशों के अनुभव से लाभ उठाकर कार्य करने की ऐसी विधियां और पद्धतियां निकाली हैं कि किसान बड़ी संख्या में मिलकर भाईचारे से काम कर सकते हैं, और फिर भी व्यक्तियों और टोलियों का उत्साह काम करने के लिये सुरक्षित रहता है।

२. भारत के लिये चीन का अनुभव अत्यन्त मूल्यवान् है, क्योंकि दोनों देशों में कृषि की अवस्थायें बहुत मिलती-जुलती हैं। परन्तु दो कारण ऐसे हैं कि हम अपने देश में चीन के मार्ग को पूर्णतया स्वीकार नहीं कर सकते। पहला तो यह है कि चीन को नया परीक्षण करते अभी बहुत कम समय हुआ है। वहा की बहुतसी सहकारिता-संस्थाएं हाल में ही बनी हैं। दूसरा कारण यह है कि चीन को जो सफलता हुई है वह कम्युनिस्ट अथवा एकमात्र एक दल के शासन के कारण हुई है, और शासन की यह प्रणाली हमारे यहां प्रचलित संसदीय शासन-प्रणाली से भिन्न है। उक्त शासन-प्रणाली में नियमित विरोधी दल कोई होता ही नहीं, शासक-दल को चुनाव में हार जाने का कोई भय नहीं होता और फलतः उसके स्थान पर अन्य कोई राजनीतिक दल पदारूढ़ नहीं हो सकता। कोई विरोधी दल न होने के कारण, शासक-वर्ग जनता में किन्हीं भी आदर्शों का निर्बाध प्रचार कर सकता है, और इसी कारण उससे उन्हें मनवाने का काम सरल हो जाता है। इसके अतिरिक्त, कम्युनिस्ट देश तो समाज में विभिन्न वर्गों की समाप्ती वर्ग-संघर्ष उत्पन्न करके और उसे बढ़ावा दे कर करते हैं, और लोकतन्त्री देशों में विभिन्न वर्गों के पारस्परिक विरोध तथा संघर्ष को, शान्तिमय उपायों द्वारा, पारस्परिक सहयोग तथा लाभकारी प्रवृत्तियों में परिवर्तित कर देने का प्रयत्न किया जाता है। इसलिये, हमारे यहां कुटुम्बों की खेती को सहकारिता की खेती में परिणत करने के लिए, बन्दोबस्त जमीन में बहुत उलट-फेर करने पड़ेंगे। संसदीय लोकतन्त्र के लिये यह कार्य बहुत कठिन होगा।

३. कुटुम्बों की खेती को सहकारिता की खेती में परिणत करने की कठिनाइयां बड़ी और बहुत हैं, उन्हें तुच्छ अथवा उपेक्षणीय नहीं समझना चाहिये। व्यक्ति का खेती का रिवाज हमारे देश में सदियों से चला आ रहा है। खेत का मालिक अपनी मर्जी का मालिक होता है। वह यदि सहकारिता-संस्था में सम्मिलित होगा तो उसे (१) अपने खेत का प्रबन्ध अपनी वैयक्तिक इच्छानुसार करने का अधिकार छोड़कर दल के अनुशासन में बन्धने को तैयार होना पड़ेगा, (२) अपनी सारी उत्पादन-सामर्थ्य को दल के अर्पण करके उसका वही मूल्य स्वीकार करना पड़ेगा जो कि दल लगायेगा, और (३) अपनी जमीन जिस किसी को इच्छानुसार दे सकने के अपने अधिकार में कमी कर देनी पड़ेगी। ये हानियां किसान को बहुत भारी लगती है। यदि उसे सफलतापूर्वक चलती हुई कुछ सहकारिता-संस्थायें दिखला दी जायं तो शायद उसका यह भय थोड़ा-बहुत दूर हो जाय। उदाहरणार्थ, उसे दिखलाया जा सकता है कि सहकारिता-संस्थाओं में ऐसी विधियों से काम किया जा सकता है कि उनमें व्यक्तियों के अधिकतम भाग लेने की गुंजायश रहे, नौकरशाही और हुकूमतशाही की बुराइयां बहुत कम हो जायं और फलतः दलीय अनुशासन के पालन का मार्ग सरल बन जायं। 'काम के पैमाने' और लक्ष्य निश्चित करके, सहकारिता-संस्थाओं में भी, व्यक्तियों और दलों के उत्साह को सुरक्षित रखा जा सकता है। सहकारिता की खेती में जिम्मेवारी को बांट लेने का अवसर, व्यक्ति की खेती की अपेक्षा अधिक मिलता है, इस कारण उसमें कोई निर्णय भ्रान्त होने की सम्भावना घट जाती है, एक व्यक्ति का निर्णय भ्रान्त होने की सम्भावना सदा ही अधिक होती है। यद्यपि सहकारिता-संस्था में सम्मिलित होने से, सम्पत्ति को बेच देने आदि व्यक्ति के निजी अधिकारों में कमी हो जाना आवश्यक नहीं है, परन्तु व्यक्ति को संस्था की सदस्यता छोड़ देने का अधिकार रहने से स्पष्ट है कि वैयक्तिक अधिकारों की सर्वथा समाप्ति नहीं हो जाती। संस्था का सदस्य हटने के पश्चात् उसे अपनी सम्पत्ति बेचने का अधिकार पुनः प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त, नियमों में, सदस्यों को अपने स्वामित्व के अधिकार अर्थात् जमीन का लगान पाने के अधिकार बेच देने का नियम भी, सम्मिलित किया जा सकता है। परन्तु जमीन-कानूनों में सुधार हो जाने के पश्चात् सम्भावना यह है कि जमीन की मांग बहुत घट जायगी और इसलिये जमीन बेचने खरीदने का आकर्षण भी बहुत कम हो जायगा।

४. इस प्रसंग में हम एक ऐसी परिस्थिति की चर्चा कर देना चाहते हैं जिसकी ओर, इस यात्रा में, हमारा ध्यान आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सका था। जैसा कि पहले जिक्र हो चुका है, चीन और जापान में भूमि-सुधार करने का एक परिणाम यह हुआ था कि दोनों देशों में जमीन के छोटे-छोटे मालिक एक दम बहुत-से बन गये थे। इन छोटे मालिकों में से बहुतों ने अपनी जमीनें बेचना और अपेक्षाकृत सम्पन्न किसानों ने खरीदना शुरू कर दिया था। चीन में यह क्रम सहकारिता-संस्थाओं का विकास हो चुकने पर ही जाकर रुका। यह न रुकता तो वहां धीरे-धीरे फिर वही परिस्थिति उत्पन्न हो जाती जो भूमि-सुधार से पहले विद्यमान थी, अर्थात् गरीब किसानों के जमीन बेचने और सम्पन्न किसानों के खरीदने से वह थोड़े-से लोगों के हाथों में एकत्र हो जाती। जापान में यह प्रक्रिया अब तक चल रही है। उस देश के १९५५–५६ के 'आर्थिक प्रतिवेदन' में शिकायत की गई है कि भूमि की अर्थ-व्यवस्था में दरिद्र तो दरिद्रतर और सम्पन्न सम्पन्नतर होते चले जा रहे हैं। इसकी चर्चा हमने नौवें अध्याय में भी की है। हमारी सम्मति में यह, भूमि बेचने-खरीदने का निर्बाध अधिकार दे देने का एक अनिवार्य परिणाम है। इस प्रकार, जमीन बेचने-खरीदने के अधिकार की उपयोगिता व्यक्ति की दृष्टि से तो सन्दिग्ध हो सकती है, परन्तु राष्ट्रीय विकास में यह बाधक है, क्योंकि कल्याण-राज्य में जो लोग खाली हाथ हो जायंगे उनके लिये रोजगार और जमीन का प्रबन्ध करने की जिम्मेदारी फिर राज्य पर ही आकर पड़ेगी। प्रतीत होता है कि पुराने जमीन-कानूनों में भी जमीन को बेचने-खरीदने के निर्बाध अधिकार पर जो कई पाबन्दियां लगाई हुई थीं वे इसी प्रकार के विचारों से लगाई गई होंगी। और इस दृष्टि से, सहकारिता-संस्थाओं में जमीन बेचने-खरीदने के निर्बाध अधिकार को कम देना प्रच्छन्न लाभ की ही बात हो सकती है।

५. सहकारिता-संस्थाओं में सम्मिलित होने से किसानों को जो हानियां होने का भय हो उन्हें उपयुक्त विधियों के प्रयोग द्वारा कम किया जा सकता है, परन्तु उनके मूल गठन में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इन हानियों के विपरीत, सम्भावना यह है कि सहकारिता की खेती से उत्पादन में वृद्धि हो जायगी और लोगों के रहन-सहन का दर्जा सुधर जायगा। समय बीतने के साथ-साथ ये लाभ प्रत्यक्ष भी दिखाई पड़ने लगेंगे। सहकारिता-संस्था में सम्मिलित होने पर विचार करते हुए, किसान इन लाभों की हानियों के साथ तुलना करके देखेंगे। स्वभावतः वे अपना निर्णय निजी हानि लाभ को देखकर करेंगे। परन्तु लाभों के समान हानियों का आर्थिक मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। फिर भी सम्भव है कि उनमें से अनेक यह समझ जायं कि उन्हें अनुशासन का पालन करने के लिए निजी स्वतन्त्रता का जो त्याग करना और अपनी योग्यता का दल द्वारा लगाया हुआ मूल्य मानना पड़ता है और अपनी सम्पत्ति बेचने पर प्रतिबन्ध स्वीकार करने पड़ते हैं, उन सबकी तुलना में उत्पादन बढ़ जाने से होने वाले लाभ कहीं अधिक हैं। इसके विपरीत, अनेकों ऐसे भी होंगे जो कहेंगे कि नई जीवनप्रणाली अपनाते हुए स्वार्थों का इतना अधिक बलिदान करना पड़ता है कि उसकी पूर्ति उसके लाभों से नहीं हो सकती। चाहे कुटुम्ब में देख लो चाहे उसके बाहर, सामुदायिक जीवन का अनुभव प्रायः सर्वत्र यही है कि केवल भौतिक लाभ का विचार लोगों को एकत्र रखने में सफल नहीं होता। इसके लिये उच्च सामाजिक भावना की भी आवश्यकता होती है। इस कारण हमारा विचार तो यह है कि किसानों को सहकारिता-संस्थाओं में सम्मिलित होने और उनमें बने रहने के लिये राजी करना हो तो भौतिक लाभों के साथ समाजवाद और देश-भक्ति की भी उच्च भावनाओं का मेल मिला देना चाहिये। हम जिस कार्यक्रम की कल्पना करके चल रहे हैं उसमें प्रत्येक किसान कृषि-सहकारिता-संस्था में स्वेच्छया सम्मिलित होगा। ऐसा वह तभी करेगा जब उसे पूर्णतया यह निश्चय हो जायगा कि सहकारिता-संस्था में सम्मिलित होने के पश्चात् ही उसके और उसकी सन्तान के जीवन का स्तर ऊंचा उठ सकेगा, उत्पादन की वृद्धि और रोजगार की तरक्की के द्वारा ही देश की उन्नति हो सकेगी और कारखानों और उद्योग-धंधों का विस्तार भी केवल इसी मार्ग पर चल कर हो सकेगा। उसे समझाना पड़ेगा कि वह ऐसा न करे तो हमारा देश सदा ही घटिया दर्जे से रहने-सहने का और माल की कमी का दुःख भोगता रहेगा। सारांश यह है कि किसानों के विचार और विश्वास भी वही हो जाने चाहिये, जो कि सहकारिता-संस्थाओं को भूमि की सब समस्यायें हल करने का एकमात्र उपाय मानने वाले विचारकों के हैं। ये सब विचार काल्पनिक है, इनका प्रत्यक्ष प्रदर्शन नहीं किया जा सकता। इस कारण वातावरण को इस परिवर्तन के अनुकूल बनाने की आवश्यकता और भी अधिक है। वातावरण बनाने की आवश्यकता इस कारण भी है कि किसानों में निजी लाभ के लिये ही नहीं, सब लोगों और सारे समाज के लाभ के लिये भी, शक्तिभर प्रयत्न करने का उत्साह उत्पन्न हो जाय। इसकी आवश्यकता, किसानों को सहकारिता-संस्थाओं में सम्मिलित होने को तैयार करने के लिये ही नहीं, कम से कम कुछ वर्ष तक उन्हें उनमें बनाये रखने के लिये भी है। हम पहले चर्चा कर चुके हैं कि भूमि का सामुदायिक प्रबन्ध करते हुए मानव-स्वभाव से सम्बद्ध अनेक समस्यायें हल करनी पड़ती है। उसमें प्रत्येक किसान को दल या टोली का निर्णय मान कर चलना पड़ता है, जब तक किसान नई व्यवस्था के भलीभाति अभ्यासी नहीं हो जायंगे तब तक अनेक समस्यायें खड़ी होती ही रहेंगी और उनका हल करना सरल नहीं होगा। कुछ किसानों के मन में सहकारिता से अलग होकर फिर अपनी स्वतन्त्र खेती शुरू कर लेने की भी समा सकती है। इसका प्रतिकार केवल ऐसी किसी प्रबल भावना के द्वारा किया जा सकता है जो कि लोगों को एकत्र बांध कर और एक बना कर रख सके और सहकारिता छोड़कर जाने के प्रलोभन का निवारण कर दें। यदि खेती यन्त्रों से की जाय तो उत्पादन के साधनों में साझे की भावना भी, सबमें मेल रखने के साधन का काम दे सकती है। सहकारिता की खेती यन्त्रों द्वारा की जाने की सम्भावना जितनी अधिक रहेगी उतनी ही फिर कुटुम्ब की खेती करने लगने की इच्छा दबी रहेगी। परन्तु हमारी आज की परिस्थितियों में वैसा हो सकने की सम्भावना अभी बहुत वर्ष तक नहीं है, और इस कारण तब तक तो, आदर्शों में दृढ़ विश्वास ही सहकारिता-संस्था को बनाये रखने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

६. इतने विचार से यह स्पष्ट हो गया होगा कि कृषि-सहकारिता-संस्थाओं का कार्यक्रम, विशिष्ट वातावरण में ही प्रगति कर सकता है। उसका मूल तत्व ही यह है कि लोगों की सामाजिक

भावनाओं और सामाजिक विचारों में क्रमशः परिवर्तन होकर, वे, समाज और अर्थ की समनता पर आधारित शोषण-रहित व्यवस्था का आदर करने के अभ्यासी बन जाय। इस प्रकार की सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था का एक आधार यह होगा कि काम करने और उसका उचित मूल्य पाने का अधिकार सब को है, और मनुष्य की धन का उत्पादन कर सकने की शारीरिक तथा मानसिक सामर्थ्य का आदर, समाज में, सम्पत्ति के स्वामित्व की अपेक्षा, अधिक होना चाहिये। इस प्रकार की समाज-व्यवस्था चल आने पर, मनुष्य की सामर्थ्य का आदर पैत्रिक अथवा संगृहीत सम्पत्ति की अपेक्षा, समाज में स्वयमेव अधिक होने लगेगा। आज हम देख रहे हैं कि हमारे समाज में आराम का काम करने वाले स्वच्छ-वेश-धारी लोगों और शारीरिक श्रम करने वाले श्रमिकों की आय में बड़ा अन्तर है। उच्च वर्गों में यह अन्तर विशेष रूप से अधिक दिखलाई पड़ता है। इसे धीरे-धीरे कम कर देना होगा। समाज के सब वर्गों को अनुभव करना होगा कि राष्ट्र का व्यापक हित इसी में है कि व्यक्तियों की आय और क्रय-शक्ति को सीमित कर दिया जाय। सारा वातावरण ही सादगी और कठोरता का बनाना होगा। अपने हृदय को हमें ऐसा परिवर्तित कर लेना होगा कि बे-जमीन मजदूरों, भिखारियों और विवशता के कारण अपने शरीर का विक्रय करने वाली वेश्याओं आदि समाज के पिछड़े हुए वर्गों को देखकर हमारे हृदय में सहानुभूति उत्पन्न हो। शिक्षा पाने का अधिकार मनुष्य-मात्र को देना होगा। उस पर यदि कोई प्रतिबन्ध लगाये भी जायंगे तो वे किसी बुद्धिसंगत आधार पर लगाये जायंगे, मूल्य चुका सकने की सामर्थ्य के आधार पर नहीं। आज तो शिक्षा पर सम्पन्न लोगों ने एकाधिकार-सा कर रखा है। आज व्यक्तियों की योग्यता का मूल्य केवल रुपयों, आनों और पाइयों में आंका जा रहा है। हमारी कल्पना के समाज में, योग्य व्यक्ति देश की सेवा करके चरम सन्तोष का अनुभव करेंगे और अपनी योग्यता का मूल्य वसूल हुआ मानेंगे। सारांश यह है कि वह वातावरण ही देशभक्ति, समाजवाद, लोकतन्त्र और सुयोजित अर्थ-व्यवस्था का होगा, उसमें समस्त जनता जनहित के लिये त्याग करने के भावनामय आदर्श से अनुप्रामाणित होगी, और इसलिये उसमें, राष्ट्र का एक अंग होने के नाते, किसानों को भी राष्ट्रीय यज्ञ में अपनी आहुति देने के लिये सहमत किया जा सकेगा।

७. परन्तु इस सबके लिये आवश्यक है कि पहले हमारे देश के नेताओं को यह विश्वास हो जाय कि सहकारितापूर्वक कृषि करने का कार्यक्रम व्यवहार्य है और अतएव उसे तुरन्त क्रियान्वित कर दिया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में हमारा ध्यान, द्वितीय पंचवर्षीय योजना के निम्न सन्दर्भ की ओर, आकृष्ट किया गया है :—

> "इस विचार से प्रायः सबकी सहमति है कि सहकारिता की कृषि का विकास यथासंभव द्रुत गतिसे करना चाहिये। परन्तु इस दिशा में सक्रिय कार्य अब तक अति न्यून हुआ है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में मुख्य कार्य ऐसे उपाय करना होना चाहिये जिनसे कि सहकारिता की खेती के विकास की नींव पड़ जाय, जिससे कि अगले दस वर्षों में अथवा लगभग इतने समय में कृषि की अधिकतर भूमि में खेती सहकारितापूर्वक होने लगे। अच्छा तो यह होगा कि राज्यों के साथ विचार-विनिमय करके और अब तक प्राप्त अनुभव को सामने रख कर, योजना के प्रथम वर्ष में ही यह निश्चय कर लिया जाय कि योजना की पंचवर्षीय अवधि में हमें सहकारिता की खेती के क्या-क्या लक्ष्य पूर्ण कर लेने हैं। इन लक्ष्यों की, कृषि-उत्पादन के और राष्ट्रीय विस्तार तथा सामुदायिक-योजना-क्षेत्रों के लक्ष्यों के साथ ऐसी घनिष्ठ संगति रखनी चाहिये कि ये क्रमशः उनमें ही समा जायें।"

हमें ज्ञात हुआ है कि इसका समर्थन राष्ट्रीय-विकास-परिषद् ने सर्वसम्मति से किया था, और यह परिषद् योजना-आयोग के सदस्यों और सब राज्यों के मुख्य मन्त्रियों से मिल कर बनती है। हमें सुझाया गया है कि इस विचार के आधार पर हम सारे भारत के लिये एक कार्यक्रम बना दें। परन्तु हम बतलाना चाहते हैं कि देश का वर्तमान वातावरण इस परिषद्-समर्थित विचार के अनुकूल नहीं जान पड़ता। इस विचार का अभिप्राय यह है कि किसानों के पुराने और परम्परागत दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन कर दिया जाय, और किसान स्वभाव से ही परम्पराप्रेमी होते हैं। उनके अतिरिक्त, हमारे नेताओं में भी इस प्रश्न पर मत-भेद है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह स्थिति खतरनाक है। हमारे इस कथन से, सम्भव है कि कुछ लोगों को यह भ्रम हो जाय कि

हम सहकारिता की कृषि के कार्यक्रम को सरकार द्वारा लोगों पर बलपूर्वक लाद दिये जाने की सिफारिश कर रहे हैं। नहीं, हमारा ऐसा अभिप्राय बिल्कुल नहीं है। वैसा करना तो लोकतन्त्र के विरुद्ध होगा, और हमारा देश लोकतन्त्री है। हम यहां वकालत किसी कार्यक्रम की नहीं, अपितु एक ऐसे विचार की कर रहे हैं जो कि हमारे भविष्य के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

८. इस विचार का प्रतिवाद तो शायद कोई भी नहीं करेगा कि कृषि का सहकारिता के आधार पर पुनर्गठन करने से अनेक बड़े-बड़े लाभ हो सकते हैं। पिछले अध्याय में हम उनकी कुछ विस्तार से चर्चा कर चुके हैं। यह भी स्पष्ट है कि सहकारिता का लक्ष्य अपना लेने से अनेक परिवर्तन ऐसे हो जायंगे कि उनका प्रभाव हमारी बहुत-सी सामाजिक परम्पराओं पर भी पड़ेगा। सच तो यह है कि जब हम किसान को सहकारिता-संस्था में सम्मिलित हो जाने को कहते हैं तब हम उसे जीवन-प्रणाली ही नयी अपना लेने को कहते हैं। इसलिये वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या इस जीवन-प्रणाली को अपना लेने से लोकतन्त्र की भी कुछ विशेषताओं की समाप्ति हो जायगी। यदि सचमुच ऐसा होगा तो उससे होने वाले लाभ इस प्रकार के होंगे या नहीं कि उनसे उक्त लोकतन्त्री हानि की पूर्ति हो जाय। इन प्रश्नों का अन्तिम उत्तर स्वभावत: सब लोगों के अपने-अपने विचार पर निर्भर रहेगा, और वह प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि और भावना के अनुसार भिन्न-भिन्न होगा। उक्त परिवर्तन से जो लाभ होंगे उनका रूप सामाजिक और आर्थिक होगा। और जो हानि होगी वह कुछ सामाजिक होगी। हमारा अपना विचार, चीन की प्रगति देखने के पश्चात्, यह है कि भारत में भी इस नयी प्रणाली का प्रयोग कर देखने के लिये पर्याप्त कारण विद्यमान हैं। परन्तु ऐसा तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि हमें यह निश्चय न हो जाय कि हमारी भूमि तथा कृषि-समस्यायें हल करने की तुरन्त ही आवश्यकता है। लोकतन्त्री प्रणाली में, अन्ततोगत्वा इस कार्यक्रम पर हुई लोगों की प्रतिक्रिया से ही तो यह निर्णय होगा कि इसकी प्रगति कैसी हो सकेगी और देश के नेता इसका समर्थन करें या नहीं, और करें तो कितना। हमारे देश ने स्वतन्त्र निर्वाचन की पद्धति अपनायी हुई है, इस कारण यहां लोकमत और नेताओं का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ने की और दोनों द्वारा एक दूसरे की प्रवृत्तियों के परिवर्तित होने की सम्भावना बहुत अधिक है। देश के नेता जो भी निर्णय करेंगे उसके सम्बन्ध में उन्हें जनता को समझाना और सन्तुष्ट करना पड़ेगा कि उन्होंने वह निर्णय क्यों किया है। इतना ही नहीं, उन्हें जनता को यह विश्वास भी दिलाना पड़ेगा कि उनके निर्णय को क्रियान्वित किया जा सकता है और वे उसमे जो-जो लाभ होने के दावे कर रहे हैं वे व्यवहार में सचमुच होंगे। यही कारण है कि प्रदर्शन के कार्यक्रम का महत्व इतना अधिक है। इस अध्याय के पिछले भाग में हम सिफारिश कर रहे हैं कि आगामी कुछ वर्षों में राष्ट्र की सब शक्तियों का उपयोग वर्तमान सहकारिता-संस्थाओं को सफल बना कर दिखलाने के लिये किया जाय, और जहां कहीं सम्भव हो वहां—विशेषत: अब जो सरकारी जमीनें खेती करने के लिये दी जायं उनमें—नयी संस्थाओं की स्थापना कर दी जाय।

९. ज्यों-ज्यों प्रदर्शन का कार्यक्रम प्रगति करता जायगा त्यों-त्यों लोगों और नेताओं, दोनों को, अधिकाधिक विश्वास होता जायगा, और तब जाकर इस आन्दोलन को देश-व्यापी बनाया जा सकेगा। हमें आशा है कि तब तक वह विशेष कार्यक्रम भी पूरा हो चुकेगा जिस पर हम देहातों में चलने की सिफारिश कर रहे हैं। तब तक अन्य क्षेत्रों में भी उससे मिलते-जुलते कार्यक्रम आरम्भ किये जा चुकेंगे। परन्तु दो सावधानताएं रखने की चर्चा हम विशेष रूप से करना चाहते हैं, और हमारा ख्याल है कि लोकतन्त्र के अत्यन्त उत्साही पक्षपातियों का भी उनसे सन्तोष हो जायगा। पहली सावधानता तो यह है कि स्वेच्छा के सिद्धान्त का पालन पूरी तरह किया जाय और किसी भी किसान पर सहकारिता-संस्था में सम्मिलित होने के लिये किसी प्रकार का दबाव न डाला जाय। और दूसरी सावधानता यह रखी जाय कि जब भी कोई व्यक्ति संस्था से पृथक् होना चाहे तब उसे अपनी इच्छा पूरी करने दी जाय, परन्तु वह संस्था से पृथक् किसी फसल के अन्त में ही हो सकेगा। उसके ऐसा करने पर, उसे खेती करने के लिये जमीन, सहकारिता के क्षेत्र से बाहर दी जाय, जिससे कि सहकारिता के खेतों की एकत्रता का भंग न हो। यदि उसे कोई ऐसी जमीन दी जाय जिसमें सहकारिता के ने कुछ सुधार किया हो तो उस सुधार का मूल्य उससे वसूल कर लिया जाय। अन्तिम बात यह है कि सरकार किसानों को सहकारिताओं में

सम्मिलित होने को प्रेरित करने के लिये जो भी प्रयत्न करे उन सबका उद्देश्य यह होना चाहिये कि किसानों का विश्वास सहकारिताओं में उत्पन्न हो जाय, ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करना नहीं कि किसानों के लिये अन्य कोई मार्ग ही न रहे। उदाहरणार्थ, यदि माल देने में सहकारिताओं का लिहाज करने का बहाना बनाकर अकेले-अकेले किसानों को माल देना बन्द कर दिया जायगा तो उनके पास सहकारिता में सम्मिलित हो जाने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं रहेगा। इस प्रकार के उदाहरण और भी दिये जा सकते ह। कोई किसान सहकारिता में स्वेच्छा से सम्मिलित हो रहा है या नहीं, इसकी पहचान यह है कि अन्तिम निश्चय उस पर ही छोड़ देना चाहिये। सरकारी प्रयत्नों का परिणाम यह होना चाहिये कि किसान सहकारिताओं में सम्मिलित, उनमें विश्वास उत्पन्न हो जाने के कारण हों, विवशता के कारण नहीं।

भूमि-सुधार

१०. अब हम यह विचार करते हैं कि देहातों में सहकारिता-संस्थायें बनाने के लिये अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने को क्या कुछ करना चाहिये। यह वातावरण समानता का होना चाहिये, किसी पर दबाव डालने या किसी के शोषण करने का नहीं। इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न करने के लिये भूमि-सुधारों से बहुत काम निकल सकता है। हम जिन भूमि-सुधारों का सुझाव दे रहे हैं वे देहात की परिस्थितियों के उस विश्लेषण पर आधारित हैं जो कि हमने गत अध्याय में किया है। हम दिखला चुके हैं कि विभिन्न भूमियों में बड़ी असमानताएं हैं। भूमि का बहुत बड़ा भाग ऐसा है जिसमें खेती, मुख्यत: या अंशत: किराये के मजदूरों की सहायता से की जाती है, और किराये के मजदूर रख कर भूमि का सुधार या घनी खेती नहीं की जा सकती। इसके विपरीत बहुत स्थानों पर जमीन और पूंजी तो दुर्लभ ह, परन्तु जनशक्ति प्रचुर तथा सुलभ है। उत्पादन में वृद्धि करने और लोगों के रहन-सहन का दरजा ऊंचा उठाने के लिये आवश्यक है कि देहाती अर्थ-व्यवस्था का पुनर्गठन इस प्रकार कर दिया जाय कि भूमि, जनशक्ति और पूंजी का उपयोग योजनापूर्वक करके भी, कौटुम्बिक कृषि के समान, लागत और लाभ का हिसाब न लगाना पड़े। इसलिये समस्या भूमि-सुधार का ऐसा नमूना तैयार करने की है कि उसमें श्रमिकों को तो भूमि पर काम करने का उत्साह खूब हो, और जिन वर्गों पर उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़े वे अपने आपको परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार बिना विशेष कठिनाई के ढाल लें।

११. हमने भूमि-सुधार के सुझाव पेश करते हुए दो लक्ष्य सामने रखे हैं। पहला यह कि (१) किराये के मजदूर रखकर खेती करने का उत्साह किसी को न हो, और दूसरा यह कि (२) जो लोग जमीन पर मेहनत करके अपनी रोजी कमाना चाहें वे वैसा कर सकें। इसलिये हम सुझा रहे हैं कि प्रत्येक कुटुम्ब को निजी खेती के लिये उतनी ही भूमि रखने का अधिकारी माना जाय जितनी को कि वह अपने कुटुम्बी-जनों को सहायता से जोत सके। शेष सारी भूमि का एक खाता ऐसा बना दिया जाय कि उसमें खेती सहकारिता द्वारा की जा सके, और जो चाहे सो उस सहकारिता में सम्मिलित हो जाय। सम्पन्न किसानों से जो अतिरिक्त भूमि ली जाय उसका उन्हें लगान दिया जाय। जो किसान मौके पर ही रहते हो उन्हें फालतू जमीन का लगान, कानून द्वारा नियत दर से भी अधिक देने में हर्ज नहीं। हमने यह सुझाव यह सोचकर दिया है कि जिन सम्पन्न किसानों पर इसका प्रभाव पड़ेगा उनकी संख्या तो शायद बहुत न हो, परन्तु गांव में उनका प्रभाव बहुधा बहुत होता है, और यदि हमारे कार्यक्रम से उनका विरोध नरम पड़ गया तो उसे सफल बनाने में शायद उनका सहयोग मिल जाय। यदि फालतू जमीन किसी काश्तकार (जमींदार से जमीन काश्त पर लेकर खेती करने वाले किसान) की हुई तो उसकी गिनती मौके पर रहने वाले किसानों में की जायगी और उसे सहकारिता से वही लगान मिलेगा जो कि अन्य सब मौके पर रहने वाले किसानों को दिया जायगा, और उसे अपने जमींदार को केवल कानूनी लगान देना पड़ेगा। मौके पर न रहने वाले किसानों को फालतू जमीन का लगान उतना ही मिलेगा जितना कानून द्वारा निर्धारित होगा। हमारा सुझाव यह भी है कि जमीन की वर्तमान उपजाऊ शक्ति के अनुसार, उसका लगान, नकद अथवा जिन्स की एक नियत मात्रा के रूप में, निश्चित कर दिया जाय, जिससे

कि सहकारिता के प्रयत्न या लागत लगाने से जो अतिरिक्त उपज हो उसका लाभ केवल उस सहकारिता को मिले जिसे कि वह जमीन सौंपी जाय। हम यह कल्पना करके चल रहे हैं कि मालिकों और सहकारिताओं में लगान का झगड़ा होने पर लगान-वसूली कराने की जिम्मेवारी सरकार उठा लेगी। इस जिम्मेदारी को निभाने के लिये सरकार गांव के चौकीदार आदि का उपयोग कर सकती है। सहकारिताओं को यह लगान तभी तक देना पड़ेगा जब तक कि अन्य क्षेत्रों में भी इस प्रकार की अदायगियां होती रहेंगी।

१२. इस प्रकार जो फालतू जमीन इकट्ठी की जाय, वह, सहकारिता बना कर खेती करने के लिये उन बे-जमीन खेत-मजदूरों और छोटे किसानों को दे देनी चाहिए जो कि अपनी जमीन भी उसी में मिला देने को तैयार हों। हमने इस प्रतिवेदन के परिशिष्ट में अंकों द्वारा दिखलाया है कि इस प्रकार जो फालतू जमीन एक खाते में इकट्ठी की जायगी उसमें यदि सभी बे-जमीन खेत-मजदूर और छोटे किसान खेती करने को तैयार हो गये तो भी उन सबको काम करने का पर्याप्त अवसर मिल सकेगा। मध्यम किसानों को भी सहकारिता की खेती में सम्मिलित होने के लिये उत्साहित किया जायगा। सम्भव है कि जिन सम्पन्न किसानों की फालतू जमीन इन खातों में ली जायगी उनकी इच्छा भी इन सहकारिताओं में सम्मिलित होने की करने लगे। सहकारिताओं को जो भी जमीन दी जायगी उस पर काम करने का सबको समान अवसर मिलेगा, वे चाहे बे-जमीन मजदूर हों, चाहे छोटे किसान और चाहे अन्य किसान। जो किसान अपनी जमीन सहकारिता की जमीन में मिला देंगे उनको काम के मेहनताने के अतिरिक्त मालिकी का लाभांश भी मिलेगा। सहकारिता के उत्पादन की सारी बचत दो भागों में बांट दी जायगी—कुछ तो मालिकी का लाभांश चुकाने में और कुछ प्रत्येक श्रमिक के काम के हिसाब से उसका पारिश्रमिक देने में। इस प्रकार गांव में ऐसा सहकारिता-विभाग खोला जा सकेगा जिसमें कि जमीन के आसरे अपनी आजीविका कमाने वाले बहुत-से लोग सम्मिलित हो जायंगे। एक प्रश्न यह हो सकता है कि यदि सहकारिता न बन सकी या बनाने के पश्चात् तोड़ देनी पड़ी तो इकट्ठी की हुई फालतू जमीन में खेती किस प्रकार की जायगी। ऐसा होने की सम्भावना बहुत कम है। फिर भी यदि ऐसा हो ही गया तो हमारा ख्याल यह है कि जमीन बे-जमीनों और छोटे किसानों में बराबर-बराबर बांट दी जायगी और वे चाहेंगे तो फिर कभी स्वेच्छापूर्वक सहकारिता में संगठित हो जायंगे।

१३. हमने भूमि-सुधार के सुझाव भारतीय अवस्थाओं की दृष्टि से दिये हैं, उन्हें देते हुए हमने सहकारिता-संस्थायें चलाने के कार्यक्रम का ध्यान नहीं रखा। हमारी नीति बहुत समय से 'जमीन जोतने वाले की' के असूल पर चलने की चली आ रही है। अब तक भूमि-सुधार के जितने कानून बनाये गये हैं उन सबका लक्ष्य मुख्यतया काश्तकार की अवस्था सुधारना रहा है। जमीन के असली जोतदार तो बे-जमीन खेत-मजदूर हैं। और वही शायद सबसे अधिक शोषित भी हैं, परन्तु उनके साथ अभी तक न्याय नहीं किया गया। हमने जो सुझाव दिये हैं, उनमे, हमारे समाज के इस सर्वाधिक विपद्ग्रस्त तथा पिछड़े हुए वर्ग के लिये भी जमीन का बन्दोबस्त करने का अवसर मिल जायगा। इन बेचारों की आजीविका का एकमात्र साधन खेतों में मजदूरी करना है। हमारे देश में जमीन पर आबादी का दबाव बहुत अधिक होने के कारण, वह भी एक दुर्लभ वस्तु बन गई है, और उसका, उस पर मेहनत करने वालों में समान विभाजन कर देना, एक राष्ट्रीय आवश्यकता बन गया है। यद्यपि चीन और जापान के, अपने अपने देश का आर्थिक विकास शीघ्र करने के मार्ग, एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं, परन्तु भूमि-सुधार करने के लिये दोनों ने ही चरम उपायों का अवलम्बन किया है। हमें लगता है कि भारत की परिस्थितियों में तो, शीघ्रता से आर्थिक प्रगति करने के लिये भी, भूमि-सुधार के किसी चरम कार्यक्रम को अपनाने की अनिवार्य आवश्यकता है। सम्भव है कि किसी को हमारे सुझाव भी अति चरम प्रतीत हों। परन्तु वस्तुतः हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि अपने हाथ से खेती करने के सिद्धान्त पर आचरण, उसके सच्चे अर्थों में होना चाहिये, और जिस जमीन को उसका मालिक अपने कुटूम्ब की सहायता से न जोत सके उसका प्रबन्ध उसके लिये समाज को करना चाहिये, उसे केवल उसकी मालिकी का मुनासिब हक मिलते रहना चाहिये।

ग्रामों में नेताओं की खोज और अधिकारों का विकेन्द्रीकरण

१४. भूमि के प्रबन्ध में ये मौलिक सुधार तब तक नहीं किये जा सकते जब तक कि ग्रामों में अच्छे नेता तैयार न कर लिये जायं। 'ग्रामों के नेता' से हमारा अभिप्राय ग्रामों में ही बसे हुए ऐसे व्यक्तियों से है जो ग्रामीण जनता के विचारों को प्रभावित कर सकें और उसे अपने साथ लेकर चल सकें। इस प्रकार के नेताओं का महत्व स्पष्ट है। उनके रूप में, ग्रामीण जनता के साथ सम्पर्क करने का एक साधन मिल जाता है, और ग्राम के एक-एक परिवार से मिल कर उसे समझाने-बुझाने की आवश्यकता नहीं रहती। हम पहले बतला चुके हैं कि चीन में ग्रामों के नेताओं की खोज किस प्रकार किसानों के संगठनों में से की गई थी, और बाद को यही भूमि-सुधार का कार्यक्रम पूरा करने के साधन और सहकारिता-संस्थाओं के नेता बन गये थे। हम चीनी ग्रामों में इनके नेतृत्व से बहुत प्रभावित हुये थे। सहकारिता-संस्थाओं की मारफत, ग्राम के स्त्री और पुरुष नेताओं को, स्वयं जिम्मेवारी उठाने और अपनी सूझ-बूझ प्रकट करने का अवसर मिल जाता है। चीन में तो यह नियम-सा बन गया दिखता है कि सहकारिता के कार्यों में आगे आगे नवयुवक रहते हैं और ग्रामों का नेतृत्व अधिकतर स्त्रियां करती हैं।

१५. इन नेताओं को, ग्रामों में ग्रामीणों द्वारा पूरे किये हुए कार्यक्रमों के आधार पर ही, तैयार किया जा सकता है। यदि राजनीतिक अधिकारों और शासनिक जिम्मेवारियों का विकेन्द्रीकरण हो जाय तो ग्रामों में ऐसी अवस्थायें उत्पन्न हो जायंगी कि उनमें काम करने के नये-नये अवसर निकल आयंगे। चीन में कृषि-सहकारिताओं के सफल होने का एक कारण यह भी है कि 'उत्पादन बढ़ाने के लिए सहकारिता-संस्थाओं के नेता किसानों में से ही खोज निकालने' की जिम्मेवारी शियांग की सरकारों पर रखी गई है। इस प्रकार यह देखना उनका ही काम है कि सहकारिता-संस्थाएं सफल हों। सहकारिताओं के मार्ग की विघ्न-बाधाएं उन्हें ही दूर करनी पड़ती हैं। चीन में सहकारिता आन्दोलन सफल इसी कारण हुआ है कि शियांग की सरकार और सहकारिता-संस्थाओं के पदाधिकारियों में घनिष्ठ सहयोग रहता है। शियांग से ऊपर शासन की इकाई चुई होती है, जो कि हमारी तहसील से मिलती-जुलती है। उसमें भी शासन के कई कामों का पूरा उत्तरदायित्व निर्वाचित प्रतिनिधियां के सिर पर रहता है।

१६. निःसन्देह हमारे यहां, चीन के समान, देहातों में केवल एक पार्टी का शासन अथवा उसी का नेतृत्व नहीं चल सकता। हमारी संसदीय प्रणाली में यह सम्भव ही नहीं है। हमने परीक्षण भी ग्रामों में निर्दलीय नेताओं से काम चलाने का करके देखा है। सुझाव तो यहां तक दिया गया था कि गांव-पंचायत के चुनाव दलों के द्वारा न लड़े जायं। परन्तु हमारे गांवों में जबरदस्त धड़े-बन्दी रहती है, और पंचायतों के चुनाव में उनका उपयोग न भी होता हो तो आम चुनावों में तो राजनीतिक दल उनसे पूरा लाभ उठाने में कभी पीछे नहीं रहते। गांवों में इन धड़ों के रहने का कारण शायद यह भी है कि गांववालों के पास उनकी रुचि का ऐसा कोई काम नहीं होता जिसे करने में उनके फालतू समय और शक्ति का उपयोग हो जाय। धड़े रहें चाहे न रहें, ऊपर के राजनीतिक दलों की प्रतिक्रिया गांवों पर होगी ही, और इसलिये हमें ऐसी ही परिस्थिति में सन्तोष मानकर चलना पड़ेगा जिसमें गांव के नेता दलों में बंटे रहेंगे और वे अपना सम्बन्ध किसी न किसी राजनीतिक दल के साथ जतलाते रहेंगे। परन्तु केवल इसी कारण ग्रामों के नेताओं की अपेक्षा नहीं कर देनी चाहिये अथवा ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये कि उनसे कोई काम नहीं निकल सकता। इसका बुरा से बुरा फल इतना ही हो सकता है कि एक गांव में अनेक सहकारिता-संस्थायें बन जायं। परन्तु उसका प्रभाव हमारे कार्यक्रम पर विशेष नहीं पड़ेगा। हम पहले ही बतला चुके हैं कि हमारे विचार में गांवों के नेता तैयार करने का एकमात्र मार्ग क्या है। हमें चाहिये कि ग्रामों का प्रबन्ध करने के लिये हम ग्राम-संस्थाओं को पर्याप्त अधिकार और शक्ति दें, और यदि उनके निर्णयों का ग्रामीण जनता के प्रतिनिधि समर्थन करते हों तो उनमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। इस प्रसंग में हम योजना-आयोग की उन सिफारिशों का जिक्र विशेष रूप से करना चाहते हैं जिनमें कि उसने भूमि का प्रबन्ध, विकास, दीवानी न्याय और शासन, और भूमि-सुधार आदि अनेक देहाती मामलों की व्यवस्था ग्राम-पंचायतों के सुपुर्द कर देने की सिफारिश की है।

१७. स्त्रियों और युवकों के संगठन पर विचार करते समय भी ठीक इसी प्रकार की समस्यायें सामने आ खड़ी होती हैं। राजनीतिक दलों की अनेकता के कारण स्त्रियों और युवकों के भी अनेक परस्पर विरोधी संगठन बन जाने का भय है। आज स्थिति यह है कि कुछ अपवादों को छोड़कर, इन दोनों का प्रायः न तो कोई संगठन है और न कोई नेता है। युवकों की शक्ति, योग्यता, उत्साह और संगठित प्रयत्नों का उपयोग हो सकने की कहीं गुंजायश ही नहीं। हमारी देहाती स्त्रियां तो बहुत ही पिछड़ी हुई हैं। जब तक कोई स्त्रियों का ही संगठन उनमें पहुंचकर काम नहीं करेगा तब तक उनसे कोई काम नहीं लिया जा सकेगा। परस्पर विरोधी राजनीतिक दलों द्वारा इनके एक-जैसे अनेक संगठन बना लिये जाने में खतरा उतना नहीं है जितना कि इनके बिल्कुल निकम्मे पड़े रहने में है। लोकतन्त्री देशों के विभिन्न राजनीतिक दल भी, लोकतन्त्रीपद्धति की पुकार होने पर, शीघ्र ही परस्पर मिल कर काम करने लगा करते हैं।

१८. हम पीछे बतला आये हैं कि चीन में कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं ने कृषि-सहकारिताओं का संगठन करने के लिये कितना काम किया था। उन्होंने गांव के नेता तैयार करने में भी सहायता दी थी। हमारे देश में लोकतन्त्री प्रणाली प्रचलित होने के कारण यहां अनेक दल बने हुए हैं। इन सब दलों के कार्यकर्ता ग्रामों में काम कर सकते हैं। सम्भव है कि इनके द्वारा बनाई हुई विभिन्न सहकारिता-संस्थाओं की राजनीतिक प्रवृत्तियों भी विभिन्न हों। परन्तु इन सब कार्यक्रमों की पूर्ती के लिये दलों का संगठन प्रभावशाली होने की आवश्यकता है। अब तक तो ये दल निरे वोट बटोरने करने के साधन बने हुए हैं। उक्त कार्यक्रमों की पूर्ति के लिये, इन्हें अपने संगठन का रूप बदल कर अपने आप को जनता के मार्गदर्शक और जनता में से ही उसके नेता तैयार कर देने वाले समाज में परिणत करना पड़ेगा।

१९. जिन राजनीतिक दलों का विश्वास रचनात्मक कार्यकरने में हो उन्हें, सहकारिता-संस्थाओं के कार्यक्रम में, वैसा कार्य करने का उत्तम अवसर मिल सकता है। 'जनता पर प्रभाव उसी संगठन का हो सकता है जिसके नेता भी जनता में से उठकर बने हों और जो जनता के अनुभवों से लाभ उठा कर जनता को सामुदायिक कार्य में प्रवृत्त तथा उत्साहित कर सकें, और वैसा करते हुए अपनी तथा जनता की विचार-दिशा का निश्चय कर ले।" (आल-इण्डिया कांग्रेस-कमिटी का बुलेटिन)। जो राजनीतिक दल इन आशाओं को जितना पूरा कर सकेगा वह उतनी ही मात्रा में जनता का नेतृत्व कर सकेगा।

सरकार का काम

२०. सामाजिक और आर्थिक महत्व के कार्यक्रम पूरे करने के लिये शासन के पास दो साधन होते हैं। पहला साधन तो पदारूढ राजनीतिक दल होता है और दूसरा सरकारी संगठन, अर्थात् स्थायी सरकारी कर्मचारी। हमारे देश में राष्ट्रीय विकास के कार्यक्रम पूरे करने के लिये इन दोनों ही साधनों को भारी काम करना पड़ेगा। लोकतन्त्री देशों में, राजनीतिक नेता तो चुनाव के द्वारा बदलते रहते हैं, परन्तु सरकारी कर्मचारी उससे अप्रभावित रहते हैं। इसलिये सरकारी कर्मचारियों को दल-बन्दी से सदा ऊपर रहना चाहिये, जिससे कि वे चुनाव में जीतने वाले जिस किसी भी दल की नीति को क्रियान्वित कर सकें। व्यक्तिशः सरकारी कर्मचारियों के निजी विचार कुछ भी हों, वे सब सामुदायिक अर्थात् सरकार के रूप में, किसी एक दल के आदर्शों का पक्षपात नहीं कर सकते। जनता की सेवा करने के लिये किये गये उनके प्रयत्नों की सफलता, उन प्रयत्नों का नियन्त्रण करने वाली नीति पर तो निर्भर करती ही है, उससे भी अधिक उनकी भावना पर निर्भर करती है। यदि उनमें यह देशभक्तिपूर्ण भावना प्रबल हो कि हमें अपने राष्ट्र का विकास करना है, तो उनके प्रयत्न कई गुणा अधिक सफल हो सकते हैं। इस प्रसंग में उनकी "देशभक्ति-पूर्ण भावना" से हमारा अभिप्राय यह है कि उनको भी देश का, विशेषतः बहुत पिछड़े हुए वर्गों का, भौतिक तथा सांस्कृतिक स्तर ऊंचा उठाने की महत्वाकांक्षा होनी चाहिये। सरकारी कर्मचारियों में जितनी यह भावना होगी उतना ही वे काम को अधिक अच्छा और अधिक ऊंचे पाये का करने के लिये लोगों को प्रेरित कर सकेंगे। इतिहास बतलाता है कि हमारे सरकारी कर्मचारियों

में परम्परा ही असमानता और अविश्वास की चली आ रही है। ब्रिटिश शासन में शायद इसकी आवश्यकता भी थी, क्योंकि इससे सरकार में ब्रिटिश अधिकारियों की स्थिति विशिष्ट बनी रहती थी। यही कारण है कि उच्च सरकारी कर्मचारियों को इतने ऊंचे वेतन दिये जाते थे और निम्न तथा उच्च पदाधिकारियों में इतना अधिक अन्तर रहता था, और अनेक कार्यप्रणालियां ऐसी निकाली गई थीं कि उनके कारण उत्तरदायित्व का निश्चय करने और कार्य शीघ्र भुगताने में नाना प्रकार की रुकावटे खड़ी हो जाती थीं। राष्ट्र का विकास करने की परवाह किसी को नहीं थी। सरकारी कर्मचारियों का मुख्य काम केवल अम्न-अमान और कानून की रक्षा करना बना हुआ था। परन्तु अब दस वर्ष से, देश स्वतन्त्र हो जाने के कारण, परिस्थितियां बदल गई हैं और सरकारी कर्मचारियों के लिये जनहितकारी रचनात्मक कार्य करने की बहुत गुंजायश हो गई है। यद्यपि सरकारी कर्मचारियों के रुप में कुछ परिवर्तन दिखाई देने लगा है, परन्तु पुरानी पद्धतियों, परम्पराओं और प्रवृत्तियों का सर्वथा अन्त नहीं हुआ, और इस कारण सरकारी कर्मचारी परस्पर सहयोग और विश्वास के वातावरण में काम नहीं कर पाते। सरकारी कर्मचारी जनता के साथ घुल-मिल इस कारण भी नहीं पाते कि उच्च कर्मचारियों की भरती बहुधा उच्च वर्गों और उच्च जातियों में से ही होती है।

२१. जहां राजनीतिक दल देहातों में सक्रिय न हो वहां सरकारी कर्मचारियों की चुस्ती से काम करने की जिम्मेवारी और भी बढ़ जाती है। इसलिये सरकारी कर्मचारियों को, देहातों में अपने कर्तव्यपालन पर विशेष अधिक ध्यान देना चाहिये। हमारे विचार में, जब तक सरकारी नौकरियों का पुनर्गठन करके उन्हें भारत का नवनिर्माण करने के लिये आत्मसमर्पण कर देने वाले व्यक्तियों के वास्तविक सहकारी संगठन का रूप, प्रदान नहीं किया जायगा तब तक यह कार्य सन्तोष-जनक ढंग से नहीं हो सकेगा। यह संगठन सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अधिक एकरस और संगठन की दृष्टि से कहीं अधिक प्रभावशाली होगा।

२२. इस कार्यक्रम का कृषि-सहकारिता-संस्थाओं के कार्यक्रम के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये संस्थायें हो या न हो, राष्ट्रीय विकास के लिये तो इसकी आवश्यकता है ही। कृषि-सह-कारिताओं और देहातों की जनता के साथ उनके सम्बन्ध की दृष्टि से, इस कार्य का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

कार्यक्रम

२३. पिछले कुछ पृष्ठों में हमने बतलाया है कि कृषि-सहकारिता-संस्थाओं की प्रगति में सहायक होने के लिये, वातावरण कैसा होना चाहिये। हमने यह भी बतला दिया है कि देहातों का वातावरण वैसा बनाने के लिये क्या-क्या उपाय करने होंगे। देहातों में समानता का वातावरण बनाने और शोषण का अन्त करने के लिये हमने भूमि-व्यवस्था में कुछ सुधार करने का सुझाव दिया है। इन सुझावों के अनुसार आचरण करने के लिये नीति का निश्चय होते ही, आवश्यक कानून बना देना और साथ-ही-साथ उन लोगों की सहकारिता-संस्थाओं का संगठन कर देना होगा जिन्हें कि उससे लाभ पहुंचने की सम्भावना हो, जिससे कि जब फालतू जमीन इकट्ठी की जा चुके तब तुरन्त ही उसका प्रबन्ध इन सहकारिता-संस्थाओं को सौपकर उसमें सहकारिता की खेती आरम्भ की जा सके। हमारे सुझावों पर अमल करने से फालतू जमीन कितनी मिल जायगी, इसका कोई पक्का अन्दाजा तो नहीं लगाया जा सकता, परन्तु ख्याल यह है कि वह कृषि की समस्त भूमि के पांचवे से चौथा भाग तक होगी। हमने यह जिक्र केवल इसलिये कर दिया है कि प्रस्तावित पुनर्गठन का कार्य कितना विशाल होगा, इसकी कुछ कल्पना हो जाय। हमारा सुझाव है कि आगामी चार वर्षों के अन्दर राज्य-सरकारों को इसके लिये आवश्यक उपाय करके, विभिन्न स्तरों पर उपयुक्त संगठनों की भी स्थापना कर डालनी चाहिये। इस सम्बन्ध में कुछ और सुझाव हम अगली पंक्तियों में दे रहे हैं।

लक्ष्य

२४. जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, हम भूमि की व्यवस्था सहकारिता के आधार पर करने के लिये, किसी भी प्रकार के बलप्रयोग की कल्पना नहीं करते। यदि उपयुक्त वातावरण की सृष्टि कर दी गई तो हमारे कार्यक्रम की पूर्ती में वह स्वयंमेव सहायक हो जायगा। फिर

भी, किसान को यह तो समझाना ही पड़ेगा कि इस कार्यक्रम से उसका अपना और देश का, दोनों का भला होगा। इसकी सफलता के लिये, प्रदर्शन के एक सुनियोजित कार्यक्रम का होना अत्यावश्यक है। इस प्रदर्शन-कार्यक्रम की सफलता पर ही, भारत में सहकारिता की खेती का भविष्य निर्भर है। लक्ष्य यह होना चाहिये कि १९६०–६१ तक कम से कम पचास-पचास गांवों में एक-एक कृषि-सहकारिता-संस्था बन जाय। इसका मतलब मोटे हिसाब से कोई १० हजार सहकारिता-संस्थायें होता है। इस प्रसंग में हम इतना जिक्र और कर देना चाहते हैं कि जिन राज्यों में प्रत्येक किसान को जमीन पर अब तक स्थायी अधिकार प्राप्त नहीं हुए उन सबमें सरकार के पास थोड़ी-बहुत खेती की जमीन है ही। हमारा सुझाव है कि जहां कहीं भी इस प्रकार की जमीन अच्छे परिमाण में उपलब्ध हो वहां बे-जमीन खेत मजदूरों की सहकारिता-संस्थायें बना कर सहकारिता की खेती आरम्भ करवा दी जाय। और जहां कहीं छोटे किसान है अपनी जमीन उसमें शामिल करने को तैयार हों वहां उन्हें भी सहकारिता-संस्था में सम्मिलित कर दिया जाय।

वर्तमान संस्थाओं का काम

२५. प्रदर्शन के कार्यक्रम में, वर्तमान सहकारिता-संस्थायें बहुत महत्वपूर्ण भाग ले सकेंगी। हमने पिछले एक अध्याय में बतलाया है कि इनमें से कई संस्थायें तो बनाई ही, भूमि-सुधार के कानून से बचने के लिये, गई हैं। ऐसी भी सहकारिता-संस्थायें है कि उनके सदस्य खेती का काम अपने हाथ से नहीं करते, वह काम अधिकतर किराये के मजदूर रख कर करवाया जाता है। हमारे विचार में ऐसी सहकारिताओं का कोई लाभ नहीं, और इन्हें यथाशीघ्र समाप्त कर देना चाहिए। इसलिये उचित है कि शीघ्र ही वर्तमान सब संस्थाओं का सर्वेक्षण करवा कर, केवल सच्ची सहकारिताओं को रहने दिया जाय और उनकी इस प्रकार सहायता की जाय कि वे उपयोगी प्रदर्शन-केन्द्रों का काम दे सकें। हमने इसी अध्याय में आगे चलकर, सरकारी सहायता और आन्तरिक संगठन तथा प्रबन्ध आदि के सम्बन्ध में जो सुझाव दिये हैं उनकी परीक्षा पहले इन संस्थाओं में की जाय, जिससे कि यथाशीघ्र अनुभव होकर, उपयुक्त विधियों और प्रणालियों का विकास किया जा सके।

२६. अब तक हमारे देश में सहकारिता की खेती का रूप सर्वत्र एक-सा नहीं है। इसलिये हम यहां सहकारिता-संस्थाओं के उन प्रकारों का निर्देश कर देना चाहते हैं जो कि हमारे ध्यान में हैं। अ० भा० सहकारिता-योजना-समिति ने सहकारिता की खेती को निम्न चार वर्गों में विभक्त किया था :

१. अच्छी खेती,
२. काश्तकारी खेती,
३. संयुक्त खेती, और
४. सामुदायिक खेती।

अच्छी खेती की सहकारिता-संस्था में सदस्य अपनी अपनी जमीन पृथक्-पृथक् स्वयं जोतते रहते हैं। संस्था उनकी सहायता ऋण मिलने, साधन-सामग्री की उपलब्धि और उत्पन्न माल को बेचने में करती है, और जहां कहीं सम्भव होता है वहां खेती की उत्कृष्ट विधियों और फसलें योजनापूर्वक बोने का भी प्रयोग करती है। इस प्रकार, अच्छी खेती की सहकारिता-संस्थाओं के काम बहु-कर्मी सहकारिता-संस्थाओं से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। काश्तकारी खेती की सहकारिता-संस्थाएं, जमीन बिना किसी शर्त के या पटे पर लेकर और उनके मुनासिब टुकड़े करके उन्हें अपने सदस्यों में बांट देती हैं, इस प्रकार प्रत्येक सदस्य के पास खेती के लिये अपना अपना खेत हो जाता है और संस्था उनकी सहायता ऋण, बीज, खाद और औजार आदि देने के रूप में करती रहती है। संयुक्त खेती की सहकारिता-संस्थाओं में सदस्य अपनी जमीन संयुक्त खेती तथा प्रबन्ध के लिये एकत्र कर लेते हैं, परन्तु उस पर उनका स्वामित्व पृथक्-पृथक् ही बना रहता है और वे नफे में अपने स्वामित्व का हिस्सा लेते रहते हैं। सामुदायिक खेती की सहकारिता-संस्थाओं में, न केवल भूमियों

की खेती और प्रबन्ध सामुदायिक रूप में किये जाते हैं, भूमियों पर सदस्यों का स्वामित्व भी पृथक् पृथक् नहीं रहता, संस्था ही सारी भूमि की स्वामी हो जाती है, और इसलिये नफे में मालिकाना हिस्सा भी नहीं बांटना पड़ता। अच्छी खेती और काश्तकारी खेती की सहकारिता-संस्थाओं की भूमि-व्यवस्था में बहुतेरी उपयोगिता होते हुए भी, उनमें संयुक्त खेती और संयुक्त प्रबन्ध का कोई तत्व नहीं होता। परन्तु इस प्रतिवेदन में हम 'सहकारिता की खेती' शब्द का प्रयोग केवल संयुक्त खेती और सामुदायिक खेती की सहकारिता-संस्थाओं के लिये कर रहे हैं। हमारा सुझाव है कि जहां कहीं भी किसान अपनी जमीन सहकारिता की खेती के लिये एकत्र करें वहां सर्वत्र संयुक्त खेती की सहकारिता-संस्थाए बनाने को बढ़ावा दिया जाय। परन्तु जहां संस्थाएं सरकारी जमीन पर अथवा एकत्र की हुई फालतू जमीन पर बनाई जायं, वहां तो सामुदायिक खेती की ही सहकारिता-संस्थाएं संगठित करना अधिक इष्ट होगा। हमारा सुझाव यह भी है कि कृषि-सहकारिता-संस्था का सदस्य केवल ऐसे व्यक्तियों को बनाया जाय जो संस्था के दैनिक कार्यों में स्वयं भाग लेने को तैयार हों। कृषि-सहकारिता-संस्थाओं की रजिस्ट्री करने के लिए, भूमि का न्यूनतम क्षेत्र और सदस्यों की न्यूनतम संख्या भी निर्धारित कर देना उचित है। विभिन्न फसलों की आवश्यकता का विचार करते हुए, चावल बोने के इलाके में कृषि-सहकारिता-संस्था की भूमि का परिमाण ३५ से ५० एकड़ तक और कपास तथा गेहूं के इलाके में ६० से १०० एकड़ तक नियत किया जा सकता है। सदस्यों की न्यूनतम संख्या ७ से १० तक हो सकती है। सहकारिता के खेत का अधिकतम परिमाण, खेती के लिये प्रयुक्त विधियों को देखकर, नियत किया जा सकता है। शुरू-शुरू में, ऐसा कोई आग्रह करने की आवश्यकता नहीं कि एक गांव में एक ही सहकारिता-संस्था रहे। यदि गांव में दो या अधिक सहकारिता-संस्थाएं बन जायं तो उनको, सामान और सेवायें न्यूनतम मूल्य पर प्राप्त करने के उद्देश्य से, एक संयुक्त समिति बना लेने के लिये उत्साहित करना चाहिये।

केन्द्र का संगठन

२७. विगत पैराओं में हमने जिस कार्यक्रम की रूप रेखा खींची है उसे क्रियान्वित करने के लिए पहला काम यह करना होगा कि विभिन्न स्तरों पर उपयुक्त संगठन बना दिये जायं। राष्ट्रीय स्तर पर, सहकारिता की खेती की योजनाएं बनाने और उसके कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व, 'नैशनल को-आपरेटिव डिवेलपमेण्ट एण्ड वेयरहाउसिंग बोर्ड' अर्थात् राष्ट्रीय सहकारिता विस्तार तथा माल संग्रह मंडल को सौंप देना चाहिये। इस बोर्ड की स्थापना भारत सरकार ने हाल में ही की है। इस बोर्ड की एक स्थायी समिति, सहकारिता की खेती सम्बन्धी मामलों का भुगतान करने के लिए, बना देनी चाहिये। इस समिति के सदस्यों में, कुछ प्रमुख कृषि-अर्थशास्त्रियों के अतिरिक्त, ऐसे व्यक्ति अवश्य रखने चाहिये जिन्हें स्वदेश और विदेश में सहकारिता की खेती करने का ज्ञान और अनुभव हो। इस समिति को अपना काम, राज्यों की इसी प्रकार की समितियों के साथ सहयोगपूर्वक, करना चाहिए। बोर्ड को चाहिये कि वह सहकारिता-संस्थाओं की वित्तीय तथा अन्य प्रकार की सहायता, इस समिति की सलाह से ही, करे। हमारी सम्मति में सरकार को चाहिये कि वह अब तक बोर्ड को जो धन-राशि देती है उसमें कुछ वृद्धि कर दे, जिससे हमने जिन कार्यक्रमों की कल्पना की है उन सबको बोर्ड पूरा कर सके। इस समिति की सहायता करने और राज्य सरकारों को सहकारिता की खेती के कार्यक्रम तैयार करने में सलाह देने के लिये, कृषि-मन्त्रालय में सहकारी खेती का एक विशेषाधिकारी नियुक्त किया जाना चाहिए और उसकी सहायता निम्न विषयों के विशेषज्ञों को करनी चाहिए:—

१. श्रमिकों का संगठन और वार्षिक नियोजन,
२. जनता का सहयोग और नेतृत्व,
३. वित्तीय मामले और हिसाब-किताब रखने की प्रणालियां,
४. 'काम के पैमाने' और कृषि की उपज,
५. लघु उद्योग धंधों का संगठन, और
६. शिक्षण और प्रशिक्षण के कार्यक्रम।

कार्यक्रम का विस्तार होने पर यदि आवश्यकता हो तो ऊपर-निर्दिष्ट इकाई का बल और भी बढ़ाया जा सकता है।

राज्यों का संगठन

२८. राज्यों में निम्नलिखित व्यक्तियों की एक-एक समिति का संगठन कर देना चाहिए और उसकी अध्यक्षता सहकारिता-विभाग के मन्त्री को करनी चाहिये :—

१. कृषि-मन्त्री,
२. गृह-उद्योगों का मन्त्री,
३. राज्य-विधान-मण्डल के दो सदस्य,
४. राज्य-सहकारिता-परिषद अथवा प्रान्तिक-सहकारिता-संस्था का सभापति,
५. तीन ऐसे गैर-सरकारी सज्जन जिन्हें कि सहकारिता की खेती का अनुभव हो,
६. एक कृषि-अर्थशास्त्री,
७. विकास-आयुक्त,
८. सहकारिता-संस्थाओं का रजिस्ट्रार, और
९. कृषि-विभाग का डायरेक्टर।

इस समिति की जिम्मेवारियां ये होंगी—सहकारिता की खेती के कार्यक्रम बनाना और उन्हें पूरा करना, ग्रामों में तथा अन्यत्र सहकारिता की खेती में जनता का सहयोग प्राप्त करने और उसका नेतृत्व करने के लिये आवश्यक उपाय सुझाना, प्रशिक्षण के कार्यक्रम तैयार करना, वित्तीय सहायता देने के तरीके बतलाना, और समय-समय पर इन कार्यों की प्रगति पर विचार करते रहना। यह समिति, पिछले पैरा में निर्दिष्ट बोर्ड और उसकी समिति के साथ घनिष्ठ सहयोगपूर्वक कार्य करेगी।

२९. राज्य-समिति की सदस्यता के लिए एक उपसमिति भी बनाई जा सकती और उसकी बैठकें अधिक जल्दी-जल्दी बुलाई जा सकती हैं। इस उपसमिति का चेयरमैन विकास-आयुक्त को बनाया जा सकता है। उपसमिति के अन्य सदस्यों में सहकारिता-संस्थाओं का रजिस्ट्रार, कृषि-विभाग का डायरेक्टर, और एक या दो गैर-सरकारी सज्जन भी रखे जा सकते हैं। प्रत्येक राज्य में सहकारिता की खेती का एक विशेष अधिकारी नियुक्त किया जाना चाहिये। ऊपर-निर्दिष्ट समिति और उपसमिति का सचिव वही होना चाहिये। हमने जिस प्रकार केन्द्र में विशेष अधिकारी की विशेषज्ञों द्वारा सहायता की जाने का सुझाव दिया है उसी प्रकार राज्यों के विशेष अधिकारियों की भी की जानी चाहिये। उन्हें सहकारिता के खेतों का हिसाब जांचने के लिये कुछ विशेष आडिटरों (हिसाब-परीक्षकों) की और घूम-फिर कर खेतों में काम करने का मार्ग बतलाने वाले कुछ सहायकों की भी आवश्यकता पड़ेगी।

प्रत्येक जिले में भी एक एक समिति होनी चाहिये। उसकी अध्यक्षता जिला मजिस्ट्रेट कर सकता है। इस समिति को जिला-विकास-बोर्ड की एक उपसमिति भी माना जा सकता है, और इसके सदस्यों में कृषि-सहकारिता-संस्थाओं, अन्य सहकरिता-संस्थाओं और पंचायतों के प्रतिनिधियों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। देहातों में कृषि-सहकारिता-संस्थायें संगठित करने का काम राष्ट्रीय-विस्तार-सेवाओं और सामुदायिक योजनाओं के कर्मचारियों को करना चाहिये। इस काम के लिये किन्हीं विशेष कर्मचारियों को नियुक्त करने की आवश्यकता हमें अभी नहीं जान पड़ती। परन्तु हमने सुझाव दिया है कि देहातों में कुछ योग्य युवक चुनकर, उन्हें सहकारिता-पूर्वक खेती करने के सिद्धान्तों और विधियों का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिये; ये युवक कृषि-सहकारिता-संस्थायें संगठित करने में राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं और सामुदायिक योजनाओं के कर्मचारियों की मूल्यवान् सहायता कर सकेंगे।

ग्राम-संगठन कर्ता

३०. हमारे ग्रामों में बहुत-से युवक ऐसे हैं जो योग्य नेता बन सकते हैं, परन्तु उनका अब तक कुछ भी उपयोग नहीं किया जा रहा । उनमें से अनेक केवल इस कारण निरुपयोगी और हानिकारक कामों में फंस जाते हैं कि उन्हें रचनात्मक कार्य करने का अवसर नहीं दिया जाता । यदि उनकी शक्तियों का उपयोग करने की कोई योजना न बनाई गई तो यह प्रवृत्ति चलती ही चली जाय, और सम्भव है कि वह बढ़ भी जाय, और उससे समाज और राष्ट्र की बहुत हानि हो जाय । इन युवकों की प्रतिभा का उपयोग, लोगों को समझाने-बुझाने और सहकारिता-पूर्वक खेती करने के लाभ बतलाने के लिये करना चाहिये । सहकारिता-संस्थायें बन जाने पर, इन युवकों में से कई-एक अपने ग्रामों में उनके नेता भी बन सकते हैं । देहातों के अधिकतर युवकों को खेती का व्यावहारिक ज्ञान भी होता है और उनमें से अनेक खेती का कुछ न कुछ काम करते ही रहते हैं । उनके पास निर्वाह के भी कुछ साधन होते हैं, परन्तु वे सदा वर्ष-भर के लिये पर्याप्त नहीं होते । हमारा ख्याल है कि यदि प्रत्येक ग्राम से ऐसे दो-दो योग्य युवक चुनकर उनके दल को लगभग तीन महीने तक प्रशिक्षित कर दिया जाय तो वे ग्रामीण जनता में जानकारी फैलाने के लिये हवा का और भविष्य में सहकारिताओं की वृद्धि के लिये जड़ का काम करेंगे । इसलिए हमारा सुझाव है कि आगामी चार वर्षों में ऐसे दो लाख युवक चुनकर उन्हें प्रशिक्षित कर देना चाहिए । इस प्रशिक्षण में निम्न विषयों की जानकारी करवा देना चाहिए :

क. सहकारिता और सहकारिता की खेती के सिद्धान्त और भारत तथा अन्य देशों में सहकारिता की खेती की प्रगति,

ख. ऐसे उपाय जिनसे कि सहकारिता के सदस्यों का अधिकतम स्वेच्छा-सहयोग प्राप्त किया जा सके,

ग. वे तरीके जिनसे कृषि का उत्पादन बढ़ सकता है,

घ. सहकारिता-संस्थाओं में श्रमिकों को संगठित करने के उपाय,

ङ. काम का मेहनताना तय करने की ऐसी विधियां, जिनसे कि कार्यकर्ताओं का वैयक्तिक उत्साह भी बना रहे और उनमें सामाजिक भावना का भी विकास हो,

च. काम की वार्षिक और अल्प-कालिक योजनायें बनाने की ऐसी विधियां जिनसे कि उपज, रोजगार और आमदनी बढ़ाने के लिये स्थानीय साधनों का अधिक पूरा उपयोग किया जा सके, और

छ. हिसाब रखने की ऐसी विधियां जिन्हें कि किसान सुगमता से समझ लें और अपना लें ।

३१. इस प्रकार प्रत्येक चार-पांच ग्रामों में दो व्यक्ति ऐसे हो जायंगे जो अपनी जानकारी के आधार पर चर्चा और वाद-विवाद कर सकेंगे । और यही सहकारितायें बनाने की बढ़िया नींव भी है । ज्ञान और शिक्षण की यह प्रक्रिया केवल एक-तरफा भी नहीं रहेगी । इन प्रशिक्षित व्यक्तियों के मन में स्वयं जो सन्देह उत्पन्न होंगे या उनके सामने जो सन्देह तथा कठिनाइयां पेश की जायंगी उन्हें ये अपने से ऊपर के अधिकारियों तक पहुंचा देंगे, और उन्हें हल करने के उपाय निकालने पर ध्यान दिया जा सकेगा । अनुभव से जो कार्यवाहियां करना आवश्यक जान पड़े उन्हें अवश्य करने और अनुभवों का आदान-प्रदान करने के लिए, हमारा सुझाव है कि एक वर्ष पश्चात् पुनरावृत्ति के पाठ्यक्रमों का संगठन किया जाय, और इन प्रशिक्षित युवकों को उनमें बुलाकर इन्हें वहां अपने अनुभव सुनाने का अवसर दिया जाय । इनका प्रशिक्षण ऐसा होना चाहिए कि उससे ये न केवल लोगों को समझाना-बुझाना, अपितु कृषि-सहकारिता-संस्थाओं का और आर्थिक प्रकृति की अन्य संयुक्त हलचलों का संगठन तथा संचालन करना भी सीख जायं । हमारी कल्पना के अनुसार इन युवकों को सरकारी कर्मचारियों की भांति नियन्त्रित नहीं किया जायगा । इसके

विपरीत, हमारा विचार तो यह है कि वे जिन सहकारिता-संस्थाओं का संगठन करें उनका नेता और पदाधिकारी भी उन्हें ही बनने देना चाहिये। इसमें सरकार का व्यय केवल उन्हें प्रशिक्षित करने पर होगा। हमने प्रत्येक गांव से दो व्यक्ति लेने का सुझाव सोच-समझकर ही दिया है। वे दोनों आवश्यकता पड़ने पर एक दूसरे से सहायक हो सकेंगे। सम्भावना यह है कि सहकारिता-संस्थाओं के अधिकतर सदस्य बे-जमीन खेत-मजदूरों और छोटे किसानों में से बनेंगे, इसलिए यथाशक्ति अधिकतम प्रशिक्षाणार्थी भी उनमें से चुनना अच्छा है। प्रशिक्षणार्थियों का चुनाव करते हुए, उन व्यक्तियों को मौका पहले देना चाहिये जो कि पहले से विद्यमान खरी सहकारिता-संस्थाओं के सदस्य हों।

सहकारिता के खेतों का प्रबन्ध करने की विधि

३२. हम पीछे दो प्रकार की सहकारिता-संस्थायें बनाने की सलाह दे आये हैं---पहली संयुक्त खेती की और दूसरी सामुदायिक खेती की। दोनों की जमीनें एकत्रित की हुई होंगी। और इस कारण दोनों का आन्तरिक प्रबन्ध, और उसे करने की विधि भी, प्रायः एक-सा होगी। इन दोनों में अन्तर यह होगा कि पहली अर्थात् संयुक्त खेती की सहकारिता-संस्थाओं में तो सदस्यों को जमीन की मालिकी का भी लाभांश दिया जायगा, और दूसरी अर्थात् सामुदायिक खेती की सहकारिता में वह नहीं दिया जायगा। लाभांश का दर निश्चित करते हुए यह ध्यान रखा जायगा कि सदस्यों को सहकारिता में स्वेच्छा से ही सम्मिलित होने के लिये तैयार किया गया है। भूमि-सुधार के उपायों से असमानता बहुत-कुछ दूर हो जायगी। जब तक कुछ असमानताएं चलती रहेंगी तब तक समस्त उत्पादन का कुछ भाग जमीन की मालिकी के लाभांश के रूप में बाट देने की आवश्यकता बनी ही रहेगी। इस सम्बन्ध में चीन का अनुभव हमें एक पाठ सिखा सकता है। अपने आन्दोलन के आरम्भ में उन्होंने इस बात का ध्यान रखा था कि जमीन के मालिकों को किसी भी प्रकार का कष्ट न हो। परन्तु मालिकी का लाभांश निश्चित करते हुए एक बात सदा याद रखनी चाहिये। सहकारिता के काम की प्रगति होने के साथ-साथ जमीन सुधरती जायगी, घनी खेती करना सम्भव हो जायगा और इन कारणों से उत्पादन बढ़ने लगेगा। तब यह ध्यान रखना होगा कि बढ़े हुए उत्पादन के कारण हुआ सारा लाभ, सदस्यों को, केवल उनके श्रम के हिसाब से बांटा जाय। इसलिए हमारा सुझाव यह है कि मालिकी का लाभांश, जमीन इकट्ठी करने के समय जिस जमीन की जो उपज थी उसके हिसाब से, निश्चित कर दिया जाय। यह प्रणाली न्यायोचित भी है, क्योंकि उत्पादन में वृद्धि जमीन-मालिकों के कारण नहीं, प्रत्युत सहकारिता-संस्था के साधन-विनियोग और संगठन-कुशलता के कारण होगी।

३३. अब रही बात औजारों और पशुओं की। औजारों को यदि सबसे एकत्र करके संस्था की ही सम्पत्ति बना दिया जायगा तो अच्छा रहेगा। प्रत्येक सदस्य जो औजार दे उनका उचित मूल्य लगाकर, उसे उस सदस्य के हिस्से की रकम के रूप में जमा किया जा सकता है। पशुओं के लिये दो विकल्प हो सकते हैं। पहला तो यह कि उन्हें इट्ठा करके संस्था की ही सम्पत्ति बना दिया जाय, और दूसरा यह कि प्रत्येक सदस्य पशु अपने पास रखे। दोनों विकल्पों के अपने अपने लाभ और अपनी-अपनी हानियां है, और इस कारण हम यहां दोनों में से किसी का समर्थन या विरोध नहीं करते। जो संस्था अपनी आरम्भिक अवस्था में जिस विकल्प को सहूलियत का समझे उसे अपना सकती है। यदि सदस्य पशुओं को अपने पास रखें तो संस्था को यह तय कर देना पड़ेगा कि उसे अपनी सारी जमीन जोतने के लिये कितने पशुओं की आवश्यकता पड़ेगी। संस्था को यह भी निश्चय कर देना पड़ेगा कि कौन-कौन सदस्य पशु रखेंगे और कितने-कितने। पशुओं का प्रयोग करने के लिये संस्था परस्पर तय किया हुआ किराया देगी। जो पशु सदस्यों के पास रहेंगे उनके लिये पर्याप्त चारे का प्रबन्ध कर देना भी आवश्यक होगा। यदि पशुओं को एकत्र करके संस्था की सम्पत्ति बनाया जायगा तो उनका उचित मूल्य लगाकर, उसे सदस्यों के हिस्से की रकम अथवा नकद रकम के रूप में जमा कर लिया जायगा और मुनासिब किश्तों में वापिस किया जा सकेगा।

३४. प्रबन्ध के विस्तार की बातें निश्चित करते हुए दो सिद्धान्तों का ध्यान रखना होगा। पहला तो यह कि सब सदस्य खेती के काम में सक्रिय भाग लें और दूसरा यह कि काम की उत्कृष्टता और परिमाण, दोनों बढ़ाते रहने के लिए, सदस्यों का उत्साह बना रहे। सामुदायिक कार्योंमें नेताओं द्वारा मालिकी और हुकूमत जताने का भय सदा बना रहता है, और उसके कारण वैयक्तिक उत्साह नष्ट हो जाता और लोकतन्त्री कार्यप्रणाली का विकास रुक जाता है। खेती में काम के घण्टे तो निश्चित किये ही नहीं जा सकते। बेढब समय भी काम करना पड़ जाता है। यह भी ध्यान रखना होता है कि कुटुम्ब के सभी सदस्यों का कुछ-न-कुछ उपयोग हो जाय। इन सब कारणों से, सहकारिता-पूर्वक काम करने में ऐसी विधियों का निकालना अत्यन्त आवश्यक होता है जिनसे कि काम का बंटवारा और काम का निरीक्षण ठीक प्रकार होता रहे, और उन पर सबसे पहले ध्यान देना चाहिये। इन समस्याओं पर अभी तक पर्याप्त ध्यान नहीं दिया और पर्याप्त विचार नहीं किया गया। बहुधा देखा जाता है कि संस्था के केवल एक या दो सदस्य संस्था पर कब्जा जमा कर बठ जाते और सारी संस्था पर हुकूमत करने लगते हैं, और शेष सदस्यों की परवाह तक नहीं करते। इस सम्बन्ध में भी चीन का अनुभव हमारा अच्छा मार्गदर्शक हो सकता है। हम पीछे चर्चा कर आये हैं कि चीनी लोग काम किस प्रकार दलों में बंट कर करते हैं। यदि दल बड़े हों तो वे टोलियों में बंट जाते हैं। प्रत्येक टोली अपने नेता की आधीनता में एक निश्चित क्षेत्र में काम करती है। भारत में सहकारिता की खेती का प्रबन्ध करने की विधियां हमें अपने देश की अवस्थाओं के अनुसार निकालनी होंगी। जहां कहीं उपयुक्त जंचे वहां, चीन की दलों और टोलियों में काम करने की विधि भी अपनाई जा सकती है। उसके विपरीत, यह भी हो सकता है कि जमीन जोतने, बीज बोने और फसल काटने आदि के बड़े-बड़े काम तो संस्था की ओर से किये जायं, और नलाई, गुड़ाई तथा सिचाई आदि के छोटे काम छोटी-छोटी टोलियां अथवा कुटुम्ब करें, जिससे कि व्यक्तियों का उत्साह भी बना रहे। परन्तु नौकरशाही की प्रवृत्तियों को दबाकर रखने के लिये उचित होगा कि संस्था के पदाधिकारी, प्रबन्धकर्ता और अन्य कार्यकर्ता भी कुछ न्यूनतम दिन खेत में अपने हाथ से काम अवश्य करें।

३५. सहकारिता के प्रबन्ध का एक और महत्वपूर्ण पहलू, काम का मूल्यांकन और पारिश्रमिक का देना है। भारत की वर्तमान सहकारिता-संस्थाओं में से बहुत सी केवल इसी कारण भली प्रकार नहीं चल रही कि उनका श्रम-संगठन सन्तोषकारक नहीं है। प्रायः पारिश्रमिक, दैनिक मजदूरी के आधार पर, काम के प्रकार और परिणाम का कोई भी विचार किये बिना, दे देने की प्रथा है। पारिश्रमिक की राशि का, सहकारिता के खेत की उपज के साथ सम्बन्ध होने न होने का भी प्रायः कोई विचार नहीं किया जाता। प्रायः यह होता है कि सदस्यों की संस्था के दैनिक कार्यों में कोई रुचि नहीं रहती और संस्था को हानि होने लगती है। पारिश्रमिक का दर निश्चित करते हुए दो सिद्धान्त ध्यान में रखने चाहिये। पहला तो यह कि सदस्यों को पारिश्रमिक के रूप में, संस्था का एक वर्ष या एक फसल का केवल कुछ लाभ (अर्थात् उत्पादन की समस्त राशि में से किरायों, टैक्सों और सदस्यों की मजदूरी के अतिरिक्त अन्य सब देय राशियां घटाने के बाद बची हुई रकम) बांटा जाय, और वह भी प्रत्येक सदस्य द्वारा किये हुए काम के हिसाब से। हां, सदस्यों को निर्वाह के लिये समय-समय पर कुछ पेशगी दे देना आवश्यक हो सकता है। पेशगी दी हुई रकम, संस्था के शुद्ध लाभ में सदस्यों का जो भाग निकले उसमें से मुजरा कर दी जाय। दूसरा सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक सदस्य के दैनिक काम का मूल्य आंकते हुए उसके काम की उत्कृष्टता और परिमाण दोनों का विचार कर लिया जाय। काम का मूल्य आंकने के लिये कुछ दर्जे नियत कर लेने होंगे। जहां कहीं सम्भव हो वहां, काम के हिस्सों को आंकड़े का कोई आधार बना लेने से, इस दिशा में बहुत सहायता मिलेगी। इस सम्बन्ध में चीन का अनुभव बहुत मूल्यवान सिद्ध हो सकता है। चीनियों ने विभिन्न कामों के लिये, काम के सैकड़ों 'पैमाने' बना रखे हैं। इस प्रकार वे काम में व्यक्तियों के उत्साह को भी बहुत बड़ी मात्रा में सुरक्षित रख सके हैं। भारत में हमें, 'काम के पैमाने' यहां की अवस्थाओं के अनुसार बना लेने होंगे। प्रत्युत, प्रत्येक संस्था को अपने-अपने 'पैमाने' स्वतन्त्र रूप से बनाने होंगे। हम पीछे यह सुझा आये हैं कि प्रत्येक राज्य में एक ऐसा विशेषज्ञ नियुक्त कर देना चाहिए जो कि राज्य के विभिन्न प्रदेशों

और क्षेत्रों में जाकर 'काम के पैमाने' बनाने में सहकारिताओं की सहायता किया करे। वह विभिन्न सहकारिताओं के अनु वों का समन्वय करने में भी सहायक सिद्ध हो सकेगा।

उत्पादन के कार्यक्रमों की योजना बनाना

३६. किसी सहकारिता-संस्था के रजिस्टर्ड होते ही, उसे पहला काम यह करना होगा कि वह यह अन्दाजा लगा ले कि उसे जो जमीन दी गई है उसमें क्या क्या सुधार कर सकने की सम्भावनाएं विद्यमान ह, और वह श्रम और पूंजी के किन साधनों का उपयोग कर सकती है। प्रत्येक संस्था को अपनी पंचवर्षीय योजना इस प्रकार बना लेनी चाहिये कि उसमें प्रत्येक वर्ष का लक्ष्य भी पृथक्-पृथक् दिया हुआ रहे। योजना इस अन्दाजे के आधार पर बनाई जानी चाहिए कि संस्था को श्रम और पूंजी के क्या-क्या साधन मिल सकेंगे, जिससे कि उनका उपयोग भली प्रकार किया जा सके। साधनों का अन्दाजा लगाते हुए यह देख लेना चाहिये कि कितनी पूंजी बाहर से ऋण अथवा सहायता के रूप में मिल सकेगी, उत्पादन में कितनी वृद्धि की जा सकेगी, उसका मूल्य वर्तमान बाजार-दर से क्या होगा, और जो राशि ऋण ली जायगी उसकी वापिसी कब कब कितनी किश्तों में करनी पड़ेगी, इत्यादि। योजना की परीक्षा कृषि तथा सहकारिता-विभागों के अधिकारियों से, और यदि संस्था राष्ट्रीय-विस्तार-मण्डल या सामुदायिक योजना के क्षेत्र में विद्यमान हो तो मण्डल-विकास-अधिकारी से भी, करवा लेनी चाहिए, क्योंकि स्वीकृत योजना पूर्व करने के लिए, संस्था को आवश्यक साधन, सामान और सेवाएं दिलवाने और यह देखने के लिये उत्तरदायी वही होगा कि इन सब वस्तुओं का ठीक-ठीक उपयोग हो भी रहा है या नहीं। संस्था की प्रगति पर प्रति वर्ष विचार किया जाना और यदि आवश्यकता हो तो योजना में यथोचित सुधार या परिवर्तन कर लिया जाना चाहिए। कभी-कभी वर्ष के मध्य में भी योजना में परिवर्तन-परिवर्धन करने की आवश्यकता पड़ सकती है। अति वृष्टि अथवा अनावृष्टि के कारण फसलों का क्रम बदल देने और टिड्डियों या कीड़ों-मकोड़ों का आक्रमण हो जाने पर उसका सामना करने के लिये श्रमिक-बल का तथा अन्य साधनों का क्रम-परिवर्तन कर देने की आवश्यकता पा सकती है। यह ो खास जोर देकर कहने की आवश्यकता ही नहीं कि इन योजनाओं को पूरा कर । अथवा बाद को इनमें रद्दो-बदल करने में, संस्था के सभी सदस्यों का सब समय यथाशक्ति घनिष्ठ सहयोग रहना चाहिये। यदि योजना इस प्रकार तयार और पूरी की जायगी तो कार्यकर्ता स्वयं ही समझ लेंगे कि हम किधर जा रहे और क्या काम पूरा कर रहे हैं।

३७. हम पाँचवें और आंठवें अध्यायों में बतला आये हैं कि सरकार द्वारा कृषि की सारी उपज स्वयं खरीद लेने और कीमतों की पहले से ही गारण्टी कर देने की नीति पर चलने के कारण, चीन में कृषि-सहकारिता-संस्थाओं और जापान में सहकारिताओं की इकाइयों को कितना लाभ हुआ है। हमारा विचार है कि हमारे देश में भी इन उपायों का अवलम्बन किया जाना चाहिये। और यदि इन उपायों का अवलम्बन, एकदम सब फसलों के लिये बड़ी मात्रा में न किया जा सके, तो हमारी सिफारिश यह है कि कम से कम सहकारिता-संस्थाओं की पैदावार को तो सरकार को एक न्यूनतम मूल्य पर खरीद ही लेना चाहिये, और उस न्यूनतम मूल्य की घोषणा पहले से कर देनी चाहिये। यदि सहकारिता-संस्थाओं को इस प्रकार की कोई गारण्टी न दी गई और उन्हें बाजार के उतार-चढ़ाव के भरोसे ही छोड़ दिया गया तो सम्भव है कि सहकारिताओं की योजनायें सावधानता-पूर्वक बनाई हुई और पूरी की हुई होने पर और उनके सदस्यों द्वारा कठिन परिश्रम करने पर भी वे असफल हो जायं।

३८. सम्भव है कि जो किसान मिलकर सहकारिता-संस्था में संगठित हों उनकी जमीने परस्पर जुड़ी हुई न हों। इसी प्रकार, जो पड़ती और जोत की जमीनें सरकार ने सहकारिता-संस्था को खेती के लिए दी हों वे सब एक ही स्थान पर न हों। हम पीछे, भूमि-सुधारों के प्रकरण में,

फालतू जमीनों को एकत्र करके बाँट देने का जो सुझाव दे आये हैं उसके अनुसार मिली हुई जमीनें तो छोट-छोटे टुकड़ों में बंटी हुई होंगी ही। यदि इन सब जमीनों को एक ही स्थान पर एकत्र किया जा सके तो सहकारिता-संस्था के प्रबन्ध और भूमियों के विकास का काम बहुत सरल हो जायगा। इसलिये हमारा सुझाव है कि जहाँ कहीं चक-बन्दी का काम किया जाय वहाँ, जो किसान सहकारिता-संस्थाओं में संगठित हो चुके हों या होना चाहते हों उन सबकी जमीनों और एक ही गाँव में उपलब्ध सरकारी जमीनों को, एक इकट्ठे चक में बाँध दिया जाय। इसी सम्बन्ध में, हमारा सुझाव यह भी है कि सब छोटे किसानों की जमीनों को एक-दूसरे के पास-पास इकट्ठा कर दिया जाय, और यदि वहाँ कोई सहकारिता-संस्था मौजूद हो तो इन किसानों की जमीनों को उस संस्था की जमीन के साथ लगाकर रखा जाय। इसका लाभ यह होगा कि जो छोटे किसान आरम्भ में सहकारिता की खेती से पृथक् होंगे उनमें भी सहकारिता के कार्य को बढ़ावा दिया जा सकेगा, और वे चाहेंगे तो पीछे सहकारिता में सम्मिलित हो सकेंगे। ज्यों ही यह निश्चय हो जाय कि कौन-कौन सी जमीनें फालतू हैं त्यों ही उन सबको, छोटे किसानों और सहकारिता-संस्था की जमीनों के साथ लगा कर, चकबन्दी कर देनी चाहिए। इन सुझावों पर अमल करने से, भूमि के प्रबन्ध और सुधार में तो सुविधा होगी ही, सहकारिता की खेती का विकास भी सुगमता से हो सकेगा।

३६. काम बाँटने, उसका मूल्य आँकने, और कार्यक्रमों की योजना बनाने की विधियों का निश्चय सावधानता-पूर्वक करना चाहिये। अनुभव के साथ-साथ उनमें सुधार होता जायगा। परन्तु साथ-ही-साथ, इन विधियों के विकास तथा सहकारिता-संस्थाओं के प्रबन्ध की अन्य कार-वाइयों के साथ सम्बद्ध कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करते रहने की आवश्यकता होगी। हम पीछे सुझा आये हैं कि आगामी चार वर्षों में लगभग दो लाख ग्रामीण कार्यकर्ता प्रशिक्षित करके तैयार कर देने चाहिए। उनके अतिरिक्त, सहकारिता के खेतों के लिए, मुनीम और प्रबन्धकर्ता भी पर्याप्त संख्या में प्रशिक्षित करने होंगे। आशा है कि मुनीम और प्रबन्धकर्ता, कृषि-सहकारिता-संस्थाओं के सदस्यों में से ही, मिलते चले जायंगे। जिन नवयुवकों को ग्राम-संगठनकर्ता बनने का प्रशिक्षण दिया जायगा वही, आवश्यक अतिरिक्त प्रशिक्षण प्राप्त करके, मुनीमों और प्रबन्धकर्ताओं का काम कर सकेंगे। सहकारिताओं के अन्य पदाधिकारियों को भी थोड़ा प्रशिक्षित करना पड़ेगा। प्रशिक्षण का एक क्रम-बद्ध कार्यक्रम यथाशीघ्र तैयार कर लेना उचित है। प्रशिक्षणार्थियों का यात्रा निवास, भोजन और फुटकर-खर्च का व्यय सरकार को उठाना चाहिए। प्रशिक्षणकेन्द्र, यथाशक्ति, कृषि-सहकारिता-संस्थाओं के क्षेत्रों में ही खोलने चाहिएं, जिससे कि प्रशिक्षणार्थियों को कुछ व्यावहा-रिक अनुभव भी करवाया जा सके।

४०. प्रशिक्षणार्थी नवयुवकों को चुनने और उनके प्रशिक्षण की व्यवस्था करने का कार्य, पूर्णतया, राष्ट्रीय-विस्तार-सेवाओं के साथ मिला देना चाहिए। प्रशिक्षणार्थी युवकों को, ग्राम-कार्यकर्ताओं की सलाह, सहायता और मार्ग-दर्शन से बहुत लाभ होगा, और बदले में ग्राम-कार्यकर्ता भी इन नवयुवकों से बहुत काम निकाल सकेंगे। प्रत्येक ग्राम-कार्यकर्ता का सम्बन्ध औसतन ५०० से ७०० तक परिवारों के साथ पड़ता है। यदि एक सहकारिता-संस्था में लगभग २५ कुटुम्ब सम्मिलित हुए माने जायं तो इस हिसाब से प्रत्येक ग्राम-कार्यकर्ता का व्यवहार २० से ३० तक संस्थाओं के साथ रहेगा, —वह भी देहाती जनता द्वारा उत्पादन बढ़ाने के लिये निर्वाचित प्रति-निधियों की मारफत। कृषि-सहकारिता-संस्थाओं की सहायता से ग्राम-कार्यकर्ता, भूमि-हीन परि-वारों में से भी प्रत्येक के लिए, कुछ-न-कुछ काम निकाल सकेगा। सहकारिता-संस्थायें स्थानीय विकास के कार्यों में भी भाग ले सकेंगी और गाँव के जन-बल को संगठित कर सकेंगी। यदि राष्ट्रीय विस्तार-कार्यक्रमों के कार्यकर्ता और सहकारिता-संस्थाओं के सदस्य मिलकर काम करें तो कार्य की प्रगति और गति बहुत बढ़ सकते हैं। इन सब कारणों से हमारा सुझाव है कि युवक नेताओं का चुनाव ऐसे क्षेत्रों में से करना चाहिये जिनमें कि राष्ट्रीय-विस्तार का कार्य दो वर्ष से अधिक समय से हो रहा हो। प्रदर्शन के लिये भी सहकारिता के खेत ऐसे हीं क्षेत्रों में आरम्भ करने चाहिएं।

४१. यदि ग्राम-कार्यकर्ताओं और राष्ट्रीय-विस्तार-सेवाओं तथा सामुदायिक योजनाओं के अन्य कर्मचारियों को भलीभांति यह समझा दिया जाय कि सहकारिता के मूल सिद्धान्त, आर्थिक तथा सामाजिक महत्व और प्रबन्ध की विधियाँ क्या हैं तो वे सहकारिता की खेती के कार्यों में समझ-बूझकर और बुद्धि-पूवक भाग ले सकगे। इसलिये यदि इन कायकर्ताओं को बीच-बीच में सहकारिता की खेती से सम्बद्ध कार्यों और सिद्धान्तों का प्रशिक्षण दिया जाता रहे तो वह बहुत उपयोगी होगा। अच्छा तो यह हो कि सहकारिता की खेती के प्रशिक्षण को, ग्राम-कार्यकर्ताओं और अन्य विकास-अधिकारियों के प्रशिक्षण का एक भाग ही बना दिया जाय।

४२. विभिन्न कर्मचारियों को प्रशिक्षित करने का उत्तरदायित्व स्वभावत: राज्यों की सरकारों को उठाना पड़ेगा। प्रत्येक प्रशिक्षणकेन्द्र में प्राय: तीन शिक्षकों की आवश्यकता पड़ेगी। सहकारिता की खती के प्रशिक्षित शिक्षक तुरन्त नहीं मिल सकेंगे। इस कारण उनके प्रशिक्षण पर सबसे पहले ध्यान दिया जाना चाहिये। उनके प्रशिक्षण का विस्तृत कार्यक्रम, केन्द्रीय सहकारिता-प्रशिक्षण-समिति की सलाह से बनाया जा सकता है। अच्छा हो यदि भारत-सरकार ही, इन शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये आरम्भ में आधा दर्जन भर प्रादेशिक प्रशिक्षण-केन्द्र खोल दे। इन केन्द्रों का उपयोग, राष्ट्रीय-विस्तार-सेवाओं के क्षत्रीय कार्यकर्ताओं और राज्यों के अन्य उच्च अधिकारियों को भी, सहकारिता की खती के सिद्धान्त तथा कार्य आदि सिखाने के लिये किया जा सकता है। ये प्रशिक्षण-केन्द्र ऐसे स्थानों में खोलने चाहिए जहाँ कि सहकारिता-संस्थाएं पहले से सफलता पूर्वक चल रही हों।

४३. इन छहों प्रादेशिक प्रशिक्षण-केन्द्रों के संचालन का समस्त व्यय भारत सरकार को स्वयं उठाना चाहिए। जो प्रशिक्षण-केन्द्र राज्य-सरकारें खोलें उनका २५ प्रतिशत व्यय तो उन्हें स्वयं, और शेष ७५ प्रतिशत भारत-सरकार को उठाना चाहिये। इन केन्द्रों के व्यय में, शिक्षकों का वेतन तथा भत्ता, दफ्तर का खर्च, और प्रशिक्षणार्थियों के निवास, भोजन तथा भत्तों का व्यय भी, सम्मिलित होगा।

४४. सहकारिता की खेती और उसके कार्यक्रम में, अभी तक नेताओं और किसानों में से किसी ने भी, भली प्रकार रुचि प्रकट नहीं की है, इसलिए हमारा सुझाव है कि इस विषय पर, संसद्, राज्य-विधानमण्डलों, विश्वविद्यालयों, स्थानीय निकायों, पंचायतों, सहकारिता-संस्थाओं और किसान-संघों आदि सभी महत्वपूर्ण सार्वजनिक संस्थाओं को, खुल कर वादविवाद और विचार-विनिमय करना चाहिए, जिससे कि इसके मूल प्रश्नों की ओर सबका ध्यान आकृष्ट हो सके। इन वाद-विवादों का लाभ यह होगा कि इस विषय पर विचार और चर्चा होने में और इसके कार्यक्रमों की सफलता-पूर्वक पूर्ति के लिये अनुकूल वातावरण उत्पन्न होने में सहायता मिल जायगी। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में कार्य करने वाले विभिन्न गैर-सरकारी संगठनों का सहयोग भी इस कार्यक्रम को आगे बढ़ाने में मिल सकेगा। लोक-मत को जागृत करने के लिये रेडियो, सिनेमा और समाचार-पत्रों का भी उपयोग किया जा सकता है। आल-इण्डिया-रेडियो के देहाती और साधारण कार्यक्रमों में, वार्ताओं, नाटकों और रूपकों आदि की मालाएं आरम्भ की जा सकती हैं। सरकारी सूचना-विभाग, सफल सहकारिता-संस्थाओं की कहानियों का प्रचार कर सकते और उनके विषय में सरल तथा आकर्षक पत्रक भी प्रकाशित कर सकते हैं। चुने हुए स्थानों पर गोष्ठियों का संगठन करके, उनमें सहकारिता की खेती के लाभों और उसकी समस्याओं पर, मनोरंजक वाद-विवादों का भी आयोजन किया जा सकता है।

सरकारी सहायता

४५. कृषि-सहकारिता-संस्थाओं में से कइयों की मन्द प्रगति का एक बड़ा कारण यह बतलाया जाता है कि उन्हें समय पर पर्याप्त वित्तीय सहायता नहीं मिल पायी। इसके विपरीत, हम कुछ संस्थाओं के ऐसे भी उदाहरण जानते हैं कि उन्हें अत्यधिक सहायता मिल जाने के कारण

उनमें कुप्रबन्ध होने लग गया। दोनों प्रकार की अति से बच कर चलना उचित है। हमारा मत है कि कृषि-सहकारिता-संस्थाओं को बहुत बड़ी-बड़ी आर्थिक सहायतायें, विशेष रियायतें अथवा अन्धाधन्ध ऋण नहीं देने चाहिये। परन्तु साथ ही सरकार को यह ध्यान रखना चाहिये कि इन संस्थाओं को उतनी सहायता अवश्य मिल जाए जितनी कि किसानों को, अथवा ऋण देने, माल बेचने, सिंचाई के लिये पानी ऊंचा उठाने या लघु उद्योग चलाने आदि के कार्य करने वाली अन्य कृषि अथवा औद्योगिक सहकारिता-संस्थाओं को दी जाती है, क्योंकि ये सहकारिता-संस्थाएं प्रायः ये सभी काम करती हैं। वर्तमान अवस्था राज्य-राज्य में भिन्न-भिन्न है। कुछ राज्यों में तो इन संस्थाओं को खासी सहायता मिल जाती है, और कुछ में इन्हें नाना कठिनाइयों में उलझे रहना पड़ता है। एक राज्य में तो इन संस्थाओं को तकावी कर्ज तक नहीं मिल सकता। केन्द्रीय-सहकारिता और छोटे बैंक तक इन संस्थाओं की वित्तीय सहायता करने में झिझकते हैं। कुछ राज्यों में खेती करने वाली सहकारिता-संस्थाओं से कृषिका आय-कर तक वसूल किया जा सकने का नियम है। इससे उन छोटे किसानों के लिये एक बड़ी बाधा खड़ी हो जाती है जिन्हें व्यक्तिशः तो यह कर न देना पड़ता, परन्तु इन संस्थाओं का सदस्य बन जाने के कारण उन्हें भी यह बोझ ढोना पड़ने लगता है। इन और इसी प्रकार की अन्य बाधाओं को दूर कर देना चाहिए। हम सिफारिश करते हैं कि खेती करने वाली सहकारिता-संस्थाओं पर भी सरकार की भागीदरी का सिद्धान्त लागू कर देना चाहिए, जिससे कि ऋण देने और माल बेचने वाली आदि बड़ी सहकारिता-संस्थाओं को "नैशनल को-आपरेटिव डिवलपमेण्ट ऐण्ड वेयरहाउसिंग बोर्ड" जो सुविधायें देता है वे इन्हें भी मिलने लगें। परन्तु इसका अभिप्राय, सहायता देते हुए नियमों का अति कठोरता से लागू करना नहीं होना चाहिए, प्रत्युत बोर्ड को स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि वह इन संस्थाओं के साथ व्यवहार से प्राप्त अनुभव के आधार पर, इन्हें सहायता देने के लिये उपयुक्त सिद्धान्त स्थिर कर ले। हम पीछे सुझा आये हैं कि राज्यों के प्रशिक्षण-केन्द्र चलाने का व्यय भी, केन्द्र और राज्यों की सरकारों को ३ और १ के अनुपात में मिलकर उठाना चाहिये। उसके अतिरिक्त, राज्यों में विशेष अधिकारी रखने और खेती की सहकारिता-संस्थाओं को बढ़ावा देने के लिए जो व्यय राज्य सरकारों को करना पड़े उसे भी, केन्द्र और राज्य-सरकारों को मिल कर आधा-आधा उठाना चाहिए।

४६. इस प्रतिवेदन को समाप्त करते हुए, यह बात हम फिर खास जोर देकर कह देना चाहते हैं कि कुटुम्बों की खेती को सहकारिता की खेती में परिणत कर देने का कार्य सरल नहीं है। संसदीय पद्धति के शासन वाले देशों में यह कार्य, कम्युनिस्ट देशों की अपेक्षा, विशेष कठिन है। जब हमने यह चर्चा की थी कि कौटुम्बिक खेती में उत्पादन बढ़ाते हुए फलां-फलां कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, तब हमारा अभिप्राय यह नहीं था कि सेवा-सहकारिता-संस्थाएं कौटुम्बिक खेती की जो सहायता कर सकती हैं उसे भी हम घटाकर प्रकट करें। हमारे सामने यह बात सर्वथा स्पष्ट है कि कम से कम आगामी कुछ वर्षों में, हमारे देश में, सब मिलाकर खेती का साधारण रूप कौटुम्बिक खेती का ही रहेगा। इस कारण सेवा-सहकारिताओं को, ऋण देकर, साधन-सामग्री का वितरण करके, बाजार में माल खपाकर और कच्चे माल का तैयार माल बनवा कर, भूमि की अर्थ-व्यवस्था में अति महत्वपूर्ण भाग लेना पड़ेगा। सहकारिता की खेती बढ़ाते रहने का पूरा प्रयत्न करने के साथ-ही-साथ, यह ध्यान भी रखना पड़ेगा कि सब प्रकार की सेवा-सहकारिताएं संगठित करते जाने के प्रयत्नों में शिथिलता तनिक भी न आने दी जाए। अपितु सत्य तो यह है और इसे हम आज भी देख सकते हैं, कि जिस प्रकार आज सेवा-सहकारिताएं, कौटुम्बिक खेती की नाना प्रकार सहायता कर रही है उसी प्रकार वे आगे चलकर सहकारिता की खेती की सहायता और सेवा करने के लिये आवश्यक होंगी। इन सेवा-सहकारिताओं में और अन्य देहाती संस्थाओं में काम करने से, किसानों को सहकारिता-पूर्वक प्रबन्ध करने और लोकतन्त्री प्रणाली से काम करने का अनुभव हो जायगा। जब वे सहकारिता के खेतों का संगटन स्वयं करेंगे तब यह अनुभव उनके बहुप काम आएगा।

परिशिष्ट

फालतू जमीन का अन्दाजा और उसका उपयोग प्रकट करने वाला विवरण

खाता	मद्रास	आन्ध्र	पंजाब	बम्बई	मध्यप्रदेश
फालतू जमीनें					
१. कितना बड़ा खेत एक कुटुम्ब के लिये पर्याप्त माना जा सकता है (एकड़ों में परिमाण) . .	७.५	७.५	१५.०	१५.०	१५.०
२. इस परिमाण से बड़े खेतों की संख्या (लाखों में)	६.७	५.७	२.५	७.६	५.३
३. उक्त परिमाण के खेतों की जमीन का क्षेत्रफल (लाख एकड़ों में) .	७५	७१	३३	१३१	१०३
आवश्यकताएं					
१. एक कुटुम्ब की आवश्यकता पूरी करने के लिये खेत न्यूनतम कितना बड़ा होना चाहिए . .	२.५	२.५	५.०	५.०	५.०
२ इस न्यूनतम से भी छोटे परिमाण के खेतों की संख्या (लाखों में) .	२४	२२	३	२३	१०
३. न्यूनतम से भी छोटे खेतों की जमीन का क्षेत्रफल (लाख एकड़ों में) .	२७	२५	७	४७	२६
४. सब किसान कुटुम्बों को न्यूनतम परिमाण के खेतों का मालिक बनाने के लिये आवश्यक अतिरिक्त जमीन का परिमाण (लाख एकड़ों में) .	३३	३१	१०	६६	२७
५. बे-जमीन किसान कुटुम्बों की संख्या (लाखों में) . .	१४.५	६.३	२.२	५.२	६.४
६. उन्हें बसाने के लिये आवश्यक जमीन (लाख एकड़ों में) . .	३६	२३	११	२६	४७
समस्त आवश्यक जमीन का क्षेत्रफल (नं० ४ और ६ का योग) .	६६	५४	२१	६५	७४

खण्ड ५

सार और सिफारिशे

बारहवां अध्याय

सारांश और सिफारिशें

चीन

१९५१ में चीन में बहुत कम कृषि-सहकारिता-संस्थाय थीं । परन्तु जुलाई १९५६ में जब हम वहाँ गयें थे तब चीन लोग अपने देहातों के ९२ प्रतिशत कुटुबों को लगभग दस लाख कृषि-सहकारिता संस्थाओं में संगठित कर चुके थे, और इन संस्थाओं को दृढ़ तथा उन्नत बनाने का कार्य चल रहा था। ३० प्रतिशत से ऊपर कुटुम्ब तो आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं के सदस्य थे, और ६२ प्रतिशत उन्नत सहकारिता-संस्थाओं के । इन दोनों में अन्तर यह है कि प्रथम प्रकार की (आरम्भिक) सहकारितामें तो सदस्य अपनी अपनी जमीन के मालिक स्वयं बने रहते हैं और सदस्यों को लाभांश बाँटते हुए भूमि के स्वामित्व और श्रम, दोनों प्रकार का लाभांश बाँटा जाता है, और दूसरी प्रकार की सहकारिता में वैयक्तिक स्वामित्व सहकारिता संस्था के अर्पित कर दिया जाता है और लाभांश केवल श्रम के हिसाब से बाँटा जाता है ।

२. हम चीन में दो महीने तक रहे और इस अवधी में हमने चीन के अनेक भागों में सब मिलाकर १९ सहकारिता-संस्थायें देखीं । हमें निश्चय है कि हमारी यात्रा चीनियों द्वारा पहले से नियोजित नहीं थी, और हमें चीन में सहकारिता-संस्थाओं के अच्छे, बुरे और औसत, सब प्रकार के नमूने देखनेको मिल गये । हमारे पास इतना समय नहीं था कि हम सहकारिताओं का दिन प्रति दिन का कार्य देख सकते, और बिना यह देखे यह स्पष्टतया ज्ञात नहीं हो सकता कि सदस्यों और प्रबंधकर्ताओं के पारस्पारिक संबंध कैसे हैं । फिर भी हमने जितना कुछ देखा उतने से हमारा विचार यह बना है कि चीनियों ने अपने यहाँ सहकारिता-पूर्वक कार्य करने की दृड़ नींव डाल ली है, और सहकारिता-संस्थाओं के सदस्यों में एकता तथा सहयोग की भावना विद्यमान है ।

३. हमने जो सहकारिताएं देखीं उनमें सदस्यों द्वारा परस्पर एकत्र की हुई भूमि का परिमाण ६० से ६००० एकड़ तक था। प्रति सदस्य-कुटुम्ब की भूमि का नाप १.२ एकड़ से २.५ एकड़ तक था । हमारी देखी हुई १९ में से १८ सहकारिता-संस्थाओं ने अपना समस्त तथा प्रति इकाई उत्पादन बढ़ा लेने में सफलता प्राप्त कर ली थी । उस वृद्धि के कुछ प्रधान कारण ये थे :—

१. सिंचाई की सुविधाओं में वृद्धि,

२. भूमि का सुधार और पुनरुद्धार करने का कार्य,

३. अच्छे बीजों का प्रयोग,

४. खादों और रसायनिक उर्बरकों का घना प्रयोग, और

५. खेती करने की अच्छी विधियों का प्रयोग ।

सिंचाई के साधनों का विकास करके, पानी निकालने के लिये भाप के इंजन लगा दिये गये थे । केवल १९५५-५६ में इतने अतिरिक्त क्षेत्र में सिंचाई होने लगी थी कि उससे पूर्व के चार वर्षों में मिलकर भी उतने क्षेत्र में नहीं हुई थी । भुमि के सुधार और पुनरुद्धार के ऐसे कार्यक्रम पूरे कर डाले गये थे जिन्हें करने के लिये मिलकर काम करना आवश्यक था । उनमें से कईयों के कारण अन्य खेतों और उनके मालिकों के अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव भी पड़ा था । सहकारिता-संस्थाओं को खाद एकत्र करने के लिये विशेष दल तैनात करने में सफलता हुई थी, और इस कारण उपलब्ध खाद की मात्रा बहुत बढ गयी थी । ऐसे बढिया हलों और फसल काटने के यंत्रों का प्रयोग किया जाने लगा था कि उनसे काम लेने के लिए पहले से अच्छे पशुओं की आवश्यकता पडती थी, परन्तु वे काम

भी अधिक बड़े क्षेत्र में और एक साथ कर देते थे। इन सुधारों को करनें और खेती को बढ़ाने के लिए देश की सारी श्रमिक शक्ति का उपयोग कर लिया गया था। यदि सारी ज़मीन और श्रमिक शक्ति को सामुदायिक प्रबन्ध की अाधीनता में एकत्र न कर दिया जाता तो शायद यह सब काम सम्पन्न न हो सकता। इस लिए हमारा ख्याल है कि जहाँ उत्पादन में कुछ वृद्धि, देश की आन्तरिक अवस्थाओं में तथा मूल्यों में स्थिरता और सरकार द्वारा उदारता-पूर्वक ऋण दिये जाने के कारण हुई होगी, वहाँ उसका बड़ा भाग सहकारिता-संस्थाओं के बिना पूरा नहीं हो सकता था। इसी प्रसंग में यह भी ज़िक्र कर देना उचित होगा कि "मुक्ति" से पूर्व तक चीन अपनी अपनी अन्य की आवश्यकताओं में स्वावलम्बी नहीं था, उसे प्रतिवर्ष २० लाख टन तक अन्य विदेशों से मगाना पड़ता था। वह कपास का आयात भी बड़ी मात्रा में किया करता था। अब वह अन्न का तो थोड़ी मात्रामें निर्यात भी कर देता है। और कपास में सर्वथा स्वावलम्बी हो गया है। हमें लोग भूखे मरते या पुष्टि-रहित भोजन करते कहीं दिखाई नहीं दिये, वे सुखी और संतुष्ट जान पड़ते थे। हमारा ख्याल है कि सहकारिता-संस्थाओं के कारण उत्पादन में वृद्धि तो हुई ही है, उनके सदस्य भी बिना किसी प्रकार की झिझक या संकोच के उत्साह-पूर्वक काम करते हैं।

४. चीन में सहकारिता-संस्थाओं की सफलता का कारण जनता का प्रयत्न तो है ही, उन्हें सरकार और कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा सहायता का मिलना भी है। उन्होंने काम का मूल्य आंकने के लिए काम के पैमानों की एक प्रणाली निकाली है। उससे खेती में प्रत्येक सदस्य के काम के प्रकार और परिणाम को ठीक ठीक आंका जा सकता है, और इसी कारण व्यक्तिओं और टोलिओं का उत्साह भी सुरक्षित रहता है। प्रत्येक सहकारिता के 'काम के पैमाने' अपने अपने हैं। उन्हें औसत मजदूर के औसत काम और अनुभव के आधार पर तय किया गया है। प्रत्येक मज़दूर प्रतिदिन जो काम करता है उसे उसके 'अंक' दे दिये जाते हैं। दस 'अंकों' से मिलकर 'काम का एक दिन' बनता है। प्रत्येक फ़सल के अन्त में उत्पादन का मूल्य आंककर और उसमें से उत्पादन का व्यय घटाकर, शुद्धलाभ सब सदस्यों में उनके 'काम के दिनों', के हिसाब से बांट दिया जाता हैं। सहकारिता के खेत पर काम करने के अतिरिक्त, प्रत्येक सदस्य अपनी फल-सब्ज़ी की क्यारी भी बोता है। उसमें वह जो चाहे सो उगा सकता है। यह क्यारी उसके घर के साथ लगी हुई या गांव में ही कहीं होती हैं।

५. प्रत्येक सहकारिता-संस्था का एक अध्यक्ष, कई उपाध्यक्ष, एक मुनीम और एक प्रबन्ध-समिति होती हैं। अध्यक्ष और उपाध्यक्षों में से एक अवश्य स्त्री ही होती है। हम सहकारिता-संस्थाओं के नेताओं से बहुत प्रभावित हुए थे, क्योंकि वे अपना काम, सदस्यों को समझा-बुझाकर और उन्हें अपनी बात का पक्षपाती बनाकर, निकालते थे; हुकूमत के ज़ोर पर नहीं। हमने देखा कि अधिकतर नेता बीस और चालीस वर्ष के बीच की आयु के युवक या युवतियां थे। सहकारिता के सदस्य एक निरीक्षक समिति का भी निर्वाचन करते हैं, जो कि प्रबन्ध-समिति से पृथक होती है। काम करने के लिये सदस्यों को उत्पादक-दलों में बांट दिया जाता है, और यही दल श्रमिक-संगठन की आधार-भूत इकाइयों का काम देते हैं। इनका एक लाभ यह भी होता है कि इनके द्वारा काम में सदस्यों द्वारा भाग अवश्य लेने का निश्चय हो जाता है और संस्था का संचालन लोकतन्त्री प्रणाली पर होता रहता है। यदि दल बहुत बड़ा हो तो उसे कई टोलियों में बांट दिया जाता है। दल या टोली के नेता की नियुक्ति, सदस्यों की सहमति से, प्रबन्ध-समिति करती है, और उत्पादन का लक्ष्य पुरा करने के लिये उत्तरदायी वही होता है। यह देखने की ज़िम्मेदारी भी दल के नेता की ही होती है कि दल के प्रत्येक सदस्य को उसके योग्य काम दिया जाय। संस्था के काम में नौकरशाही प्रवृत्तियों न घुसने पावें, यह सावधानता रखने के लिये, संस्था के प्रत्येक पदाधिकारी के लिये भी कुछ न्यूनतम नियत दिन खेती का काम हाथ से करने का नियम रक्खा गया है। उसका जो समय निरीक्षण तथा प्रबन्ध करने में लग जाता है उसके लिये उसे पारिश्रमिक की अतिरिक्त इकाइयां दे दी जाती हैं। परन्तु उसकी कमाई प्राय: सबसे अच्छा काम करने वालों से अधिक नहीं हो पाती। नमूने के नियमों में लिखा है कि आरम्भिक सहकारिता संस्थाओं का प्रबन्ध-व्यय, उनके समस्त वार्षिक उत्पादन के मूल्य के एक प्रतिशत से, और उन्नत सहकारिता-संस्थाओं का प्रबन्ध-व्यय आधा प्रतिशत से अधिक नहीं बढ़ना चाहिये।

६. प्रत्येक सहकारिता-संस्था एक योजना अपने वार्षिक कार्य की और दूसरी ३ से ५ वर्ष तक के कार्य की बनाती है। इस योजना में सहकारिता-संस्था के क्षेत्रीय विस्तार, काम में लिये जाने वाले श्रमिकों की संस्था, और वित्त तथा साधन-सामग्री की आवश्यकता आदि का विवरण दिया रहता है। योजना में सदस्यों और संस्था, दोनों को, बतला दिया जाता है कि उन्हें बरस में कितने दिन काम मिल सकेगा।प्रत्येक संस्था का लक्ष्य यह रहता है कि वह अपने कम से कम ६० प्रतिशत सदस्यों की आय में प्रतिवर्ष कुछ न कुछ वृद्धि करती चली जाय। सरकार सहकारिता-संस्थाओं को अपने कार्यक्रम पुरे करने के लिये ऋण उदारतापूर्वक देती है। अकेले १९५६ में ६४० करोड़ रू०ऋण देने की योजना बनायी गयी थी और जब हम वहां गये थ तब तक उक्त राशि में ५६० करोड़ रू० दिये भी जा चुके थे। सरकार खेती की पदावार के मूल्यों की चोषणा, बुवाई से पहले ही कर देती है। इसका लाभ यह होता ह कि सहकारिता-संस्थाएं उत्पादन की अपनी योजना दृढ़ आधार पर बना सकती हैं। सहकारिता-संस्थाओं को उत्पादन की साधन-सामग्री और दैनिक जीवन की आवश्यकता का सामान भी निश्चित मूल्य पर दिया जाता है। सरकार यत्न करती है कि खेती की पैदावार और उत्पादन के साधनों तथा उपभोज्य पदार्थों के मूल्यों में सन्तुलन बना रहे, उनमें बहुत अन्तर न हो जाय।

७. चीन की सफलताओं का एक बड़ा कारण वहां किये हुये भूमि-सुधार भी हैं। इन सुधारों के अनुसार, ज़मींदार अथवा जागीरदारी की भूमि-व्यवस्था सर्वथा समाप्त कर दी गयी, जो भी कोई स्वयं खेती करना चाहता था उसे ज़मीन दे दी गयी, और बड़ा से बड़ा खेत भी औसत खेत के दुगने से अधिक बड़ा नहीं रहने दिया गया। परन्तु भूमि-सुधार करने का उद्देश्य को केवल एक नये और आवश्यक वातावरण की सृष्टि करना था। यदि सरकार और कम्यूनिस्ट पार्टी की नीति सहकारिता-संस्थाएं बनाने की और उन्हें बढ़ावा देने की न होती, तो ये नहीं बन सकती थीं। पहले पहले सहकारिता-संस्थाओं में सम्मिलित, केवल किसान-संघों और कम्यूनिस्ट पार्टी के उत्साही सदस्य हुए थे। ग्रामों में भूमि विवरण का कार्य भी इन्हीं लोगों ने किया था। कुछ समय तक इन संस्थाओं के कार्य का प्रदर्शन हो चुकने पर, सहकारिता-संस्थाएं संगठित करने का आन्दोलन छेड़ा गया और किसान-कुटुम्ब बड़ी संख्या में उनमें सम्मिलित हो गये। वैसा करने में उनका प्रयोजन अपनी खेती की पैदावार में वृद्धि करना और अपने जीवन के स्तर को ऊंचा उठाना तो था ही, अपने देश की औद्योगिक उन्नति करना और समाजवाद का विकास करना भी था। प्रथम प्रयोजन वयक्तिक स्वार्थ और द्वितीय देशभक्ति-पुर्ण था। यह आन्दोलन सफल होने में देर-नहीं लगी, क्योंकि उसी समय राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था के अन्य अनेक महत्वपूर्ण विभागों में भी समाजवादी क्रान्ति हो रही थी।

८. हमारा ख्याल है कि अधिकतर किसान सहकारिता-संस्थाओं में स्वेच्छा-पूर्वक ही सम्मिलित हुए हैं। नमूने के नियमों में लिखा है कि जो किसान सहकारिता-संस्थाओं में समिलित न हों उनके साथ व्यवहार करते हुए कभी भी दवाब या ज़ोर-ज़बर्दस्ती से काम नहीं लेना चाहिये। सत्य तो यह है कि सहकारिता-संस्थाओं में सम्मिलित होना एक प्रकार विशेषाधिकार माना जाने लगा था, और इस कारण उसका नियन्त्रण करना पड़ गया था। शुरू शुरू में, ज़मींदारों और सम्पन्न किसानों को सहकारिताओं में सम्मिलित नहीं किया जाता था। केवल गरीब और मध्य-वित्त किसानों को यह अधिकार दिया गया था। वाद को जब सहकारिताओं की जड़ जम गयी तब ज़मीदारों और संपन्न किसानों को भी भावी सदस्य (उम्मीदवार) के रूप में उनमें सम्मिलित किया जाने लगा। हमें किसानों में दवाब, विवशता या असहायता की कोई भावना दिखाई नहीं पड़ी। इसके विपरीत, सहकारिताओं के सदस्यों में उत्साह बहुतेरा दिखलाई दिया और उसका कृषि की शीघ्र उन्नति करने के लिए पूरा उपयोग किया गया था। यदि सदस्य बिना किसी झिजक या संकोच के उत्साह-पूर्वक काम न करते तो सहकारितायें उत्पादन की वृद्धि करने में सफल न हो सकतीं। हमने देखा कि देहातों में क्रान्ति मच रही थी। उसकी प्रेरक शक्ति लोगों का भय नहीं, प्रत्युत उनका मानसिक जोश और उबाल था, और वह सरकार के प्रयत्नों का परिणाम नहीं हो सकता था।

जापान

९. जापान में सेवा सहकारिता-संस्थाओं का कार्य अच्छी सुविकसित दशा में है। ९५ प्रतिशत से अधिक किसान-परिवार सहकारिता-संस्थाओं के सदस्य हैं, और देश की समस्त कृषिपूंजी

का ३९ प्रतिशत भाग यही संस्थाएं देती हैं इसकी तुलना में, किसानों की ६५ प्रतिशत बचत इन संस्थाओं के पास जमा रहती है। किसानों की निजी आवश्यकता से बचे हुए चावल का ६५ प्रतिशत और गेंहू तथा जौं का ८५ प्रतिशत, बाजार में सहकारिता-संस्थाओं द्वारा बेचा जाता है। परन्तु जापान में कृषि-सहकारिता-संस्थाएं नहीं हैं। जापान का वातावरण ही इन सहकारिताओं का विकास करने के लिये अनुकूल नहीं है। चीन के विपरीत, जापान की अर्थ-व्यवस्था का आधार व्यक्तियों का निजी प्रयत्न और स्वतन्त्र व्यापार-व्यवसाय है। कृषि-सहकारिताओं के विकास का एक प्रबल प्रेरक कारण, समाजवाद की दिशा में प्रगति करने की अभिलाशा होता है, और उसका जापान के किसानों में अभाव है।

१०. औद्योगिक प्रगति में जापान का स्थान पुर्वी देशों में सर्वप्रथम है। फिर भी वहां औसत किसान के पास खेती की ज़मीन उतनी ही है जितनी चीन में, बल्कि चीन से भी कुछ कम ही है। जब जापान अपने आर्थिक विकास की चोटी पर पहुंचा हुआ था तब भी वह लोगों को कृषि से हटाकर उद्योग-व्यवसायों में लगाने में सफल नहीं हुआ था। ज़मीन पर किसानों का बोझ बढ़ने से रोकने और उसे जहां का तहां स्थिर करने में भी जापान को ५० वर्ष लग गये थे। १९२० के पश्चात् जापान को केवल इतनी सफलता हुई है कि उसकी आबादी में जितनी वृद्धि होती है उतनी सब कृषि के अतिरिक्त अन्य उद्योगों में खप जाती है, और आबादी की वृद्धि के कारण ज़मीन पर बोझ नहीं बढ़ता। इससे अधिक सफलता जापान को भी नहीं हुई। जापान के अधिकतर खेत अब भी छोटे-छोटे ही हैं।

११. जापान में छोटे किसान की हालत खराब है। उसे खेती से पूरे समय का रोजगार नहीं मिलता, इस कारण उसे अपना आधे से अधिक समय खेत से बाहर बिताना पड़ता है। किसानों के इस वर्ग में, अपना खेत घर की स्त्रियों पर छोड़कर व्यापार या व्यवसाय के रोजगार की तलाश में बाहर चले जाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है, और ऐसा रोजगार प्रायः गाँव से बाहर ही मिलता है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि सेवा-सहकारिता-संस्थाओं से सब प्रकार की सहायता मिलने के बावजूद, छोटा किसान धीरे-धीरे किसानी छोड़ता जा रहा है। अपनी जमीन बेचने की प्रार्थना करने वालों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही है। यदि कोरिया के युद्ध के कारण जापान की अर्थ-व्यवस्था को अकस्मात् ही सहारा न लग जाता तो अवस्थाएं और भी बुरी हो जातीं। इस स्थिति में कृषि-सहकारिता संस्थायें अधिक सहायक सिद्ध हो सकती थीं परन्तु जापान की कृषि पहले से ही सुविकसित होने के कारण, सहकारिताओं द्वारा संगठित श्रमिकों को भी, जमीन पर थोड़ा ही काम मिल पाता।

१२. जापान में चावल का भाव बहुत महंगा है—लगभग ३३ रु० प्रति मन। इस कारण, सरकार भारी व्यय उठाकर देश में महंगा चावल उपजाने की अपेक्षा विदेशों से सस्ता चावल मंगाना पसन्द करती है। उसका विचार है कि उतनी ही पुँजी व्यापार अथवा उद्योग में लगा देने से, कृषि की अपेक्षा, अधिक लाभ की प्राप्ति हो सकेगी। भारत की समस्या मूलतः इससे भिन्न है। यहाँ खेती से अधिक उपज लेने की विधियों का प्रयोग करके, उत्पादन बढ़ा लेने की गुंजायश बहुत है। बहुतसा प्रदेश यहाँ अभी अविकसित अवस्था में पढ़ा है। भूमि का पुनरुद्धार करने की भी बहुत गूंजायश है। जापान के विपरीत हम कुछ माल का निर्यात करके बदले में अपने औद्योगिक विस्तार के लिये विदेशों से मशीनें भी मंगा सकेंगे।

भारत

१३. यद्यपि प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में सहकारिता की खेती का विकास करने पर बहुत जोर दिया गया था, परन्तु अधिकतर राज्यों में अभी तक इसके लिये बहुत ही कम काम किया गया है। इसका कारण यह है कि हमारे नेताओं और शासकों ने अभी तक यह पूरी तरह समझा और अनुभव ही नहीं किया कि भूमि की अर्थ-व्यवस्था और देहातों की व्यवस्था सुधारने के लिए सहकारिता की खेती का महत्व कितना अधिक है। प्रभावशाली लोगों तक ने

इस कार्यक्रम की उपयोगिता और व्यवहार्यता के विषय में भारी सन्देह प्रकट किया है। इसलिये हम आगामी पैराओं में यह बतलाना चाहते हैं कि हम आर्थिक और सामाजिक दृष्टियों से सहकारिता की खेती को इतना आवश्यक क्यों समझते हैं।

१४. यह तो सभी मानते हैं कि हमारे देश में जमीन पर बोझ अत्यधिक है, अर्थात् केवल जमीन के आसरे आजीविका कमाने वालों की संख्या बहुत भारी है। यह भी स्पष्ट से स्पष्टतर होता जा रहा है कि निकट भविष्य में यह बोझ घटने की सम्भावना प्रायः बिल्कुल नहीं है। प्रत्युत, द्वितीय पंचवर्षीय योजना के कार्यक्रमों से आजीविका कमाने के जो नये अवसर मिल सकेंगे उनका हिसाब देखने से पता चलता है कि द्वितीय योजना के अन्त में, अपनी आजीविका के लिये कृषि पर आश्रित रहने वाले व्यक्तियों की संख्या में दस बीस लाख की वृद्धि ही हो जायगी। इस समय हम कृषि के अतिरिक्त अन्य उद्योगों और व्यवसायों से जितने आदमियों को आजीविका मिल सकने की कल्पना कर रहे हैं, यदि उतनों से अधिक को आजीविका मिल जाय तो भी अपने काम तथा निर्वाह के लिये केवल खेती का भरोसा करने वालों की संख्या में वृद्धि को टाला नहीं जा सकेगा। इस प्रवृत्ति को रोकने में अभी बहुत समय लगेगा। जापान के अनुभव से भी इस विचार का समर्थन होता है। और उसका जिक्र हम पीछे कर चुके हैं।

१५. जमीन के आसरे रहने वाले लोगों की भारी भीड़ के कारण जो समस्यायें हमारे सामने खड़ी हैं, उन्हें भूमि-वितरण की और खेतों के परिमाण की असमानताओं ने और भी बढ़ा रखा है। कृषि-श्रमिक-जाँच के प्रसंग में जो जानकारी एकत्र की गयी थी उससे पता चला था कि हमारे देश में कृषि की समस्त भूमि के एक-तिहाई से भी अधिक भाग पर खेती करने वालों की संख्या सब कृषि-जीवियों के पाँच प्रतिशत से भी कम है। इसके विपरीत, दो-तिहाई से अधिक कृषि-जीवी, कृषि की समस्त भूमि के १५ प्रतिशत से भी छोटे भाग में भिचकर समाये हुए हैं। लगभग १६ प्रतिशत कृषि-जीवियों के पास भूमि बिल्कुल ही नहीं है। ४८ प्रतिशत किसानों में से प्रत्येक के पास पाँच पाँच एकड़ से भी कम भूमि है और उन्हें अपने निर्वाह के लिये खेतों में मजदूरी भी करनी पड़ती है। कृषि जीवी आबादी में से अन्दाजन ४० प्रतिशत (अर्थात् देश की सारी देहाती आबादी के ३० प्रतिशत) लोग ऐसे हैं जिन्हें अपना निर्वाह अंशतः या पूर्णतः मजदूरी से ही करना पड़ता है। तिस पर उन्हें मजदूरी वर्ष-भर मिलती भी नहीं।

१६. एक ओर तो जमीन के आसरे रहने वाली आबादी का इतना बड़ा भाग आधा बेकार रहता है, और दूसरी ओर बड़ा भारी करने का काम अनकिया पड़ा है। इस समय सरकारी या निजी साधनों से कृषि की समस्त भूमि के पाँचवे से भी कम भाग में सिचाई हो पाती है। कुएं, तालाब और बांध आदि बनाकर सिचाई बढ़ाने की बड़ी गुंजायश है। बहुत-से पुराने तालाब मरम्मत करने के लिये पड़े हैं। आर्द्रता (नमी) को सुरक्षित रखने के लिए बाँध बनाने की जरूरत है। जमीन कट जाने के कारण बहुत-से बड़े-बड़े इलाकों में खेती होना बन्द हो गया है। वहाँ की भूमि का पुनरुद्धार करने की आवश्यकता है। कई स्थानों पर भूमि का कटाव रोकने की आवश्यकता है कई जगह पानी जमीन में भर जाता है, वहाँ पानी निकालने के लिये नालियाँ बनायी जानी चाहिए। इनमें से अधिकतर काम ऐसे है जो बहुत-से लोग मिलकर ही कर सकते हैं। उन्हें करने के लिये प्रायः केवल श्रम-विनियोग की आवश्यकता है। श्रम का अधिक उपयोग करके उत्पादन में भी बहुतेरी वृद्धि की जा सकती है। ये सब सुधार या खेती में वृद्धि अब तक क्यों नहीं की गयी? हमारे देश के दो तिहाई से अधिक खेतों का नाप १०-१० एकड़ से अधिक है। भारतीय परिस्थितियों में ये खेत खेती की खासी बड़ी इकाइयाँ माने जा सकते हैं। सम्भव है कि इनके मालिकों को पुँजी अथवा अन्य साधनों की कमी रहती हो। परन्तु हमारी सम्मति में यह कोई वास्तविक बाधा नहीं है। बाधाएं मुख्यतया उन त्रुटियों के कारण होती हैं जो कौटुम्बिक खेती के साथ स्वाभाविक रूप से जुड़ी रहती हैं। इस प्रकार की खेती में लागत लगाते और उससे होने वाले लाभ का विचार करते हुए, व्यक्ति केवल अपनी लागत और लाभ का विचार करते हैं, समाज की पुंजी और समाज के लाभ का नहीं। प्रत्येक किसान भूमि का केवल ऐसा सुधार करता है जिससे उसे स्वयं पर्याप्त लाभ हो सके। लाभ का विचार वह केवल उस काम में नहीं करता जिसे वह अकेले अपने अथवा अपने कुटम्बियों के

परिश्रम से पूरा कर सके। खेती की उपज का जो मूल्य मिलता है और उसके कामों के लिये जो मजदूरियां देनी पड़ती हैं, उनके हिसाब से कृषि में सुधार के बहुत से काम लाभदायक हो ही नहीं सकते।

१७. पैदावार बढ़ाने के लिये खेती को घना करते हुए भी, कितनी लागत लगाने से कितना लाभ होगा, यह विचार किया ही जाता है। प्राय: देखा गया है कि जिन छोटे किसानों के पास स्वयं ही या अपने कुटुम्बी-जनों द्वारा खूब मेहनत कर सकने की फुरसत होती है, वे अनेक विघ्न बाधाओं का सामना करते हुए भी, जमीन की प्रति इकाई पीछे अधिक पैदावार ले लेते हैं। परन्तु यदि किसान को किराये के मजदूर रखने पड़ें तो वह इतने ही मजदूर रक्खेगा कि उनकी सारी मजदूरी उसकी प्राप्ति से बढने न पावे। और खेती में बहुत जल्द ऐसी हद आ जाती है कि किसान को मजदूरी पर खरची हुई लागत तक वसूल नहीं होती। पीछे बतला आये हैं कि कृषि की भूमि का बहुत बड़ा भाग ऐसे किसानों के पास है जो १०–१० एकड़ से भी बड़े खेतों में खेती करते हैं, और इसी कारण उन्हें किराये के कुछ-न-कुछ मजदूर रखने ही पड़ते हैं। इस प्रकार, कौटुम्बिक खेती में, लागत और लाभ का हिसाब, किसानों को, सुधार और घनी खेती करने के लिये भी बहुत अधिक मजदूर नहीं रखने देगा। उन्हें यदि इन कामों के लिये आवश्यक सामान और पुंजी दे दिये जायं तो भी शायद वे अधिक मजदूर नहीं ही रक्खेंगे।

१८. इसके अतिरिक्त वित्तीय बाधाएं भी हैं। हमारे अधिकतर वित्तीय साधन, औद्योगिक उन्नति और यातायात के साधनों का विकास करने के लिए, पृथक् रक्खे जा चुके हैं। इस कारण अब उपलब्ध साधनों पर बहुत भारी बोझ पड़ गया है। और इसी कारण, कृषि का शीघ्रता-पूर्वक विकास करने के लिए, हमें साधनों का संग्रह कृषि के कामों में ही बचत करके करना पड़ेगा। भारत में अधिकतर खेत ऐसे हैं कि उनसे बहुत थोड़ी-थोड़ी बचत होती है। बचत अपेक्षाकृत बड़े खेतों से ही होती है। खेती से लाभ कम होने का एक बड़ा कारण यह है कि पशुओं और औजारों पर लागत तो बहुत लग जाती है, परन्तु वे बरस में अधिक समय बेकार ही पड़े रहते हैं।

१९. जहां जमीन खुली हो और खेती, समस्त उत्पादन के स्थान पर, विशुद्ध आर्थिक लाभ के लिये की जाती हो वहां तो सेवा सहकारिता-संस्थाएं साधन-सामग्री और पुंजी का प्रबन्ध करनें में सहायक हो सकती हैं, परन्तु भारत में अवस्थाएं उलटी ही हैं। यहाँ जमीन और पुजी तो दुर्लभ हैं, परन्तु श्रम प्रचुर मात्रा में सुलभ है। इसलिये यहां आर्थिक लाभ की अपेक्षा समस्त क्षेत्र में उत्पादन बढ़ाने पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है, और इसके लिये, उपलब्ध श्रम का पूर्ण उपयोग करके खेती को घना कर लेना चाहिए। ऐसा, जमीन, श्रम और पुंजी के साधनों को सहकारिता-पूर्वक एकत्र करके ही किया जा सकता है। उसी में उपलब्ध साधनों का पूरा उपयोग हो सकता और बड़ी मात्रा की अर्थ-व्यवस्था का लाभ मिल सकता है। सहकारिता की खेती में लागत और लाभ का विचार बहुत बड़े क्षेत्र को सामने रखकर किया जायगा, और प्रबन्ध की दृष्टि से सारी एकत्रित भूमि को एक खेत और एकत्रित श्रमिकों को एक परिवार माना जायगा, और इसी कारण खेत के सब भागों में खेती को घना करना तथा लागत का कोई भी विचार किये बिना श्रमिकों का अधिक उपयोग करना सम्भव हो जायगा।

२०. सहकारिता की खेती में पुंजी का अधिक पूरा उपयोग हो सकेगा, व्यय घटाया और बचत को एकत्रित करके पुंजी का संग्रह किया जा सकेगा। यदि सब को खेती में काम न मिला तो बचे हुए श्रमिकों को, गांव के रास्ते और मकान सुधारने और अन्य सामाजिक सेवाएं करने में लगाया जा सकेगा। गांवों में काम करने की अन्य योजनायें भी बनायी जा सकेंगी। इसके अतिरिक्त, अब जो लोग जात-पांत तथा अन्य सामाजिक रीति-रिवाजों के कारण एक दूसरे से पृथक् रहते हैं उन्हें मिलकर काम करने का अवसर मिलेगा, और इस प्रकार सब लोगों में अधिकाधिक मानसिक एकता होती चली जायगी।

२१. जापान सरीखे कई देशों का आर्थिक विकास ऐसे समय हुआ था जब कि संसार में उपनिवेशों का विस्तार ही रहा था और कच्चे माल पर तथा तैयार माल के बाजारों पर सम्पन्न देशों का एकाधिकार-सा था। उस समय साधारण जनता में आत्म सम्मान की भावना भी आज

जितनी, जागृत नहीं हुई थी, इस कारण उसका शोषण बिना किसी रोक-टोक के किया जा सकता था। इस प्रकार, इन देशों ने स्वदेश तथा विदेश में जनता का शोषण करके पुंजी बड़ी मात्रा में एकत्र कर ली थी और वही उनकी औद्योगिक तथा आर्थिक समृद्धि का आधार बन गयी थी। भारत में हमें केवल अपने औद्योगिक साधनों पर भरोसा करके चलना है। 'कल्याण राज्य' का विचार भी आज बहुत आगे बढ़-चुका है। इस कारण किसी एक वर्ग का शोषण करके बड़ी मात्रा में पुंजी एकत्र कर लेने की कल्पना तक नहीं की जा सकती। हमारे अपने साधन सीमित हैं। लोगों की आय थोड़ी है। अधिकतर लोग अपना निर्वाह-मात्र कर पाते हैं। उन सबका जीवन-स्तर ऊंचा उठाने के साथ साथ, बचत के द्वारा विनियोग और विकास के लिये पुंजी का संग्रह भी करना होगा। कृषि-सहकारिता-संस्थाओं का ही एकमात्र ऐसा मार्ग है जिस पर चलकर हम राष्ट्रीय साधनों का पूरा उपयोग कर सकते हैं, क्योंकि इस पर चलते हुए सबसे प्रमुख साधन जन-बल का रहता है; उनके सहारे, लाखों-करोड़ों बेजमीन कुटुम्ब भी, ऊपर उठने की आशा कर सकते हैं। हमें तो आज उनकी आवश्यकता ऐतिहासिक लग रही है।

२२. एक प्रश्न यह किया जाता है कि सहकारिता की खेती का हमारी लोकतन्त्री संस्थाओं पर तो प्रतिकल प्रभाव नहीं पड़ेगा। हमारी सम्पति में किसी भी देश की संस्थाओं का नियन्त्रण वहाँ प्रचलित वातावरण से ही हुआ करता है। वह वातावरण लोकतन्त्री, एकाधिकारिता का, केन्द्र-नियन्त्रित अथवा विकेन्द्रीकृत, जैसा भी होगा, वैसी ही उस देश की संस्थायें बन जायंगी। उसका कृषि की प्रणाली मे कोई सम्बन्ध नहीं। वह चाहे तो कौटुम्बिक रहे चाहे सहकारिता की। प्रत्युत सत्य यह है कि अन्य किसी भी देहाती संगठन के समान, सहकारिता की खेती से भी, लोकतन्त्री संस्थाओं का समर्थन ही होगा—मूल में भी और अन्य स्तरों पर भी।

२३. परन्तु हम मानते हैं कि कुटम्ब की खेती को सहकारिता कि खती में परिणत करना सरल कार्य नहीं है। सहकारिता की खेती को अपनाते हुए किसान को जीवन-प्रणाली ही नयी अपनानी पड़ती है। उसे अपने आपको दलीय अनुशासन के आधीन कर देना पड़ता है. और वैसा करते हुए उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की तो कुछ हानि होती ही है। वास्तव में, दलीय कार्य का अर्थ ही वैयक्तिक स्वतन्त्रता को दलीय अनुशासन के आधीन कर देना है; और किसी भी नियोजित विकास में कुछ-न-कुछ विवशता होती है। इसके विपरीत, सहकारिता की खेती के कारण लोगों की आर्थिक स्थिति में जो सुधार होगा उसमे सभी की स्वतन्त्रता में वृद्धि हो जायगी—उन व्यक्तियों की भी जिनको इस समय आगे बढ़ने का अवसर तक नहीं मिलता। इसलिये वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या हमें अपने आर्थिक लाभ और राष्ट्रीय हित के लिये अपनी कुछ वैयक्तिक स्वतन्त्रता का बलिदान कर देना चाहिए? दोनों पक्षों पर विचार करने के पश्चात् हम तो ऐसा अनुभव करते हैं कि सहकारिता की खेती के लाभ, हानियों की अपेक्षा, कहीं अधिक हैं।

२४. हमारा यह विचार, राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी का एक लेख पढ़कर, और भी दृढ़ हो गया। यह लेख १५ फरवरी १९४२ के हिन्दी 'हरिजन-सेवक' में प्रकाशित हुआ था। उसका एक अंश हम यहां उद्धृत करते हैं:—

"मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि जब हम अपनी जमीन भी सामुदायिक पद्धति से जोतेंगे तभी उससे पूरा फायदा उठा सकेंगे। बनिस्बत इसके कि गांव की खेती अलग-अलग सौ टुकड़ों में बंट जाय, क्या यह बेहतर नहीं कि सौ कुटुम्ब सारे गांव की खेती सहयोग से करें और उसकी आमदनी आपस में बांट लिया करें। और जो खेती के लिये ठीक है, वही पशु के लिये भी समझा जाय।"

"यह दूसरी बात है कि आज लोगों को सहयोगी पद्धति पर लाने में कठिनाई है। कठिनाई तो सभी सच्चे और अच्छे कामों में हुआ करती है। परन्तु कठिनाइयां दूर करने से ही सेवा का मार्ग सुगम बन सकता है।"

२५. हमें पूरा विश्वास है कि कौटुम्बिक खेती को सामुदायिक खेती में परिणत, शान्तिपूर्ण और लोकतन्त्री उपायों से भी किया जा सकता है। चीन यह परिवर्तन कुछ ही वर्ष में कर लेने में सफल हो गया है। हम यह भी जानते हैं कि चीन की वर्तमान राजनीतिक प्रणाली द्वारा लोगों को किसी विशेष मार्ग पर चलाने में कई प्रकार की सुगमता होती है। उसमें लोगों का परिचय केवल एक प्रकार के विचारों से होता है। भारत की राजनीतिक प्रणाली संसदीय है और यहां राजनीतिक दल भी अनेक हैं। इस कारण हमारा कार्य चीन की अपेक्षा बहुत कठिन है।

२६. सहकारिता की खेती का विकास करने के लिये जिन उपायों का अवलम्बन करने की आवश्यकता है उनका वर्णन अगले पैराओं में किया गया है। सहकारिता का विकास करने के लिये सरकार के समर्थन और सहायता की आवश्यकता तो है ही। कृषि-सहकारिताओं के कार्यक्रम की सफलता के लिये तो उसकी और भी अधिक आवश्यकता है। यदि देश के नेताओं को इस कार्यक्रम की आवश्यकता, उपयोगिता और व्यवहार्यता का निश्चय हो जायगा तो सरकार का समर्थन और सहायता उचित मात्रा में स्वयंमेव मिलने लगेंगे।

२७. सहकारिता की खेती का आन्दोलन चलाने के लिये वातावरण भी एक विशेष प्रकार का होना चाहिये। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि यह नयी जीवन-प्रणाली अपनाते हुए किसानों को थोड़ा स्वार्थ-त्याग करना पड़ेगा परन्तु यदि उन्हें निश्चय हो जाय कि यह त्याग राष्ट्र-भर के त्याग का ही एक भाग है और इसमें जनता के अन्य भाग भी योग दे रहे हैं तो वे इसे प्रसन्नता से करेंगे। उन्हें यह निश्चय कराने के लिये देश का वातावरण ऐसा बनाना होगा कि उसमें लोग अपने विचारों को क्रमशः बदलते हुए, सामाजिक समानता, शारीरिक सामर्थ्य और मानसिक योग्यता का आदर, वंशानुगत सम्पत्ति और जमा की हुई पूंजी की अपेक्षा, अधिक करने लग जायं, और समाज तथा अर्थ की व्यवस्था का आधार समानता और शोषण-हीनता बन जायं। समाज के सब लोगों को अनुभव कराना होगा कि राष्ट्र का व्यापक हित, व्यक्तियों की आय और क्रय-शक्ति सीमित कर देने में ही है, क्योंकि समाज के पिछड़े हुए अंगों पर अधिक ध्यान तभी दिया जा सकता है। सारांश यह है कि वातावरण देश भक्ति, समाजवाद, लोकतन्त्र और नियोजित अर्थ-व्यवस्था का होना चाहिये। देहातों के वातावरण पर, भूमि-सुधार जैसे किये जायंगे वैसा ही प्रभाव पड़ेगा। हमने भूमि-सुधार की अपनी सिफारिशें, देहातों में भूमि की स्थिति के अपने विश्लेषण के अनुसार ही की हैं। हमारी एक सिफारिश यह है कि किराये के मजदूर रख कर खेती करने की प्रथा को निरुत्साहित किया जाय। प्रत्येक किसान को निजी खेती के लिये उतनी ही भूमि रखने का अधिकार होना चाहिये जितनी को वह अपने कुटुम्ब की सहायता से जोत सके। शेष सब भूमि सहकारिता-संस्थाओं को दे देनी चाहिए, और वे सहकारिताएं बेजमीनखेत-मजदूरों तथा ऐसे छोटे किसानों को मिलाकर बनी हुई होनी चाहिये जो अपनी जमीन उक्त शेष जमीन में मिला देने के लिये तैयार हों। सम्पन्न किसानों से जो जमीन, फालतू बतलाकर ली जाय उसका लगान उन्हें देते रहना चाहिए। सहकारिता में उनका भी सहयोग प्राप्त करने के प्रयोजन से, गांव में ही रहने वाले किसानों को जमीन का लगान, गांव से बाहर रहने वालों से कुछ अधिक दिया जा सकता है।

२८. गांवों के नेता अच्छे न हों तो भूमि-व्यवस्था में ये सब मौलिक सुधार नहीं किये जा सकते। राजनीतिक दलों को गांवों में काम करना हो तो उन्हें भी अपना संगठन अब से अधिक भली प्रकार करना होगा। शासन-व्यवस्था को भी आज की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली बनाना होगा। इन सब कार्यों का कृषि-सहकारिताओं के साथ सीधा कोई सम्बन्ध नहीं है। ये तो देहातों में किये जाने चाहिये। परन्तु सहकारिताओं के लिये भी इनका महत्व अवश्य है।

२९. सहकारिता की कृषि का विकास करते हुए दो सिद्धान्तों का ध्यान रखना चाहिये। पहला तो यह किसी को भी सहकारिता में उसकी इच्छा के विरुद्ध सम्मिलित नहीं करना चाहिए। दूसरा यह कि यदि कोई सहकारिता से पृथक् होना चाहे तो उसे फसल की समाप्ति पर वैसा करने देना चाहिए। किसानों को सहकारिताओं में स्वेच्छापूर्वक सम्मिलित होने को राजी करने के

लिए, उन्हें सफल प्रदर्शन द्वारा यह निश्चय करवा देना पड़ेगा कि यह कार्यक्रम व्यवहार्य है और इसके लिये जो दावे किये गये हैं वे सच्चे हैं। लोकतन्त्री प्रणाली में, किसी भी कार्यक्रम की प्रगति, जनता पर उसकी प्रतिक्रिया के हिसाब से हुआ करती है। जनता के नेता भी उस कार्यक्रम का उतना ही समर्थन करते हैं जितना कि जनता उसे पसन्द या नापसन्द करती है। इन कारणों से प्रदर्शन की व्यवस्था करना अत्यन्त आवश्यक है। राष्ट्रीय कार्यक्रम की सारी सफलता उसी पर निर्भर करती है।

३०. हमारा सुझाव है कि आगामी चार वर्षों में दस हजार कृषि-सहकारिता-संस्थाएं संगठित करने का कार्यक्रम बना लिया जाय। लक्ष्य यह रक्खा जाय कि १९६०–६१ तक पचास-पचास गांवों में कम से कम एक कृषि-सहकारिता-संस्था खुल जाय। इसकी पूर्ति हो सकने या न हो सकने का निश्चय बहुत-से कुछ वर्तमान सहकारिता-संस्थाओं का काम देखकर होगा। इसलिये उनके काम को आदर्श काम बनाकर दिखलाने का प्रयत्न करना चाहिए। राष्ट्रीय स्तर पर, सहकारिता की खेती की योजनाएं बनाने और उसके कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व "नेशनल कोआपरेटिव-डिवलेपमेण्ट-एण्ड वेयरहाउसिंग बोर्ड' अर्थात् राष्ट्रीय-सहकारिता-विस्तार-तथा-मालसंग्रह-मण्डल के सुपुर्द कर देना चाहिए। इस बोर्ड की एक स्थायी समिति, सहकारिता की खेती सम्बन्धी मामलों का भुगतान करने के लिए, बना देनी चाहिए। सहकारिता की खेती के कार्यों में सलाह देने के लिए, कृषि-मन्त्रालय में एक विशेषाधिकारी नियुक्त किया जाना चाहिए और उसकी सहायता के लिये कुछ विशेषज्ञ भी रहने चाहिये। राज्यों में भी सहकारिता-मन्त्री की आधीनता में एक-एक समिति इसी कार्य के लिये बना देनी चाहिए। राज्य-समितियों की सहायता के लिए, विकास-आयुक्त की अध्यक्षता में एक-एक उपसमिति रहनी चाहिए। राज्यों में भी, केन्द्र के समान, एक-एक विशेषाधिकारी और उसकी सहायता के लिये विशेषज्ञ रहने चाहियें। जिलों में सहकारिता की खेती का विकास करने के लिये जिला-विकास-मण्डलों की एक-एक उपसमिति होनी चाहिये।

३१. हमने सिफारिश की है कि आगामी चार वर्षों में कोई दो लाख नवयुवकों को ग्राम-संगठनकर्ता के रूप में प्रशिक्षित किया जाय। ये युवक लोगों को सहकारिता से खेती करने का कार्यक्रम समझायेंगे और साथ ही सहकारिता-संस्थाओं का नेतृत्व भी करेंगे। इन्हें प्रशिक्षित करने के कार्यक्रम का व्यय, केन्द्र और राज्य-सरकारों को मिलकर उठाना और ३:१ के अनुपात में, परस्पर बांट लेना चाहिए। ग्राम-संगठन-कर्ताओं का वेतन कुछ नहीं देना चाहिए। उनसे आशा रखनी चाहिये कि उन्हें स्वयं जो प्रशिक्षण मिला है उसके आधार पर ही वे लोगों में सहकारिता की खेती के विचारों का प्रचार करें। वे ग्रामों के अन्य कार्यकर्ताओं के साथ घनिष्ठ सहयोग-पूर्वक काम करेंगे। केन्द्रीय सरकार को लगभग आधा दरजन प्रादेशिक प्रशिक्षण-केन्द्र, शिक्षकों तथा अन्य कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण के लिये खोल देने चाहिएं।

३२. इस प्रतिवेदन में जिन सिफारिशों की चर्चा पीछे हुई। उनका संक्षेप से नीचे उल्लेख किया जा रहा है :—

कार्यक्रम

१. आगामी चार वर्षों में, पचास-पचास ग्रामों में कम से कम एक कृषि-सहकारिता-संस्था खोल देने का लक्ष्य रखकर एक सुव्यवस्थित कार्यक्रम तैयार कर लेना चाहिये। इस प्रकार देश में लगभग दस हजार सहकारिता-संस्थाएं खुल जायंगी।

२. जिन राष्ट्रीय-विस्तार-मण्डलों और सामुदायिक विकास-योजनाओं को चलते हुए दो वर्ष हो चुके है उनमें यथाशक्ति अधिकतम सहकारिता-संस्थाएं खोलने का प्रयत्न करना चाहिए।

३. स्वेच्छा-सहयोग के सिद्धान्त का दृढ़ता से पालन करना चाहिये, यदि कोई व्यक्ति सहकारिता-संस्था से पृथक् होना चाहे तो उसे होने देना चाहिए—परन्तु फसल के अन्त में ही, उससे पूर्व नहीं।

४. जहां कहीं ऐसी खासी बड़ी सरकारी जमीन मिल सके कि उस पर किसानों का व्यक्तिश: कोई अधिकार न हो, वहां बे-जमीन खेत-मजदूरों की सहकारिता-संस्था बनाकर, वह जमीन खेती के लिये उसे दे देनी चाहिये। यदि छोटे किसान-मालिक और काश्तकार (जमींदारों आदि काश्त के लिए जमीन लेकर खेती करने वाले किसान) अपनी-अपनी जमीन उस जमीन में मिलाने को तैयार हों तो उन्हें भी उस सहकारिता में सम्मिलित कर लेना चाहिये।

५. वर्तमान सहकारिता-संस्थाओं का शीघ्रता-पूर्वक सर्वेक्षण करके, केवल खरी संस्थाओं को चलती रहने देना चाहिए और उन्हें प्रदर्शन-केन्द्रों में परिणत करने के लिये उनकी उचित सहायता करना चाहिये। हमने सरकारी सहायता देने और संस्थाओं के आन्तरिक संगठन तथा प्रबन्ध आदि के विषय में जो सुझाव दिये हैं उनकी परीक्षा पहले इन संस्थाओं में करके देख लेनी चाहिये, जिससे कि शीघ्र ही अनुभव प्राप्त हो जाय और भविष्य के लिये उपयुक्त विधियों और प्रणालियों का निर्धारण किया जा सके।

संगठन और प्रबन्ध

६. सहकारिता की खेती में सब सदस्यों को अपनी जमीनें एकत्र कर देनी पड़ती हैं। जहा कहीं किसान अपनी जमीनें एकत्र करने के लिये तैयार हों वहां मिलकर खेती करने को भी बढ़ावा देना चाहिये। सरकारी और फ़ालतू एकत्र की हुई जमीनपर सामुदायिक कृषिसहकारिताओंका संगठन करना चाहिये।

७. कृषि-सहकारिता-संस्थाओं में केवल ऐसे लोगों को सम्मिलित करना चाहिए जो कि खेती के प्रति-दिन के काम अपने हाथ से करने को तैयार हों।

८. सहकारिताओं में नौकरशाही प्रवृत्तियों को घुसने से रोकने के लिये आवश्यक है कि संस्थाओं के पदाधिकारियों, प्रबन्धकर्ताओं और अन्य कर्मचारियों से भी, कुछ नियत न्यूनतम दिन तक, खेती का काम अवश्य करवाया जाय।

९. बोयी जाने वाली फसलों के अनुसार, चावल के इलाकों में कृषि-सहकारिता-संस्थाओं की जमीन ३५ से ५० एकड़ तक और कपास व गेहूं के इलाकोंमें ६० से १०० एकड़ तक होनी चाहिए। सदस्यों की न्यूनतम संख्या ७ से १० तक रक्खी जा सकती है।

१०. शुरू-शुरू में एक गाँव में एक से अधिक सहकारिताएं चलने देने में भी हानि नहीं। जिस गाँव में दो या इससे अधिक सहकारिताएं हों वहाँ उन्हें समझा-बुझाकर, सेवाएं और सामग्री आदि सस्ते मूल्य पर प्राप्त करने के लिये, उनकी एक संयुक्त समिति बनवा देने का यत्न करना चाहिए।

११. हमने चीन में जो सहकारिताएं देखी थीं उनमें से किसी-किसी की जमीन ५००० एकड़ से भी अधिक और सदस्य-संख्या १००० तक थी। इतनी बड़ी संस्थाओं का प्रबन्ध कभी-कभी उलझ जाता है और उनके सदस्य काम में सक्रिय भाग लेना बन्द कर देते हैं। इसलिये भारत में सहकारिताओं के अधिकतम परिमाण का निश्चय, प्रदर्शन-कार्यक्रम से प्राप्त अनुभव के आधार पर, कर लेना चाहिए।

१२. प्रत्येक कृषि-सहकारिता-संस्था को अपने कार्य की एक विस्तृत योजना पंच-वर्षीय और दूसरी वार्षिक बना लेनी चाहिए। इन योजनाओं को बनाते हुए यह विचार कर लेना चाहिए कि संस्था को श्रम और पुंजी के साधन कितने मिल सकेंगे, बाहर से पुंजी कि कितनी सहायता मिल सकेगी, उत्पादन में कितनी वृद्धि कर सकना सम्भव होगा और ऋण की वापिसी कितनी किश्तों में करनी होगी, इत्यादि।

१३. यदि हल तथा गाड़ियाँ आदि चलाने वाले पशु सदस्यों के पास ही रहें तो संस्था को यह अन्दाजा लगा लेना चाहिये कि उसे अपनी जमीन जोतने के लिये कितने पशुओं की आवश्यकता पड़ेगी। पशुओं का किराया परस्पर मिलकर तय कर लेना चाहिये। यदि पशु भी एकत्र करके संस्था की सम्पत्ति बना दिये जायं तो उनका उचित मूल्य लगाकर, उसे या तो सदस्यों के हिस्से के

रूप में पुंजी खाते जमा कर लेना चाहिये और या उसे सदस्यों का ऋण मान कर उसे चुकाने की किश्तें तय कर लेनी चाहिएं। इसी प्रकार सदस्य जो औजार संस्था को दें उनका उचित मूल्य लगाकर वह सदस्यों के हिस्से के रूप में पुंजी खाते जमा कर लेना चाहिए।

१४. भूमि के स्वामित्व का लाभांश, भूमि एकत्र करते समय उसकी जो उपज थी उसके आधार पर, तय करना चाहिए। ऐसा करना इसलिए आवश्यक है कि संस्था के प्रयत्न से उत्पादन में जो वृद्धि हो उसका सारा लाभ सदस्यों में उनके श्रम के हिसाब से बाँटा जा सके।

१५ काम को सदस्यों में ठीक प्रकार बाँटने और उसका ठीक प्रकार निरीक्षण होने का, सहकारिता के किसी भी काम में, अधिकतम महत्व है। इसलिये इन दोनों प्रयोजनों की सिद्धि के उचित साधन निकाल लेने पर ध्यान, सबसे पहले देना चाहिये। जहाँ कहीं सम्भव हो वहाँ चीनियों की दलों और टोलियों में बंटकर काम करने की प्रणाली अपनायी जा सकती है। ऐसा भी हो सकता है कि बड़े-बड़े काम तो संस्था स्वयं करवाये और छोटे काम छोटी टोलियों या कुटुम्बों को बाँट दिये जायं।

१६. प्रत्येक सदस्य का दैनिक कार्य आँकते हुए, काम के प्रकार और परिमाण, दोनों का ध्यान रखना चाहिए, और काम आंकने के लिये उचित नाप निर्धारित कर देने चाहियें। फसल की समाप्ति पर, विशुद्ध उत्पादन (अर्थात समस्त उत्पादन में से उत्पादन का व्यय और भूमि के स्वामित्व का लाभांश घटाकर बची हुई राशि) को सदस्यों में, प्रत्येक सदस्य के काम के हिसाब से बाँट देना चाहिए।

१७. सरकार उचित समझे तो चीन और भारत में व्यवहार-कुशल किसानों के आदान-प्रदान की व्यवस्था कर दे। कृषि-सहकारिता-संस्थाओं के दर्जन पर कार्यकर्ताओं को छः महीने के लिये चीन भेज दिया जाय कि वे वहाँ की सहकारिताओं के आन्तरिक संगठन और प्रबन्ध का अध्ययन कर लें। और चीन के किसानों को यहाँ बुलाया जा सकता है कि वे यहाँ रहकर सहकारिता-संस्थाएं चलाने में हमारी सहायता करें।

१८. (क) जहाँ कहीं खेतों की चक-बन्दी की जाय वहाँ यत्न किया जाय कि जो किसान कृषि सहकारिता-संस्थाओं के सदस्य बन गये हों या बनना चाहते हों उनकी और सरकार की जमीनें इकट्ठी करके एक चक में बाँध दी जायं।

(ख) छोटे किसानों की जमीनों को भी एक स्थान पर एकत्र करके उनके चकों को, यदि कोई सहकारिता-संस्था वहाँ हो तो उसकी जमीन के साथ लगाकर, रक्खा जाय। इससे छोटे किसानों में सहकारिता की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलेगा और जो किसान उस समय सहकारिता में सम्मिलित नहीं हुए होंगे वे भी आगे चलकर वैसा कर सकेंगे।

(ग) सम्पन्न किसानों की कौनसी जमीनें फालतू हैं इस बात का निर्णय होते ही उनके चक बनाकर, उन्हें छोटे किसानों की जमीनों से लगाकर, रक्खा जाय।

सरकारी सहायता

१९. सरकार को चाहिये कि जो और जैसी सहायता, अपनी खेती पृथक्-पृथक् करने वाले किसानों को और कृषि अथवा उद्योग का व्यवसाय करने वाली अन्य सहकारिता-संस्थाओं को मिल रही है वह और वैसी कृषि-सहकारिता-संस्थाओं को भी अवश्य दे।

२०. कृषि-सहकारिता-संस्थाओं पर भी सरकार की साझेदारी का सिद्धान्त लागू करके, 'नेशनल-कोआपरेटिव-डिवेलपमेंट-ऐण्ड-वेयरहाउसिंग-बोर्ड' (राष्ट्रीय-सहकारिता-विकास तथा मालसंग्रह-मण्डल) द्वारा जो सहायता ऋण देने वाली अथवा माल बेचनेवाली बड़ी सहकारिता-संस्थाओं की की जाती है वह कृषि-सहकारिताओं की भी की जानी चाहिये।

२१. कई राज्यों में कृषि-सहकारिता-संस्थाओं पर कृषि का आय-कर लगाया जा सकता है। इस कारण, जिन किसानों पर व्यक्तिशः यह कर नहीं लग सकता उन्हें सहकारिता का सदस्य बन जाने से घाटा होता है। इसे और इस प्रकार की अन्य बाधाओं को दूर कर देना चाहिए।

२२. सरकार द्वारा माल खरीद लेने और कीमतों की गारन्टी कर देने की नीति के कारण चीन की कृषि-सहकारिता-संस्थाओं और जापान की सहकारिता-इकाइयों को बड़ी सहायता मिली है। इस प्रकार के उपाय हमारे देश में भी किये जाने चाहियें। परन्तु यदि ऐसा तुरन्त और एक साथ सभी सहकारिता-संस्थाओं के लिये न किया जा सके, तो सरकार को कृषि-सहकारिता-संस्थाओं की उपज तो एक न्यूनतम मूल्य पर खरीद ही लेनी चाहिए, और वह मूल्य पहले से बतला देना चाहिये।

शिक्षण, प्रशिक्षण और प्रकाशन

२३. देहाती लोगों में सहकारिता की खेती की जानकारी फैलाने के लिये आवश्यक है कि आगामी चार वर्षों में दो लाख नवयुवक चुनकर, उन्हें सहकारिताओं का संगठन तथा प्रबन्ध करने और उत्पादन के कार्यक्रमों की योजनाएं बनानें की विधियां सिखला दी जायं।

२४. पीछे भी यह कार्य चलता चला जाय और कार्यकर्ता अपने अनुभव का परस्पर आदान-प्रदान करते रहें, इस प्रयोजन से प्रति-वर्ष इन नवयुवकों के लिये पुनरावृत्ति-पाठ्यक्रमों का आयोजन किया जाना चाहिये।

२५. सहकारिता-संस्थाओं के अधिकतर सदस्य, छोटे किसानों और बे-जमीन खेत-मजदूरों में से बनने की सम्भावना है इसलिये प्रशिक्षणार्थी नवयुवकों का चुनाव भी यथाशक्ति उनमें से ही करना चाहिये। प्रशिक्षार्थियों का चुनाव करते हुए, वर्तमान और सच्ची सहकारिता-संस्थाओं के सदस्यों को अवसर पहले देना चाहिये।

२६. राष्ट्रीय-विस्तार सेवा के ग्राम-कार्यकर्ताओं और अन्य कर्मचारियों को, सहकारिता की खेती सम्बन्धी विषयों से भी परिचित करवाना चाहिए।

२७. प्रशिक्षण-केन्द्र ऐसे स्थानों पर ही खोलने चाहिए जहाँ कि कृषि-सहकारिता-संस्थाएं विद्यमान हों, जिससे कि प्रशिक्षणार्थियों को व्यावहारिक प्रशिक्षण भी दिया जा सके।

२८. सहकारिता की खेती के प्रशिक्षित शिक्षक शायद तुरन्त नहीं मिल सकेंगे, इसलिए उन्हें प्रशिक्षित करने पर पहले ध्यान देना चाहिये। भारत-सरकार को इस प्रयोजन से कोई आधा दर्जन प्रादेशिक प्रशिक्षण-केन्द्र खोल देने चाहिएं।

२९. कार्यकर्ताओं के विभिन्न वर्गों को प्रशिक्षित करने का कार्यक्रम सहकारिता-प्रशिक्षण की केन्द्रीय समिति की सलाह से बनाना चाहिए।

३०. छहों प्रादेशिक प्रशिक्षण-केन्द्रों को चलाने का समस्त व्यय भारत सरकार को उठाना चाहिए। राज्य-सरकारें जो प्रशिक्षण-संस्थायें खोलें उनका २५ प्रतिशत व्यय तो राज्य-सरकारों को और ७५ प्रतिशत भारत-सरकार को उठाना चाहिए।

३१. सहकारिता-पूर्वक खेती करने की चर्चा, भारतीय संसद्, राज्य विधान-मण्डलों, विश्वविद्यालयों, स्थानीय निकायों, पंचायतों, सहकारिता-संस्थाओं और किसान-संघों आदि सब सार्वजनिक सभा-समाजों में खूब खुलकर की जानी चाहिए, जिससे कि इसकी मौलिक समस्याओं पर सबका ध्यान केन्द्रित हो जाय। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में काम करने वाले गैर-सरकारी सभी संगठनों का सहयोग भी इस कार्यक्रम को पूरा करने में लिया जा सकता है। सहकारिता में जनता की रुचि उत्पन्न करने के लिये रेडियो, समाचारपत्रों, सिनेमा-फिल्मों और वाद-विवाद की गोष्ठी-सभाओं का भी उपयोग करना चाहिए।

शासन-संगठन

३२. राष्ट्रीय स्तर पर, सहकारिता की खेती की योजनाएं बनाने और उसके कार्यक्रम क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व, 'नेशनल-कोआपरेटिव-डिवेलपमेण्ट-एण्ड-वेयरहाउसिंग बोर्ड' (राष्ट्रीय-सहकारिता-विस्तार-तथा-मालसंग्रह मण्डल) को सौंप देना चाहिए। सहकारिता की खेती के मामलों का भुगतान करने के लिये इस बोर्ड की एक स्थायी समिति भी बना देनी चाहिये।

३३. सरकार इस बोर्ड को अब तक जो धन-राशि देती है उसमें वृद्धि कर देनी चाहिये, जिससे कि हमने जो कार्यक्रम सुझाये हैं उन सबको बोर्ड पूरा कर सके।

३४. कृषि-मन्त्रालय में सहकारिता की खेती का एक विशेषाधिकारी होना चाहिए, जो कि सहकारिता की खेती के कार्यक्रम बनाने में उक्त बोर्ड की सहायता किया करे और राज्य-सरकारों को सलाह दिया करे। इस विशेषाधिकारी की सहायता के लिये कुछ विशेषज्ञ भी रहने चाहिए।

३५. प्रत्येक राज्य में भी सहकारिता की खेती के कार्यक्रम बनाने और क्रियान्वित करने के लिए एक-एक समिति होनी चाहिए। उसका अध्यक्ष सहकारिता-मन्त्री बनाया जा सकता है।

३६. राज्य-समितियों की एक-एक उपसमिति भी होनी चाहिए। उसका अध्यक्ष विकास-आयुक्त को रक्खा जाय।

३७. प्रत्येक राज्य को विचार करना चाहिये कि सहकारिता की खेती को बढ़ावा देने के लिये एक विशेषाधिकारी और कुछ विशेषज्ञों की नियुक्ति करना उचित होगा या नहीं। सहकारिता-संस्थाओं को एक विशेष हिसाब-किताब-परीक्षक की और कुछ सहायकों की भी आवश्यकता हो सकती है, जो कि घूम-फिरकर उनको हिसाब-किताब रखने का तरीका समझाया करें। इन कर्मचारियों का व्यय केन्द्र और राज्य-सरकारों को आधा आधा बाँट लेना चाहिए।

३८. जिलों में भी काम का समन्वय करने के लिए, जिला-मजिस्ट्रेट की अध्यक्षता में एक-एक समिति होनी चाहिए। इस समिति को जिला-विकास-मण्डल की एक उपसमिति माना जा सकता है। इसके सदस्यों में कृषि-सहकारिता-संस्थाओं, अन्य सहकारिता संस्थाओं और पंचायतों के प्रतिनिधियों को भी रखना चाहिये।

भुमी-सुधार

३९. भूमि-सुधारों का एक लक्ष्य यह होना चाहिए कि खेती में किराये के मजदूर रखने की प्रथा को कम किया जाय और जो लोग अपने हाथ मे खेती करना चाहते हैं उन्हें जमीन दी जाय। इसलिए प्रत्येक कुटुम्ब के पास उतनी ही जमीन रहने देनी चाहिए जितनी में वह स्वयं खेती कर सके। शेष सब फालतू जमीन को इकट्ठा करके, उसमें खेती, बे-जमीन खेत-मजदूरों और ऐसे छोटे किसानों की सहकारिता-संस्था बनाकर करवानी चाहिए जो कि अपनी जमीन भी उसमें मिला देने को तैयार हों।

४०. जमीन का लगान नकद या जिन्स की एक नियत मात्रा के रूप में तय किया जा सकता है, परन्तु उसे तय करने का आधार जमीन की वर्तमान उपज होना चाहिए, जिससे कि सहकारिता-संस्था की लागत के कारण बढ़ी हुई उपज का सारा लाभ सहकारिता को ही मिले। लगान की अदायगी की जिम्मेवारी सरकार को अपने सिर लेकर, उसे जमीन-मालिकों और सहकारिताओं के बीच में मध्यस्थ रहना चाहिये। सरकार इस जिम्मेवारी को निभाने के लिये गाँव के चौकीदारों आदि का उपयोग कर सकती है।

अन्य बातें

४२. जापान में किसान धान नहीं बेचते। वे धान कूटने की छोटी-छोटी मशीनों द्वारा धान में से चावल निकाल लेते हैं। इससे माल भरने, ढोकर ले जाने और कोठों में रखने आदि का

व्यय लगभग ५० प्रतिशत रह जाता है। हमारे देश में भी बड़ी-बड़ी सहकारिताएं इस प्रथाको अपना सकती हैं। मशीनों का चलन करने से पहले, केन्द्र और राज्य-सरकारों के कृषि-इंजिनियरिंग-विभागों को इनकी परख और जांच कर लेनी चाहिए।

४३. जापानी किसान माल भरने के लिए, जूट, सूत या कागज के बोरों के स्थान पर, धान के डण्ठलों के बनाये हुए बोरे काम में लाते हैं। इन बोरों को किसान स्वयं ही छोटी-छोटी सीधी सादी मशीनों द्वारा अपने फुरसत के समय बना लेते हैं। केन्द्र और राज्य-सरकारों के कृषि-इंजिनियरिंग विभागों को ऐसी कुछ मशीनें जापान से मंगाकर जाँचना चाहिए कि वे हमारे देश में चल सकती हैं या नहीं। यदि जरूरत हो तो इस काम के लिये किसी जापानी विशेषज्ञ की सहायता भी ली जा सकती है।

४४. जापान में आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं के अपने बड़े-बड़े गोदाम हैं। उन सबमें मिलकर ४२ लाख टन तक अन्न समा सकता है। ये गोदाम बनाये भी प्रायः केवल स्थानीय सामान से गये हैं। भारत में भी बड़े-बड़े गोदाम बनाने का कार्यक्रम तभी सफल होगा जब कि उन्हें स्थानीय अवस्थाओं और आवश्यकताओं का ध्यान रखकर बनाया जायगा और खर्च कम रक्खा जायगा। इस काम में भी अनुभवी जापानी इंजिनियरों की सहायता ली जा सकती है।

४५. जापान में लगभग एक-तिहाई आरम्भिक सहकारिता-संस्थाएं अपना आय-व्यय संतुलित नहीं रख सकी थीं। उसका प्रधान कारण यह था कि उनकी सदस्य-संख्या कम और कार-बार का परिमाण थोड़ा था। हमें भी इससे पाठ सीखना चाहिये कि छोटी सहकारिताएं शायद लाभ पर न चल सकें।

खंड ६

मतभेद

तेरहवां अध्याय

श्री० बी० जे० पटेल और श्री० एफ० एन० राना का मत-भेद

इस प्रतिनिधि-मण्डल के हमारे साथी सदस्यों ने, चीन की सामुदायिक खेती और जापान के सहकारिता-आन्दोलन का जो मूल्यांकन किया है और भारत में अपनाने के लिये जो सिफारिशें की हैं, उन सबसे हमारा मौलिक मत-भेद है। इसी कारण हमें यह मतभेद-सूचक विवरण लिखना पड़ रहा है। हमारा ख्याल है कि चीन में जो कुछ हो रहा है उस सबकी प्रशंसा और जापान के सहकारिता-आन्दोलन की सफलताओं की उपेक्षा करने में हमारे साथी सदस्यों से भूल हो गयी है। उन द्वारा पेश किया हुआ चित्र संतुलित नहीं है। इन दोनों देशों का हाल देकर हमने जो कुछ समझा और उससे हमारे जो विचार बने, उन दोनों को यदि हमने अपने देशवासियों के सामने प्रस्तुत न किया तो हम अपने कर्तव्य से च्युत हो जायंगे। यह तो हम भी मानते हैं कि विदेशों के घटना-क्रम का अध्ययन सहानुभूति-पूर्वक करना चाहिये, परन्तु साथ ही, हम इन दोनों देशों की राजनीतिक प्रणालियों की और इन्होंने अपने उद्देशों की पूर्त्ति के लिए जिन उपायों का अवलम्बन किया उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। न हम पहले से बने हुए विचारों अथवा अपनी प्रिय धारणाओं का समर्थन करने की चिन्ता के कारण अप्रिय सत्यों की उपेक्षा कर सकते हैं, हम उनकी ओर से आँख तो मीच ही नहीं सकते। हमारे देश की जनता के अधिकतर लोगों की आजीविका का आधार कृषि है, इस कारण हम जो भी नीति अपनावेंगे उसका प्रभाव हमारी जनता पर बहुत भारी पड़ेगा। यदि हम अपनी नीति का निश्चय करते हुए, केवल एक देश की घटनाओं से अनुचित रूपेण प्रभावित हो जायंगे तो हमारी सम्मति में, उसके परिणाम भयंकर होंगे, विशेष करके, यदि वे घटनायें हाल में ही घटित हुई हों, हमने उनका अध्ययन सूक्ष्मता से न किया हो, और उनका सम्बन्ध एक ऐसे देश से हो जिसकी भूमि-नीति का आधार ही ऐसे राजनीतिक आदर्श है जिन्हें एकाधिकारी राजनीतिक तन्त्र के बिना क्रियान्वित नहीं किया जा सकता। यदि हम चीन-सरकार की भूमि-नीति पर विचार करते हुए, उसे कम्युनिस्ट आदर्श-वाद से पृथक् कर देंगे, तो हम यह भ्रान्त धारणा उत्पन्न कर देने के अपराधी होंगे कि उस नीति को हम अपने देश में, उस देश के उपायों का अवलम्बन किये बिना भी अपना सकते हैं। हम तो ऐसा अनुभव करते हैं कि कम्युनिस्ट आदर्शों पर आधारित नीति, कम्युनिस्ट उपायों की इतनी मुखापेक्षी होती है कि इन दोनों को एक-दूसरे से पृथक् किया ही नहीं जा सकता।

२. चीन के भूमि-सुधारों और सामुदायिक कृषि के विषय में हमारे जो विचार बने, वे मुख्यतया अपने प्रतिनिधि-मण्डल के सचिव तथा दिल्ली के चीनी राजदूतावास द्वारा दिया हुआ साहित्य पढ़कर, हम चीन कि जिन सहकारिता-संस्थाओं को देखने गये उनके पदाधिकारियों और चीन-सरकार द्वारा बतलाई हुई बातें सुनकर, और हम जो कुछ देख सके उसे देखकर, बने हैं। हमने जो देखा वह हमारे साथियों द्वारा चित्रित किये हुए चित्र से बहुत भिन्न है।

३ हमारा विचार तो यहाँ तक है कि भूमि-सुधारों से लेकर सामुदायिक कृषि की नींव डालने तक की चीनी कम्युनिस्ट सरकार की भूमि-नीति को, समझा ही तब जा सकता है जब मार्क्स और लेनिन के विचार और सिद्धान्त हमारे सामने रहें। हमारे साथियों ने इसे चीनी उपायों तथा विधियों का एक गुण माना है कि 'उनका हरेक कदम एक विशिष्ट घटना-क्रम का अंक होते हुए भी, अपने आपमें इतना पूर्ण होता था और उसे पूरा करने के लिये इतना ध्यान दिया जाता था कि वह देखने में घटना-क्रम का अंग न लगकर, एक स्वतन्त्र घटना जान पड़ता था।" (तीसरा अध्याय २४वाँ पैरा)। परन्तु हमने देखा कि व्यवहार में यह विधि और कुछ नहीं, किसानों का क्रमशः दमन करने के लिए चतुरता-पूर्वक बनाई हुई एक योजना-मात्र थी। और इस योजना का निर्माण बरसों पहले लेनिन की अप्रतिम प्रतिभा द्वारा किया जा चुका था। लेनिन का आदर्श यह था कि किसानों को 'मजदूरों के एकाधिकार' के आधीन कर दिया जाय, और यह आधीनता एक-दम न करके क्रम-क्रम से और खण्ड-खण्ड करके सम्पन्न की जाय। उनके अपने शब्दों में, "पहले हम प्रायः सर्वत्र जमींदारों के विरुद्ध किसानों का समर्थन करेंगे और इसके लिये सब साधनों का,

जमीन की जब्ती तक का, प्रयोग करेंगे और इसके पश्चात्, (अथवा 'पश्चात्' नहीं, अपितु साथ ही साथ) किसानों के विरुद्ध मजदूरों का साथ देने लगेंगे।" (सिलेक्टेड वर्क्स, प्रथम भाग, पृष्ठ ४४२)। इस समय कम्युनिस्टों के नारे होंगे : 'जमीन जोतने वालों की' और 'जमींदारी का नाश हो'। जमींदारों का अन्त करने के पश्चात्, किसानों को, सम्पन्न किसानों, मध्यवित्त किसानों, गरीब किसानों और बेजमीन किसानों में विभक्त कर दिया जायगा। नीति का लक्ष्य एक भाग को दूसरे से पृथक् कर देने का, और इस प्रकार 'मेहनत करने वाले किसानों को अपनी ओर करके और सम्पन्न किसानों के विरोध को कुचल कर' अपना शासन दृढ़ कर लेने का रहेगा। ("सिलेक्टेड वर्क्स", द्वितीय भाग, पृ० ६६८)। अब नारा 'बड़े किसानों का अन्त' करने का हो जायगा। तीसरी मंजिल पर पहुंचकर, किसानों को इस प्रकार संगठित करना होगा कि वे एक सामान्य योजना के अनुसार, सामान्य भूमि पर, सामान्य प्रबन्ध में काम करने लगें (सिलेक्टेड वर्क्स, द्वितीय भाग, पृ० ६६८)। दूसरे शब्दों में, भूमि पर व्यक्तियों के स्वामित्व का अन्त करके, सरकार की संरक्षा में सामुदायिक खेतों की स्थापना कर दी जायगी। अब नारा 'सामुदायिक खेती' का रहेगा। इससे प्रकट है कि कम्युनिस्टों की नीति का आधार ही वर्ग-संघर्ष है, और वे अपने लक्ष्य की पूर्ति एक वर्ग को दूसरे से लड़ाकर तथा दूसरे के साथ लड़ाई छेड़ने से पूर्व पहले का अन्त करके करते हैं।

४. कम्युनिस्ट शास्त्र-ग्रन्थों के ये उद्धरण केवल यह दिखलाने के लिये दिये गये हैं कि चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने मुख्यतः इसी नीति पर आचरण किया है, और उसने जमींदारों की समाप्ति तथा सामुदायिक कृषि की स्थापना के मध्य में 'भूमि-सुधार' तथा 'परस्पर-सहायक दलों' आदि के जो क्षेपक डाले उनका महत्व प्रधान नीति की दृष्टि से विशेष नहीं है। चीन के वर्तमान कृषि-मन्त्री श्री लियाऊ के शब्दों में, "शत्रुओं का परस्पर सम्बन्ध विच्छिन्न कर दो, सबसे एक साथ लड़ाई मत छेड़ो, पहले उन्हें निर्बल करो और फिर उनकी जड़ काट डालो।" उपप्रधान मंत्री श्री तांग-शु-हुई ने हमारे साथ वार्तालाप में बतलाया था कि चीनी आन्दोलन का आधार ही वर्ग-संघर्ष था, 'पहले संघर्ष जमींदारों और सब किसानों में था, पीछे वह सम्पन्न किसानों और गरीब किसानों में' हो गया। हमने अभी जो लिखा है उस सबकी पुष्टि चीन में तथाकथित सहकारिता-संस्थाओं के निर्माण के इतिहास से हो जाती है। पहले तो किसानों को 'जमीन किसानों की का नारा लगाकर बढ़ावा दिया जाता और जमींदारों को कुचल डाला जाता है, फिर, भूमि के स्वामित्व की पवित्रता और लाभ में स्वामियों का भाग पृथक् रखने पर बल देकर, किसानों को आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं में संगठित कर दिया जाता है। और अन्त में समाजवाद के नाम पर उनका भूमि के स्वामित्व का अधिकार छीन कर, उनकी स्थिति निरे मजदूर की रहने दी जाती है। इन सब कारणों से, हम इन चालबाजियों को प्रगति-शाली बतलाने के अपने साथियों के उत्साह में साझेदार नहीं हो सकते। यह नीति आरम्भ से ही किसानों को पूरा मजदूर बना डालने के लिये अपनायी गई थी। हमारे इस विचार की पुष्टि चीनी सूत्रों से भी हो जाती है। अन्य किसी ने नहीं, स्वयं (माओ-त्से-तुंग ने असन्दिग्ध शब्दों में कहा था : "जैसा कि इस कार्यक्रम में विहित है, मजदूरों का राजनीतिक नेतृत्व, सरकारी उद्योगों और सहकारिता-संस्थाओं का मजदूरों द्वारा संचालन, ये समाजवाद के ही अंग हैं। ....यह निश्चित है और इसमें सन्देह का लवलेश भी नहीं कि हमारा भावी अथवा अन्तिम कार्यक्रम चीन को समाजवाद और साम्यवाद की ओर ले जाने का है।" माओ-त्से-तुंग के 'सिलेक्टेड वर्क्स', चतुर्थ भाग, पृ० २७४)। चीन की सरकारी घोषणाओं में, अनेक वर्ष पूर्व, १६५१ में ही, यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि भूमि-सुधार, सोवियत नमूने पर, पूर्ण सामुदायिक कृषि की दिशा में पहला कदम मात्र होगा। एक उपमन्त्री श्री वू-चुवेह-नुग्न ने कहा था कि "चीनी कृषि के विकास के तीन क्रम माने जा सकते हैं : पहला क्रम भूमि-सुधार का होगा, दूसरा परस्पर सहायक दलों का, और तीसरा, सोवियत संघ के सामुदायिक खेतों के नमूनों पर राष्ट्र भर में कृषि को समाजवादी आधार पर करने का होगा।" (पीपल्स चायना, नवम्बर १, १६५१)।

भूमी सुधार

५. हम पहले दिखला चुके हैं कि चीन में सामुदायिक कृषि की नीति अकस्मात् ही नहीं अपना ली गई थी। भूमि-सुधार उस नीति पर चलने का पहला क़दम मात्र था। अब हम उसी की चर्चा करते हैं। १६५० में, भूमि सुधार का उद्देश्य 'भूमि का स्वामी किसानों को बनाने की पद्धति

चलाना बतलाकर, घोषणा की गई थी कि किसान को अपनी जमीन का 'प्रबन्ध वह जैसे चाहे वैसे स्वतन्त्रता से करने, और उसे बेचने, खरीदने और किराये पर उठाने का भी अधिकार' दिया जायगा। (भूमि-सुधार का कानन, अनुच्छेद १ और ३०)। इसके तीन वर्ष पश्चात्, मार्च १९५३ में, फिर यह घोषणा की गई कि 'किसानों की वैयक्तिक अर्थ-व्यवस्था अभी आवश्यक रूप से बहुत समय तक चलती और फलती फूलती रहेगी। अभी तो सम्पन्न किसानों की अर्थ-व्यवस्था का भी विकास होता रहते देने की आवश्यकता है। सामान्य कार्यक्रम में बतलाया गया है कि जहां कहीं भूमि-सुधार लागू किये जायंगे वहां भूमि पर किसानों के स्वामित्व की रक्षा अवश्य की जायगी। (भूमि-सहकारिता के विषय में केन्द्रीय समिति के निर्णय, 'जेन-मीन-जिह-पाओ', पेकिंग, मार्च २६, १९५३) परन्तु १९५४ में यह नीति एकदम उलट दी गई, और नये संविधान के ८वें अनुच्छेद में घोषणा की गई कि 'सम्पन्न किसानों की अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में सरकार की नीति, उसे क्रमशः कम करके अन्त में उसका अन्त कर देने की है।' इस आकस्मिक परिवर्तन का कारण 'चीन में सहकारिता की खेती' नामक अंग्रेजी पुस्तिका का निम्न उद्धरण पढ़कर भली भांति समझ में आ जाता है, यह पुस्तिका हम सब प्रतिनिधियों को दी गई थी। "बड़े जमींदारों का अन्त कर देने के पश्चात् जमीन किसानों को बांट दी गई थी। परन्तु वे जमीन के अपने छोटे-छोटे टुकड़ों पर अब तक बिखरे पड़े हैं। जब तक यह स्थिति रहेगी तब तक इसके पूंजीपतियों का शासन लाने में सहायक बन जाने का भय रहेगा। एक नया वर्ग सम्पन्न किसानों का बन गया है। वह उन बड़े जमींदारों के चरण-चिन्हों पर चल रहा है। जो भूतकाल में किसानों का पीडन किया करते थे। वे सम्पन्न किसान एक-एक करके छोटे किसानों को निगल जायंगे। और तब भूमि पुनः शोषकों के हाथ में केन्द्रित हो जायगी।" अब यदि हम कम्युनिस्ट चीन की बाद की घटनाओं को समझना चाहें-तो यह जानना बहुत आवश्यक है कि ये भूमि-सुधार किये किस प्रकार गये थे। इन भूमि-सुधारों की नींव ही पहले जमींदारों और फिर सम्पन्न किसानों का अन्त करने पर रक्खी गई थी। हमें बतलाया गया था कि एक भी शियांग ऐसा नहीं बचा था जिसमें कुछ न कुछ सम्पन्न किसानों और जमींदारों का अन्त न किया गया हो। उसके पश्चात्, बहुत बड़ी संख्या में लोगों को प्रतिक्रिया-वादी अथवा क्रान्ति-विरोधी अथवा विनाशक अथवा कुओमिनतांग का दलाल बतलाकर या तो उनकी हत्या कर दी गई और या उन्हें दण्डित कर दिया गया। इस सबका किसान जनता के मन पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा होगा। जिस प्रकार ये भूमि-सुधार किये गये उसका हाल जानने के पश्चात् हमारे मन में यह सन्देह नहीं रह जाता कि उससे भारी भय का वातावरण उत्पन्न हो गया होगा। पेकिंग के 'फौरिन लैंग्वेज प्रेस' ने १९५१ में एक पुस्तिका अंग्रेजी में 'किसानों ने अपनी जमीन वापस कैसे पायी?' प्रकाशित की थी। उसमें एक गांव की भूमि-सुधार सभा का वर्णन निम्न प्रकार किया गया था।

"नीचे खड़ी हुई भीड ने मुक्के उठा कर एक स्वर मे आवाज लगायी: 'प्रतिक्रियावादी जमींदारों को गाड़ दो, पेंग-एर्ह-हु को गोली से उड़ा दो।"

"भीड़ ने फिर एक स्वर से आवाज लगायी 'अपनी जायदाद छिपाने वाले अपराधी जमींदारों को गाड़ दो। किसान एकता जिन्दाबाद।'

"चार बजे तक २० किसान मंच पर से अपनी शिकायतें सुना चुके थे। लोगों का जोश उबला पड़ रहा था। अचानक ही सब शान्त हो गया और लोग उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगे। (जनता की अदालत विचार करने बैठ गयी)"

"न्यायाधीश की वाणी गम्भीर थी।" किसान भाइयो, हमने अभी कुछ स्थानीय किसानों की शिकायतें सुनीं। इन्हें सुनकर आप सबको पता लग गया होगा कि जमींदार लोग किस प्रकार सदा से किसानों के शत्रुओं के साथ मिलकर काम करते आये हैं।

'हमारा फैसला तीनों अपराधी जमींदारों के लिये यह है":

'पेंग-यीन-लींग: उम्र ४९ वर्ष: रहने वाला शिनलू गांव का। यह प्रतिरोध के युद्ध के समय देशभक्त युवकों की हत्या का कारण बना था। मुक्ति के पश्चात् इसने अन्धविश्वासी सभाओं का संगठन किया और लोगों को बहकाने के लिये अफवाहें उड़ायीं। इसने विद्रोह की योजना बनाने के लिये हथियार भी छिपा रखे थे। इसकी सजा मौत है। आप सबको यह पसन्द है या नहीं?'

"मंच के नीचे से 'हां-हां' की कानों को बहरा कर देने वाली आवाजें आयीं।"

"पेंग-यीन-लींग के आंसु बह रहे थे। उसने एक हाथ से अपना मुंह छिपा रक्खा था। उसे धकेलकर ले जाया गया....."

"कैदियों को मन्दिर के दक्षिण की ओर के कब्रिस्तान में पहुंचा दिया गया। कब्रिस्तान के पीछे से कई गोलियां चलने की आवाज आयी। आवाज हवा में गूंज गयी और सारे हुइलूंग शियांग में फैल गई। दण्डित व्यक्तियों के साथ न्याय हो चुकने पर सबने सन्तोष की सांस ली।"

'प्रतिक्रियावादी जमींदार मुर्दाबाद'

'किसानों की जीत जिन्दाबाद'

'कम्युनिस्ट पार्टी जिन्दाबाद'

'राष्ट्रपति माओ-त्से-तुंग जिन्दाबाद'

"जनता ने, प्रथम बार भय और दबाव से मुक्त होकर मुक्त कण्ठ से और पूर्ण उच्च स्वर से ये नारे लगाये।"

६. हमारा इरादा इस संक्षिप्त लेख में, जमींदारी का अन्त करने के लिये अपनाये गये उपायों का विस्तार से वर्णन करने का नहीं है, परन्तु इसे सभ्य तो किसी भी प्रकार नहीं कहा जा सकता। यदि कोई पूरा हाल जानना ही चाहे तो उसका कुतूहल, १९५० में चीन में प्रकाशित 'चांग्जी डेली' और 'सदर्न डेली' आदि स्थानीय दैनिकों को पढ़कर, शान्त हो सकता है। इस प्रसंग के लिये तो, केन्द्रीय समिति के एक सदस्य श्री पोई-पो ने, २० सितम्बर, १९५२ के 'कमिन्फार्म जर्नल' में प्रकाशित एक लेख में जो लिखा था, वही उद्धृत कर देना काफी है। उन्होंने लिखा था : "गत तीन वर्षों में हम चीन में बीस लाख से अधिक डाकुओं का सफाया कर चुके हैं। अब चीन में डाकू नहीं रहे और हमारा सामाजिक जीवन शान्त तथा स्थिर हो गया है।" चीन में डाकुओं और जमींदारों का जिक्र एक ही प्रकरण में साथ-साथ किया जाता था। इसलिये यह कल्पना भली भांति की जा सकती है कि भूमि-सुधार के इन वर्षों में जिन बीस लाख डाकुओं का सफाया किया गया उनमें बहुत से जमींदार भी रहे होंगे।

७. हमारे साथियों ने 'भूमि-सुधारों के विस्तार और बारीकियों में जाना' उचित नहीं समझा। (तीसरा अध्याय, २०वां पैरा)। परन्तु हमारा ख्याल है कि भूमि-सुधार जिस प्रकार किये गये उसका साधारण जनता के मन पर कैसा प्रभाव पड़ा होगा, इसका ठीक-ठीक चित्रण करने के लिये हमने ऊपर जो विवरण दिया है उसका कुछ अंश दे देना आवश्यक था। अपने साथियों की भांति हम इतना मात्र सुनकर सन्तुष्ट नहीं हो सके कि जमींदारों के विषय में भीड़ जो निर्णय करती थी उस पर, इसी प्रयोजन से बनायी गयी अदालतें, पुर्नविचार कर लेती थीं। हमने देखा था कि कम्युनिस्ट चीन की ये जनता की अदालतें "उसी वर्ग के जनता के शासन का एक अंग मात्र हैं। और ये उसी वर्ग के जनता के शासन द्वारा निर्मित परिषदों के निरीक्षण में रहती और निर्देशों का पालन करती हैं।" (३ सितम्बर १९५२ को जनता की अदालतों के लिये बनाये गये अस्थायी नियमों पर अनुच्छेद १०)। चीन के न्याय-मंत्रीने घोषणा की थी कि "भूमि-सुधार लागू करते और प्रतिक्रियावादियों का दमन करते हुए हमने अपने शत्रुओं को करारी चोट लगा दी थी—जनता की अदालतें सचमुच जनता के जनतंत्री एकाधिकारी शासन का प्रभावशाली शस्त्र हैं।" (जेन-मीन जीह-पाओ, सितम्बर २५, १९५४)।

८. सम्भव है कि चीन में सचमुच कुछ बड़े जमींदार रहे हों, परन्तु पीछे से चीन में जिन लोगों को जमींदार बतलाया गया उनकी प्रबल बहुसंख्या की गणना, किसी भी कसौटी या तर्क से, अन्य किसी देश में जमींदारों में नहीं की जायगी। चीन में किराये पर काम करने वाले मजदूरों की या मजदूरी लेकर खेतों में मेहनत करने वाले किसानों की समस्या का महत्व अधिक था ही नहीं। चीन की कृषि के सभी बड़े-बड़े जानकारों का मत यही है। चीन के देहाती जीवन का नमूना किराये का मजदूर नहीं, "जमीन का मालिक किसान था।" (टॉनी लिखित 'लैण्ड एण्ड लेबर

इन चायना', पृ० ३४) । हमसे बातचीत करते हुए चीन के उपप्रधान मंत्री श्री तांग-शु-हुई तक ने कहा था कि 'चीन में मजदूर बहुत नहीं थे।' इसलिये हमारा विचार है कि केवल आर्थिक कारणों से, लाखों छोटे खेत-मालिकों को जमींदार और सम्पन्न किसान बतलाकर, उनके विरुद्ध कारवाई करना न्यायोचित नहीं था। इसका औचित्य केवल उनके अन्तिम लक्ष्य के आधार पर प्रतिपादित किया जा सकता है, जो कि भूमि पर निजी स्वामित्व के अधिकार का अन्त करके और किसानों की स्थिति निरे मजदूरों की बनाकर कृषि को सामुदायिक आधार पर करने का था।

संगठन की विधि

९. भूमि-सुधारों के प्रश्न पर विचार करते हुए हमने दिखलाया है कि जिस निर्दयता से इस नीति को क्रियान्वित किया गया था उसका प्रभाव ग्राम किसानों पर पड़े बिना नहीं रहा होगा। इस सम्बन्ध में भी अपने साथियों से हमारा मतभेद है। उन्होने लिखा है : 'परन्तु इस सारे कार्य में स्वेच्छा की नीति के पालन का ध्यान रक्खा गया। १९५५ के अन्त तक भी, ८ प्रतिशत से अधिक किसान-परिवार सहकारिता-संस्थाओं में सम्मिलित नहीं हुए थे। किसानों के लिय सरकार और नेताओं ने जो मार्ग निर्धारित कर दिया था उस पर उन्हें, बिना किसी प्रकार के दबाव का अनुभव होने देने के, धीरे धीरे चलाया जाता था। यात्रा के प्रत्येक पड़ाव पर प्रगति को आंक लिया जाता था और अगले पड़ाव की ओर पग पीछे की स्थिति को दृढ़ कर लेने के पश्चात् ही, बढ़ाया जाता था।' (सातवां अध्याय, ५वां पैरा)। हमारे साथियों ने एक परिणाम यह भी निकाला है कि भूमि-सुधार लागू करते हुए जो हत्या और जोर-जबरदस्ती की गयी थी उसका प्रभाव किसानों पर बहुत नहीं पड़ा होगा, उन्हें सहकारिता-संस्थाओं के काम में भी किसी प्रकार का दबाव या विवशता का भाव दिखाई नहीं दिया। परन्तु हमने स्वयं जो कुछ देखा उसके आधार पर हम सहकारिताओं की अब तक की प्रगति और उनके वर्तमान कार्य के विषय में, अपने साथियों के उक्त मत को सर्वथा अस्वीकार करते हैं। अपने मत का प्रतिपादन करने से पूर्व, हम अपने साथियों के मत में कुछ परस्पर-विरोध का प्रदर्शन कर देना चाहते हैं। उन्होंने माना है कि आज के चीन में सरकारी नीति का विरोध करना 'प्रायः कठिन' है, और फिर भी वे सहकारिता-संस्थाओं की प्रगति को स्वेच्छा-प्ररित मानते ह। स्वेच्छा का अर्थ ही कुछ नहीं रहता यदि उसमें से सरकारी नीति का विरोध करने के अधिकार को निकाल दिया जाय। स्मरण रखना चाहिये कि मुकदमों की सामूहिक सुनवाइयों और अभियोग-सभाओं का तांता भूमि-सुधार लागू हो चुकने के साथ ही समाप्त नहीं हो गया था। यह तो जिस दिन हम कैण्टन से चले उस दिन तक चल रहा था। हमें बतलाया गया था कि उस दिन जनता के न्यायालय में एक मुकदमे की सुनवाई हो रही थी। निःसन्देह , तब मुकदमा चलाने का नारा बदल चुका था। भूमि-सुधारों के जमाने में किसी भी व्यक्ति को दण्डित करने के लिये उसे 'जमींदार' बतला देना पर्याप्त था, और कौन जमींदार है कौन नहीं, इसका निर्णय करने के लिये तुरन्त ही कोई लट्ठमार तरीका तलाश कर लिया जाता था। मार्च १२, १९५१ के 'यांग्जी डेली' के अनुसार, एक कम्युनिस्ट कार्यकर्ता पूछता था : यह जमींदार है या नहीं ? भीड़ जवाब देती थी, 'हां', है। बस, फैसला हो जाता था कि वह जमींदार है। हमें सन्देह नहीं कि अब भी किसी आदमी का अन्त करने के लिये जो नारे चलाये गये हैं उनका निर्णय इसी प्रकार के तुरत-फुरत और लट्ठमार तरीकों से किया जाता होगा। अब के नारे ह : यह 'प्रतिक्रियावादी' या 'क्रान्ति-विरोधी' या 'कुओमीनतांग का दलाल' है। हमारे साथियों ने इस बात का तथ्य के रूप में उल्लेख किया है कि ८ प्रतिशत किसान-परिवार अब तक भी सहकारिता-संस्थाओं के सदस्य नहीं बने, परन्तु उन्होंने इस तथ्य की उपेक्षा कर दी कि जब हम चीन से लौटने लगे थे तब हमें बतलाया गया था कि ९६ प्रतिशत किसान-कुटुम्ब तो सहकारिताओं में सम्मिलित हो चुके हैं और १९५६ के अन्त अथवा १९५७ के वसन्त तक १०० प्रतिशत का लक्ष्य पूरा हो जाने की आशा है। इस प्रकार, किसानों को सहकारिताओं से बाहर रहने की स्वतन्त्रता होने का अर्थ ही कुछ नहीं रहता, क्योंकि उनके लिये स्वतन्त्रता से रहना सम्भव ही नहीं है। जहां खेती की पैदावार खरीदने का एकाधिकार सरकार को हो, जहां सरकार किसानों पर उनके हाथ-पांव जकड़ डालने वाले कर लगाती और उनसे चावल की नियत मात्रा वसूल करती हो, और जहाँ ऋण तथा खेती को

सामग्री देना एकमात्र सरकार के हाथ में हो और वह ये सुविधाएं स्वतन्त्र किसानों को देने से इंकार कर देती हो, वहां किसानों को निजी खेती पृथक् रूपेण करते रहने की स्वतन्त्रता देने की बात तक कहना केवल काल्पनिक हो सकता है।

१०. हमारे साथियों को, स्वेच्छा-सहयोग के सिद्धान्त पर अमल करने का दावा करने और साथी ही वर्ष प्रति वर्ष सहकारिता-संस्थाओं की संख्या के उच्च से उच्चतर लक्ष्य निर्धारित करते जाने में कोई परस्पर विरोध दिखाई नहीं देता। हमें समझ में नहीं आता कि कोई भी स्वेच्छा-प्रेरित आन्दोलन, सरकार द्वारा निर्धारित लक्ष्यों के अनुसार प्रगति कर ही कैसे सकता है। हम यहाँ (पोलैण्ड के कम्युनिस्ट नेता) गोमुल्का के २० अक्टूबर, १९५६ के प्रसिद्ध प्रतिवेदन के एक अंश की ओर संकेत करना चाहते हैं, जिसमें उसने लिखा है कि "उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाओं के विकास की किसी भी योजना में उनकी प्रगति के परिमाण का निर्देश नहीं किया जा सकता, क्योंकि सहकारिताओं में प्रवेश सदस्य स्वेच्छा पूर्वक करते हैं, और उसकी पहले से योजना बना देने का अभिप्राय मनुष्य की चेतनता की योजना बना देना होगा, जो कि सदा योजना से ऊपर रहती है।" उसी प्रतिवेदन में गोमुल्का ने लिखा है कि स्वेच्छा सहयोग का अर्थ है कि हम 'न केवल धमकियों या मानसिक दबाव का, अपितु आर्थिक दबाव का भी परित्याग' कर देते हैं। कर लगाना और अन्न देने की मात्रा नियत करना भी, किसी को विवश करने के साधन हो सकते हैं।

११. हमारे साथियों का विचार है कि भूमि-सुधारों पर अमल करते हुए हिंसा का जो व्यापक प्रयोग किया गया था उससे जमींदारों के मन में भले ही भय का संचार हुआ हो, निर्धन किसानों को उससे डर नहीं लगा होगा। हम यह नहीं समझ सके कि जिस भय और आँतक का इतना प्रचार किया गया था उसका प्रभाव विभिन्न वर्गों के मन और हृदय पर विभिन्न कैसे पड़ा होगा। जैसा कि हमने ऊपर लिखा है, चीनी भी यह दावा नहीं करते कि भूमि-सुधार और सामुदायिक कृषि के आन्दोलन हिंसा से मुक्त थे।

१२. हम यह भी पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि चीनी सरकार का लक्ष्य ही कृषि को समाजवादी बनाना था। इस कारण चीन-सरकार के लिये आवश्यक था कि वह हरेक नयी मंजिल के गुणों का बखान करती, परन्तु ज्यों ही वह अगली मंजिल की तरफ बढ़ने लगती त्यों ही उसी मंजिल की निन्दा करने लगती। इसके लिये उसने यह तरीका अपनाया था कि जिस मंजिल को वह छोड़ना चाहती थी उसका निन्दा के पत्र समाचारपत्रों आदि में-प्रकाशित करवाने लगती थी।

१३. इस प्रकार के पत्रों को कम्युनिस्ट समाचारपत्रों में बड़ी प्रमुखता से प्रकाशित किया जाता था। स्वयं पार्टी के नेता तक लेख लिखते थे। तब सरकार आगे आती और ऐसा दिखलाती थी कि वह लोगों की इच्छा के आगे झुकने को तैयार है। परन्तु हमें अपने साथियों की यह बात समझ में नहीं आती कि उन्होंने प्रत्येक मंजिल की पहले प्रशंसा और पीछे निन्दा, दोनों को एक साथ पसन्द कैसे कर डाला। इस प्रकार, उन्होंने पहले तो भूमि के इस प्रकार वितरण की प्रशंसा की कि गांव में प्रत्येक किसान कुटुम्ब को भूमि मिल जाय और किसी को भी औसत से दुगनी भूमि न मिले। उन्होंने इस बात की भी प्रशंसा की कि 'भूमि-सुधारों के कारण ऐसी समस्या उत्पन्न हो गयी थी कि उसका हल केवल परस्पर-सहायक दलों का संगठन करने से हो सकता था।' उन्होंने इस प्रसंग में परस्पर-सहायक दलों के लाभ, अर्थात् उत्पादन में वृद्धि, गहरी जुताई, काम करने वालों को खास खास कामों का अभ्यास हो जाना और आवश्यक कामों का मिल जाना आदि तक गिना दिये हैं। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने जमीनों के मालिकों और सहायक दलों के कार्यकर्ताओं में स्वार्थों की टक्कर हो जाने के कारण, उनके आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं में परिणत हो जाने की भी प्रशंसा कर डाली है। और इसमें उन्होंने आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं के लाभों की गिनती कर डाली है: अर्थात्, फसलों की योजना भली प्रकार बनायी जा सकना, जो जमीन जिस फसल के योग्य हो उसमें उसका बोया जा सकना, स्थायी सुधार कर सकने की सुविधाएं, श्रम का अधिक अच्छा विभाजन और उपयोग हो सकना, खेतों को एक दूसरे से पृथक् करने वाली डोलों के न रहने के कारण खेती की जमीन का विस्तार हो जाना आदि। साथ ही, उस विचार का समर्थन कर दिया है कि पृथक्-पृथक् भूमि-खण्डों के स्वामी पृथक्-पृथक् रहने पर सम्मिलित प्रबन्ध के लाभ पूरी तरह नहीं उठाये जा सकते। इस प्रकार, एक स्थिति से दूसरी में परिवर्तन

का अर्थ, बिना सोच विचार के, ठीक वहीलगा दिया गया है जोकि चीन के अधिकारियों ने लगाया था, और उन सब स्थितियों में से, अन्तिम रूप से सन्तोषजन केवल पूर्णतया सामुदायिक खेती को) ठहरा दिया गया है। हमने लीएनमीनसहकारिता-संस्था, के अध्यक्ष श्री चेन-यूंग-कॉंग से (वह चीनी संसद् के सदस्य भी थे) बार-बार पूछा था कि आरम्भिकसहकारिता-संस्थाओं को समुन्नत या अथवा सामुदायिक सहकारिताओं में परिवर्तित करने की आवश्यकता क्यों हुई, परन्तु हमें अन्ततक न तो इस प्रश्न का कोई सन्तोषजनक उत्तर मिल सका, और न वह हमारे इस तर्क का खण्डन कर सके कि जो लाभ समुन्नत सहकारिता-संस्था से मिलते हैं वे सब जब आरम्भिक से भी मिल जाते हैं तो यह अनावश्यक परिवर्तन किया ही क्यों जाय। उन्होंने इतना अवश्य कहा था कि यदि पृथक् भू-खण्डों के स्वामी पृथक्-पृथक् रहेंगे तो उन्हें अपने-अपने भू-खण्ड का मोह बना रहेगा। अपनी बात के समर्थन में उन्होंने एक उदाहरण भी दिया था कि जब जुताई ट्रैक्टर से की जाने लगी तब कुछ सदस्यों ने उसका विरोध किया था और अपने-भू-खण्ड की सीमा प्रकट करने के लिये लकड़ी की खूँटियाँ गाड़ दी थीं। इस पर हमने उनसे कहा था कि जो सदस्य यहाँ तक बढ़ गये थे वे आरम्भिक सहकारिता की सदस्यता छोड़कर समुन्नत सहकारिता में भी स्वेछा से सम्मिलित नहीं हुए होंगे। इसका उत्तर उनसे कुछ नहीं बन पड़ा था। हाँ, उस समय उपस्थित कम्युनिस्ट पार्टी के एक सदस्य ने यह जवाब अवश्य दिया था कि 'सहकारिता-संस्थायें संगठित हो चुकने पर श्रम करना सम्मान का काम हो जाता है और किसान लोग भूमि के स्वामित्व का परित्याग प्रसन्नता से कर देते हैं।' इस उत्तर का अभिप्राय चाहे जो हो, सहकारिता-संस्थाओं के सम्बन्ध में चीन सरकार का भाव, माओ-त्से-तुंग की पुस्तक 'सिलेक्टेड वर्क्स' से उद्धृत इस वाक्य से भलीभांति समझा जा सकता है: 'किसानों में हजारों वर्षों से उत्पादन व्यक्तिशः करने की परम्परा चली आ रही है। उसके अनुसार गृहस्थ या कुटुम्ब ही उत्पादन की इकाई माना जाता है। इन उत्पादक इकाइयों के बिखरा रहने के कारण ही जागीरदारों और जमींदारों की हुकूमत की नींव पड़ी, और किसान सदा के लिये निर्धनता में डूब गये। इस परिस्थिति को सुधारने का एकमात्र उपाय सामुदायिक खेती है, और लेनिन के अनुसार, सामुदायिकता की स्थापना सहकारिताओं के द्वारा की जा सकती है।"

१४. यह देखकर हमें आश्चर्य, और हमारा कुछ मनोरंजन भी, हुआ कि चीनी सहकारिता-संस्थाओं के संगठन में, हमारे साथियों को, स्वयं चीनियों की उपेक्षा भी अधिक 'स्वेच्छा-सहयोग' दिखलाई पड़ा। कुछ ही वर्ष पूर्व, १९५२ में, उत्तर-पूर्वी प्रदेश के जन-शासन के अध्यक्ष श्री काओ-कॉंग ने अपने एक प्रतिवेदन में लिखा था कि 'जिन जिलों में परिस्थितियाँ अभी सहकारिता-संस्थाओं की स्थापना करने के लिये अनुकूल नहीं बनीं और जिनमें कार्यकर्ताओं ने इनकी स्थापना करते हुए बल और दबाव तक का प्रयोग कर डाला है, उनमें इन्हें पुनः परस्पर-सहायक-दलों में परिवर्तित कर देना पड़ेगा।' (काओ-कॉंग का प्रतिवेदन, अप्रैल ७, १९५२, शीन-ह्वा एजन्सी, मुकदन, अप्रैल २६, १९५२)। १९५१ में वर्ष भर और १९५२ के आरम्भिक मासों में, चीन के कम्युनिस्ट पत्रों में इस प्रकार के समाचार निरन्तर निकलते रहे थे, परन्तु अक्टूबर १९५२ में कृषिमन्त्री ने देहाती कार्यकर्ताओं का एक राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया और उसमें सहकारिता-संस्थाएं स्थापित करने का प्रयत्न एक बार पुनः करके देखने का निश्चय किया गया। इसका फल यह हुआ कि १९५३ के बसन्त तक सहकारिता-संस्थाओं की संख्या दुगने से भी अधिक अर्थात् ९००० हो गयी। इस समय फिर नये-नये कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं पर अन्धे जोश से काम करने और स्वेच्छा के सिद्धान्त का उल्लंघन करने के आक्षेप किये गये कहा गया :

"१९५२ के शरद् और १९५३ के बसन्त के मध्य में फिर नीति का उल्लंघन करके, सहकारिताओं की स्थापना आँख मींच कर, जोश और जल्दबाजी में की गयी। उदाहरणार्थ, उत्तरी चीन में नीति के उल्लंघन ने बहुत गम्भीर रूप धारण कर लिया था———" (शीन-ह्वा एजन्सी, पेकिंग, जून १९५३)।

१५. इस प्रकार की अनेक शिकायतें प्रकाशित हुई थीं। उन्हें चीनी समाचार पत्रों में पढ़ा जा सकता है। स्पष्ट है कि इस समय किसानों का विरोध बढ़ता जा रहा था। किसानों के इस विरोध की पुष्टि, कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति द्वारा मार्च १९५३ में प्रकाशित "बसन्त ऋतु की फसलें बोने के लिये हिदायतें" से भी होती है। उसमें लिखा गया था :

"यदि सहकारिताओं की स्थापना के लिए बिना सोचे-विचारे जल्दबाजी करने और झगड़े खड़े कर बैठने की प्रवृत्तियों को रोकने के प्रभावशाली उपाय न किये गये तो खेती की पैदावार बढ़ाने में किसानों से उत्साह-पूर्वक भाग लेने की आशां पूरी नहीं हो सकेगी। भूमि-सुधार के तुरन्त पश्चात्, कई इलाकों में किसानों ने भय प्रकट किया था कि हमारे खेतों को भी सरकार अपनी सम्पत्ति बना लेगी। किसान को सहकारिता का रूप ही यह बतलाने लगे हैं: अस्तबल तो बड़ा-सा, पर पशु एक भी नहीं, पैदावार खूब पर नफा थोड़ा और देनदारी घनी सारी।" (पेकिंग के 'जेन-मीन-जीह पाओ' के मार्च २६, १९५३ के अंक में प्रकाशित, कृषि-सहकारिताओं के सम्बन्ध में फरवरी १५, १९५३ को किया हुआ केन्द्रीय समिति का निर्णय)।

लगभग उसी समय, कैण्टन के 'सदर्न डेली' ने लिखा था : "किसान डरते हैं कि हमने उत्पादन बढ़ाया तो हमारे सिर का बोझ भी उसी हिसाब से बढ़ जायगा। उन्हें डर है कि हमारी जमीन व जायदाद को जब्त करके समुदाय और समाज की सम्पत्ति बना डाला जायगा। वे सम्पन्न समझा जाने से डरते हैं और निर्धन माने जाने पर प्रसन्न होते हैं। इसलिए, मध्यम किसान तो अपनी खेती की उन्नति करने में झिझकते हैं और सम्पन्न किसान तथा जमींदार, अपने विरुद्ध संघर्ष के भय से खेत बोते ही नहीं।" ('नानफैंग-जीन पाओ' कैण्टन, जून २६, १९५३)।

१६. किसानों के इस विरोध का और उसके कारण होने वाली उत्पादन में न्यूनतम का प्रभाव, भारी उद्योगों की स्थापना पर भी पड़ने लगा था। इसी कारण, सरकार को अन्न एकत्र करने पर नियन्त्रण कठोरता कर देना पड़ा। यह स्पष्ट कर दिया गया कि 'अन्न का योजना-पूर्वक क्रय तथा वितरण करने और सट्टेबाजी तथा बरबादी को रोकने की नीति को पूर्णतया सफल बनाने के लिये, केवल समझानां बुझाना, प्रचार करना और आर्थिक उपायों का प्रयोग करना पर्याप्त नहीं है। इन उपायों के साथ-साथ गम्भीर अपराधों के अपराधी बदमाशों को कठोर दण्ड देने के लिये जनता के न्यायालयों, विभिन्न मन्त्रालयों और जन-रक्षा-संगठनों को कानूनी हथियारों का प्रयोग भी करना चाहिए।" बाजारों का नियन्त्रण करने के नियमों के अनुच्छेद सं० ९ में बतलाया गया है कि अपराधियों को दण्ड, क्रान्ति के विरोध का दमन करने के लिये फरवरी २१,१९५१ को बनाये गये कानून के अनुसार, दिया जायगा। और इस कानून के अनुच्छेद १० में, अन्न-संग्रह का विरोध करने वाले के लिए मृत्यु-दण्ड विहित है।

१७. इतने उद्धरण यह सिद्ध कर दिखाने के लिये पर्याप्त हैं कि किसानों ने सहकारिता-संस्थायें बनाने का विरोध किया था। यह विरोध कितना प्रबल था, इसका ठीक-ठीक अन्दाजा तो पेकिंग और तीन सीन आदि नगरों के दैनिकों में समय-समय पर प्रकाशित हुए समाचार, लेख और विवरण पढ़ कर ही लग सकता है।

१८. प्रतीत होता है कि किसानों के विरोध की तीव्रता के कारण कम्युनिस्ट पार्टी लड़खड़ा गयी थी, और इसीलिये जुलाई, ३०, १९५५ को समाप्त हुई जन-काँग्रेस में निश्चय किया गया कि १९५७ के अन्त तक सहकारिताओं के विस्तार का लक्ष्य घटाकर, ५० प्रतिशत के स्थान पर ३३ प्रतिशत किसान-कुटुम्बों तक सीमित कर दिया जाय। परन्तु अगले ही दिन, पार्टी के सचिवों की एक विशेष बैठक में, माओ-त्से-तुंग ने सारी नीति को फिर बदल डाला और कहां कि १९६० के अन्त तक ८० प्रतिशत किसान-कुटुम्ब सहकारिताओं के घेरे में आ जाने चाहिएं। बाद को, केन्द्रीय समिति ने इस लक्ष्य को और भी ऊंचा उठा दिया और निर्णय किया कि १९६० के अन्त तक भूमियों के सामुदायिकीकरण का कार्य पूर्ण हो चुकना चाहिए।

१९. हमारे साथियों ने सामुदायिकीकरण के बढ़ते हुए प्रभाव का वर्णन, 'उमड़ती हुई बाढ़' के रूप में किया है। स्वयं कम्युनिस्टों द्वारा यह घोषणा करनेके पश्चात् भी कि 'कृषि को सहकारिताओं में संगठित करने का कार्य करते हुए, भूमि-सुधार के कार्य की अपेक्षा भी अधिक तीव्र और उलझन-भरे वर्ग-संघर्ष में से गुजरना पड़ता है" (जैन-मीन-जीह पाओ, अक्टूबर ३०, १९५५), हमारे साथियों ने बतलाया है कि यह काम पूर्ण स्वेच्छा-सहयोग से किया गया था उनके इस कथन का पूरा अभिप्राय तब जाकर स्पष्ट होगा जब हम ध्यान देकर यह स्मरण करेंगे कि भूमि-सुधारों के समय वर्ग-संघर्ष ने क्या रूप धारण कर लिया था। जानवरी १९५६ में एक पत्र ने लिखा था : "शोषक और पीडक

वर्ग अपना अन्त बिना विरोध के तो होने देगा ही नहीं, इसलिए ज्यों-ज्यों सहकारिताओं के संगठन का कार्य बढ़ता जायगा त्यों-त्यों क्रान्ति-विरोधियों के विनाशक कार्य भी दिन-प्रति-दिन इस आन्दोलन के विरुद्ध केन्द्रित होते जायंगे। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि शीएन में सहकारिता-आन्दोलन को नष्ट करने के क्रान्ति-विरोधियों के कार्यों की संख्या निरन्तर बढ़ती चली गयी थी। उदाहरणार्थ, लियाउनींग प्रान्त में गत शरद ऋतु में विनाश के कार्य गत वर्ष के इसी समय की अपेक्षा अधिक हुए थे। अन्य प्रान्तों में भी स्थिति इसी प्रकार की रही होगी। इसके अतिरिक्त, शत्रु के विनाश करने के उपाय क्रूर से क्रूरतर होते जा रहे हैं। उदाहरणार्थ, होनान प्रान्त के शीएन शियुंग की चौबीसवी कृषि-सहकारिता संस्था के २७ पशु विष दे कर मार डाले गये। इसी प्रकार की घटनायें हाल में अन्य प्रान्तों में भी हुई हैं।" (चेंग-चीह-शुएह-क्सी, जनवरी १३, १९५६)।

"क्रान्ति विरोधी चेंग-फू-पा को मृत्यु-दण्ड दिया गया। उसे यह दण्ड फूकीन के प्रान्तिक न्यायालय ने २५ दिसम्बर १९५५ को सुनाया। उसने कृषि-सहकारिता संस्थायें बनाने का आन्दोलन नष्ट करने के लिये ग्राम और जिला संगठन कर्ताओं को मार डालने का षडयंत्र रचा था। दण्ड सुनाते ही अपराधी को वध्य-स्थल पर ले जाया गया। उसका मुकदमा पांच हजार जनता की उपस्थिती में सुना गया था और उन सबने एक स्वर से इस निर्णय का समर्थन किया था।" (फूचौ, 'फूकीन-जीह पाओ', जनवरी १३, १९५६)

२०. हमने अधिकृत सूत्रों के उद्धरण देकर यह दिखलाने का यत्न किया है कि यह आन्दोलन स्वेच्छा-प्रेरित किसी भी प्रकार नहीं था और चीन में भूमि पर राष्ट्र का अधिकार भारी हिंसा और संघर्ष में से गुजरने के पश्चात् ही हो सका। स्वयं मन्त्री श्री लियाऊ ने हमारे साथ बात चीत में माना था कि 'यह बात नहीं कि दबाव की घटना एक भी नहीं हुई, कुछ साथियों को दबाव डालना पड़ा था।' उन्होंने यह भी कहा था कि 'सम्पन्न किसान अपनी भूमि अपने पास रखने का अभिलाशी होता है। इस कारण वह चुपचाप सहकारिता में सम्मिलित हो जाता है। क्योंकि वह जमींदारों का अन्त होते देख चुका होता है, और उसे अपने साथ भी उसी प्रकार की कारवाई होने का भय रहता है।' हमारे साथ अपनी अन्तिम बातचीत में उन्होंने कहा था कि 'हमारा विचार है कि सम्पन्न किसानों, जमींदारों और पुंजीपतियों को केवल निश्चय करवा देना पर्याप्त नहीं होता। इन लोगों का वर्ग ही ऐसा है कि केवल समझा-बुझाकर इनका परिवर्तन नहीं किया जा सकता।' जब उनसे इस सम्बन्ध में और भी पूछ-ताछ की गयी तब उन्होंने स्पष्ट और निःसंकोच कह दिया : "हमारे मित्र और हमारे विचार में भिन्नता है, इस कार्य मेरा ख्याल है कि इस प्रश्न पर अधिक विवाद करने से लाभ नहीं होगा।"

हमें भी क्या इस विषय की चर्चा और करनी चाहिए?

सहकारिता-संस्थाओं का अमल

२१. हमारी सम्मति में, चीन की तथाकथित कृषि-सहकारिता-संस्थाओं के संगठन और अमल न तो लोकतन्त्री हैं और न स्वेच्छा-प्रेरित। हमें बतलाया गया था कि सहकारिता-संस्थाओं की कार्यकारिणी-समितियों, विशेषतः निरीक्षक समितियों में, यहां तक कि प्रत्येक श्रमिक-दल तक में, कुछ न कुछ चुस्त कम्युनिस्ट व्यक्ति अवश्य रक्खे जाते हैं। सचाई तो यह है कि कार्यकारिणी समिति और पदाधिकारियों का निर्वाचन लोकतन्त्री प्रणाली मे होता ही नहीं, क्योंकि निर्वाचन उन्हीं नामों में से करना पड़ता है जो कम्युनिस्ट पार्टी बतला देती है। हमें तो लगा कि कम्युनिस्ट पार्टी ही कठोरता-पूर्वक सारे आन्दोलन का नियन्त्रण करती है। एक भी काम ऐसा नहीं जो कम्युनिस्ट पार्टी और सरकार के निरीक्षण में न होता हो। और व्यावहारिक दृष्टि से इन दोनों में कोई अन्तर नही है। इस प्रकार फसलों का चुनाव तक सरकार की स्वीकृति से करना पड़ता है। सरकार ही बतलाती है कि कौन सहकारिता-संस्था क्या फसल, कहां, कब, और कितनी मात्रा में बोवे। वही उसकी बिक्री का मूल्य तय करती और वही यह निश्चय करती है कि मूल्य वसूल कहां और कैसे होगा।

२२. जैसा कि मुख्य प्रतिवेदन में भी बतलाया गया है, सहकारिता-संस्थाओं के हिसाब किताब की दशा अत्यन्त असन्तोषजनक थी। जिन व्यक्तियों को इन संस्थाओं का मुनीम बनाया जाता था उनका प्रशिक्षण बहुत ही सरसरी होता था और उसे भारत की किसी छोटे गांव की सहकारिता-संस्था के लिये भी पर्याप्त नहीं माना जायगा। हमने देखा था कि हिसाब की बहियां कई-कई दिन तक नहीं लिखी जाती थीं। कहीं-कहीं तो वे बिल्कुल ही नहीं लिखी गयी थीं। समितियों की बैठकों का महत्व कितना समझा जाता था इसका अन्दाजा इतने मात्र से लगा लीजिए कि उनकी कारवाई किसी पुस्तक में नहीं लिखी जाती थी। जब हमने पूछा तो हमें बतलाया गया कि कारवाई प्रायः कमरे में लिखकर लगा दी जाती है। परन्तु जब हमने उसे देखना चाहा तो वे उसे दिखला नहीं सके। प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं के अभाव का अन्दाजा इस एक उदाहरण से ही लग सकता है कि एक जिला बैंक का मैनेजर एक ऐसा भूतपूर्व कम्युनिस्ट सैनिक पदाधिकारी था जो इतना भी नहीं जानता था कि हिस्सेदारों की पूंजी क्या होती है।

२३. हम पीछे अपना यह मत प्रकट कर आये हैं कि चीनियों का सहकारिता-संस्थाएं बनाने का मुख्य उद्देश्य ही भूमि पर व्यक्तियों के निजी स्वामित्व की समाप्ति करके, सामुदायिक कृषि का चलन करना है। हमारे इस विचार की पुष्टि , उनकी छोटी सहकारिताओं के स्थान पर बड़ी सहकारिताएं संगठित करने की नीति से भी, हो जाती है। जैसा कि स्वयं माओ-त्से-तुंग ने कहा है, सहकारिताएं तो सामुदायिक कृषि की ओर बढ़ने के मार्ग का एक पड़ाव मात्र हैं, और इसलिए सरकार का सारा प्रयत्न उन्हें अपने निकटतम और कठोरतम नियन्त्रण में रखने का रहता है। चीन सरकार का यह अनुभव होते हुए भी कि सहकारिता की बड़ी इकाई, जमीन की जुताई के लिये उपयोगी नहीं हो सकती, वह छोटी सहकारिताओं को बड़ी सहकारिताओं में संगठित करती जा रही है, यद्यपि इन सब बड़ी सहकारिताओं में जमीन को जुताई के लिये फिर खण्ड-खण्ड करके छोटे दलों को बांटना पड़ता है। ये दल अपना कार्य करते हुए एक दूसरे से प्रायः स्वतन्त्र रहते हैं। इस व्यवस्था का अन्तिम परिणाम यह होगा कि इन दलों के अधिकारी निरीक्षक मात्र रह जायंगे, वे स्वयं उत्पादन के काम में कुछ भी भाग नहीं लेंगे। यह भय स्वयं चीनियों को भी है, जैसा कि पेकिंग के पत्र 'जेन-मीन-जीह पाओ' के सितम्बर १४, १९५२ के अंत में प्रकाशित निम्न लेख से प्रकट होता है :

"हमारी सहकारिता-संस्थाओं के कुछ नौजवान नेता परेशान हैं कि उन्हें उत्पादन के कार्य का नेतृत्व करने के साथ-साथ खेतों में भी काम करना पड़ता है। वे सोचते हैं कि हमें छोटी सहकारिताओं के नेता बनकर भी यदि इतना कार्य-व्यस्त रहना पड़ता है तो जब बड़े-बड़े सामुदायिक खेत कायम हो जायंगे और हम बड़ी-बड़ी सहकारिताओं के अध्यक्ष चुने जायंगे तब हम कार्य का निर्वाह किस प्रकार करेंगे। यदि उन्होंने सोवियत संघ में जाकर देखा होता तो उन्हें पता लग जाता कि जब बड़े सामुदायिक खेत कायम किये जाते हैं तब नेताओं के पास उत्पादन को संगठित करने का कार्य ही इतना भारी हो जाता है कि खेत का अध्यक्ष केवल दिमागी काम कर पाता है, वह खेत का काम बिल्कुल नहीं करता—खेत के दल के और पशु-पालन-केन्द्र के नेताओं को पारिश्रमिक, उनकी निगरानी में रक्खे हुए खेत के क्षेत्र-फल, पशुओं की संख्या अथवा उत्पादन के परिमाण के अनुसार दिया जाता है—पशु-पालन-केन्द्र का नेता भी उत्पादन का कार्य स्वयं नहीं करता—अध्यक्ष, मुखिया और विशेषज्ञों का मूल्य खेत के लिये बड़ा भारी पड़ता है, क्योंकि उनके काम का खेत पर और उत्पादन की अवस्था और परिमाण पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इसलिये उनका परिश्रमिक भी औसत खेत-मजदूरों से अधिक होता है।"

२४. हमारे साथियों ने, चीन के काम के पैमाने की भी बड़ी प्रशंसा की है। परन्तु हमें निश्चय है कि इस पर चीन में जिस प्रकार अमल किया जा रहा है उससे किसान निरे औजार बन जायंगे, और खेती के पेशे की स्वतः-स्फूर्ति से काम में लगने की जो निराली विशेषता है वह नष्ट हो जायगी। चीन में काम के पैमानों की प्रणाली पर जिस तरह अमल हो रहा है वह पूंजीपतियों के कारखानों की काम के दर की प्रणाली से भी आगे बढ़ गया है, क्योंकि इसके अनुसार जो व्यक्ति

काम का नियत पैमाना पूरा नहीं कर पायेगा उसे न केवल कम काम करने के कारण हिसाब से कम पारिश्रमिक मिलेगा, वह इसी कारण दण्डित भी हो जायगा। हम तो यह कल्पना तक नहीं कर सकते कि इस प्रणाली से काम करके किसान की स्वतन्त्रता कुछ शेष रह जायगी।

२५. यह ठीक है कि हमने कई सहकारिता-संस्थाओं में परिवारों की निजी क्यारियां भी देखी थीं, और जैसा कि हमारे साथियों ने लिखा है, 'इन क्यारियों को बड़ी सावधानता और सुन्दरता से बोया हुआ था और इनमें से कइयों में बढ़िया सब्जी को खूब बढ़ता देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता था।' परन्तु इन क्यारियों की जिस सावधानतापूर्ण बुवाई और उपज की उत्कृष्टता का हम सब पर इतना गहरा असर पड़ा उससे वस्तुत: हमारे साथियों की उस आलोचना का आप से आप उत्तर मिल जाता है जो कि उन्होंने अन्यत्र कौटुम्बिक खेती की की है।

उत्पादन की वृद्धि में सहकारिता-संस्थाओं का भाग

२६. अब हम इस केन्द्रीय प्रश्न पर विचार करते हैं कि चीन के कृषि-उत्पादन में गत कुछ वर्षों में तथाकथित सहकारिता की खेती से कितनी वृद्धि हुई है। हमारा विचार तो यह है कि ऐसी कोई भी कल्पना कि चीन के कृषि-उत्पादन में सारी या कुछ भी वृद्धि केवल सहकारिता की खेती के कारण हुई है, सवथा निराधार है। इससे तो हम भी इनकार नहीं करते कि उत्पादन में कुछ वृद्धि हुई है, परन्तु चीन का आंकड़ों का हिसाब अति असन्तोषजनक होने के कारण यह बतलाना बड़ा कठिन है कि वृद्धि ठीक-ठीक कितनी हुई है। हमारा ख्याल है कि वृद्धि होने के कारण अनेक हैं। दसियों बरसों के बाद, १९४९ में पहली बार चीन को अपने देश में स्थायी सरकार होने का लाभ मिला था। गृह-युद्ध के कारण चीन टुकड़े-टुकड़े हो गया था और विदेशी आक्रमण तथा सदा परस्पर लड़ते रहने वाले सेनापतियों ने उसे प्राय: उजाड़ डाला था। चीनी किसान को बेचारे को यह निश्चय तक नहीं रहता था कि जो फसल मैं बो रहा हूं उसे मैं काट भी सकूंगा या नहीं, और यदि काट लूंगा तो उसका उपभोग करने के लिये जीवित रहूंगा या नहीं। उसे टेक्निकल सलाह देने वाला कोई नहीं था, बीज का प्रबन्ध उसे स्वयं करना पड़ता और उधार उसे असम्भव व्याज-दर पर मिल पाता था। १९४९ में चीन का कृषि-उत्पादन निम्नतम स्तर तक गिर गया था और इस कारण शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना हो जाने पर उसमें वृद्धि का होना अनिवार्य ही था। इसके साथ जब टेक्निकल सलाह, खेती की अच्छी विधियों, सिंचाई की अधिक सुविधाओं, अच्छे बीजों, अच्छे औजारों और फसलों की सुरक्षा का भी मेल हो गया तब उत्पादन पर उसका अति लाभदायक प्रभाव पड़ा। उत्पादन बढ़ाने में किसान की रुचि उत्पन्न करने के लिये यह एक अनिवार्य आवश्यकता होती है कि खेती के लिये सरकार द्वारा सब प्रकार की अनुकूल व्यवस्था कर दी जाय।

२७. परन्तु हम यह स्वीकार नहीं करते कि उत्पादन की व्यवस्था सामुदायिक आधार पर प्रतिष्ठित कर देना मात्र उत्पादन में वृद्धि करने का सर्वोत्कृष्ट साधन है। इसके विपरीत, हमारा भारत का अनुभव यह है कि इसका प्रभाव उत्पादन पर प्रतिकूल पड़ने लगता है, और शायद इसी कारण चीनियों को काम के पैमानों की प्रणाली लागू करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। दूसरी ओर, कौटुम्बिक कृषि की पद्धति में उत्पादन बढ़ाने का प्रत्यक्ष लाभ स्वयं किसान को मिलता है, इस कारण हमारा विचार तो यह है कि उत्पादन बढ़ाने के लिये वास्तविक आवश्यकता, सरकार और सहकारिता-संस्थाओं की मारफत, किसान को टेक्निकल सलाह, पूंजी तथा माल की बिक्री आदि मामलों में संगठन-पूर्वक सहायता देने की है।

२८. इस प्रसंग में, चीनी अधिकारियों ने हमें चीन में उत्पादन में जो वृद्धि हुई बतलायी उसकी तुलना, भारत में हुई उत्पादन-वृद्धि के साथ करना, कुछ मनोरंजक होगा। चीन में अन्नों का उत्पादन, १९५२ में युद्ध-पूर्व काल के समान होने लगा था। हमें बतलाया गया था कि उस वर्ष वहाँ १६ करोड़ ३० लाख टन अन्न उत्पन्न हुआ था। १९५५ के उत्पादन का अंक १८ करोड़ ३० लाख टन बतलाया गया था। इस हिसाब से उत्पादन में वृद्धि १२·४ प्रतिशत हुई निकलती है। परन्तु इसी कालावधि में, बोयी गयी भूमि के क्षेत्रफल में भी, ४·६ प्रतिशत वृद्धि हो गयी थी। यदि इस तथ्य को

भी गणना में सम्मिलित कर लिया जाय तो १९५२ की तुलना में १९५५ के उत्पादन की वृद्धि केवल ७.५ प्रतिशत रह जाती है। इसके विपरीत, भारत में १९५०-५१ के उत्पादन को गणना का आधार माना जाय तो यहाँ १९५३-५४ में उत्पादन की वृद्धि का अंक ३७.४ निकलता है। पुराने बम्बई राज्य में, १९४९-५१ की कालावधि में अन्न के उत्पादन में वृद्धि २२ प्रतिशत हुई थी, और कपास तथा तिलहनों के उत्पादन में तो और भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई थी, उसके अंक क्रमशः १३० और ९७ प्रतिशत थे। इस वृद्धि में, जमींदारी की समाप्ति भले ही सहायक हुई होगी, कृषि के उत्पादन का सामुदायिकीकरण तो यहाँ हुआ ही नहीं था। तब तक हमारे यहाँ सहकारिता संस्थाओं की मारफत किसानों को ऋण देने और उनका माल बाजार में बेचने के कार्यक्रम बनकर तयार नहीं हुए थे। जापान और हमारे देश के अनुभवों से स्पष्ट प्रकट होता है कि कृषि के सामुदायिकीकरण के बिना भी उत्पादन में बहुतेरी वृद्धि की जा सकती है। इस कारण, चीन में उत्पादन में वृद्धि होने के जो आँकड़े हमें बतलाये गये उनका हमारे मन पर प्रभाव नहीं पड़ा, और उनसे उनका यह दावा भी साधार नहीं बनता कि इस वृद्धि का बहुत-सा भाग सामुदायिक आधार पर खेती करने के कारण हुआ था। हम अपने साथियों के इस विचार से तो निश्चित रूपेण असहमत हैं कि "१९५४ के उत्पादन में वृद्धि का कुछ भाग, १९५५ की वृद्धि का खासा भाग, और १९५६ की वृद्धि का बहुत बड़ा भाग सहकारिता की खेती के द्वारा सम्पन्न हुआ था।" (छठे अध्याय का छठा पैरा)। यद्यपि यह सर्वथा सन्दिग्ध है, तो भी हमारे पास यह निर्णय करने के साधन कोई नहीं है कि यह सफलता निम्न प्रकार की किन सहकारिता-संस्थाओं के कारण हुई थी, क्योंकि जनवरी १९५६ तक भी चीन में कृषिसहकारिता-संस्थाए अपने आरम्भिक रूप में ही थीं और क्रमशः निम्न से उच्चतर रूप में अर्थात् सामुदायिक सहकारिताओं में परिणत हो रही थीं। इसलिए, उत्पादन में वृद्धि का कोई भी अंश, उच्चतर सहकारिता संस्थाओं अथवा सामुदायिक सहकारिताओं के कारण सम्पन्न हुआ नहीं माना जा सकता।

२९. हम पीछे जो कुछ लिख आये हैं उसके सम्बन्ध में किसी को कोई भ्रम न रह जाय, इसलिए चीनी कृषि के कुछ पहलुओं को अधिक स्पष्टतया से समझा देने की आवश्यकता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि सब मिलाकर चीनी किसान औसत भारतीय किसान की अपेक्षा, कहीं अधिक कुशल और परिश्रमी है। अपने परिश्रमी स्वभाव के कारण ही चीनी किसान भूमि की प्रति इकाई में इतना उत्पादन कर लेता है कि हमें भारत में वह असाधारण सन्तोषजनक प्रतीत होता है। चीनी खती का यह पहलू कोई नया नहीं है, भूतकाल में भी अनेक लेखकों ने इसकी चर्चा की है। हमने स्वयं देखा था कि चीनी किसान जिस जमीन पर खेती करते थे उसे सुधारने के लिये वे भारी प्रयत्न करते थे। इसका जिक्र मुख्य प्रतिवेदन में भी किया गया है, और हम उसका अधिक वर्णन करना अनावश्यक समझते हैं। चीनी लोग कितना कठोर परिश्रम करते हैं इसका कुछ अन्दाजा इतना जान लेने मात्र से लग सकता है कि चीन में पुराने खेतों को फिर उपजाऊ बनाने के लिये टनों मिट्टी उनमें डाल दी जाती है, यहाँ तक कि छोटी पहाड़ियाँ खतम होकर नीचे से नये खेत निकल आते हैं, यदि मिट्टी ही भारी हो तो जमीन की आवश्यकता केवल फसल को खड़ा रखने के लिये पड़ती है, यदि फसल खड़ी रखने का कोई और उपाय निकल आवे तो शायद चीनियों को जमीन की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। निःसन्देह, यह अत्युक्ति है, परन्य इससे प्रकट होता है कि चीनी लोग खाद और उर्वरकों की कीमत कितनी ज्यादा समझते हैं। उनके परिश्रमी स्वभाव का एक और प्रमाण यह है कि चीन में पशु बहुत कम हैं, इस कारण अधिकतर भारी काम भी मनुष्य ही करते हैं. हमने स्वयं देखा था कि पूरी लदी हुई भारी भारी गाड़ियों को किसान, उनमें पशुओं की तरह जुत कर, मीलों तक खींच ले जाते थे। परन्तु हम यह नहीं मानते कि ये गुण उनमें कृषि के सामुदायिकीकरण के कारण उत्पन्न हो गये होंगे। और इसीलिये उत्पादन में वृद्धि का यश हम सामुदायिक खेती को देने के लिये तैयार नहीं हैं। उसका कारण तो चीनियों का कठोर परिश्रमी स्वभाव ही है। अब उसको, ऋण मिलने की सुविधा, अच्छे बीजों, अच्छे औजारों, माल बिकने की सहूलियत, और शान्ति तथा स्थिरता की भी सहायता मिल जाने के कारण, वह पहले से अधिक फलदायक बन गया है। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि चीन में सिंचाई की प्रणाली का आविष्कार शताब्दियों पहले हो चुका था। हमने जेचुआन प्रान्त में सिंचाई की एक व्यवस्था, ईसा से भी तीन शताब्दी पूर्व की हुई देखी थी। हवाई जहाज से उड़ते हुए

हमने ऊपर से देखा था कि पहाड़ियों और ऊंचे नीचे प्रदेशों में भी विभिन्न ऊंचाइयों पर तालाब बने हुए थे, उनके द्वारा ऊंची जमीनों के खेतों में भी जब चाहो तब सिंचाई की जा सकती थी। हमारा ख्याल यह भी है कि जिन स्थानों पर हम गये थे उनमें से अधिकतर की जमीन में नमी स्वयमेव सुरक्षित रहती थी, और इस कारण फसलों की हालत उससे बहुत अच्छी दिखाई देती थी जैसी कि हम साधारणतया भारत में देखते हैं। परन्तु इसका कारण सामुदायिक खेती नहीं था। जापान में ठीक ऐसी अवस्था, हमने चीन से भी ऊंची जमीनों पर देखी थी, और वहाँ तो उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाएं हैं ही नहीं। इस सबसे हम यह परिणाम निकालते हैं कि चीन खेती की पैदावार में बहुत जल्दी-जल्दी उन्नति कर रहा है, परन्तु उसने खेती का आधार सामुदायिक कर देने का निश्चय उत्पादन में वृद्धि करने के लिये नहीं, अपितु इसलिए किया है कि उनका राजनीतिक आदर्श वैसा करना आवश्यक मानता है।

३०. यह प्रकरण समाप्त करने से पूर्व हम चीनी किसानों के रहन-सहन की दशा के विषय में भी कुछ कहना चाहते हैं। वह बहुत निम्न है, परन्तु हमें विश्वास है कि उसमें बहुत शीघ्र सुधार हो जायगा। किसानों को उपभोज्य वस्तुएं न मिल सकने का भारी कष्ट था। ग्रामों और नगरों की दुकानों में माल बहुत थोड़ा था। ग्रामों में तो मौलिक सुख-सुविधाओं तक का अभाव था। पानी का प्रबन्ध इतना अस्वास्थ्यकारक था कि भारत में कोई एक दिन के लिये भी उसे सहन नहीं करेगा। हमने देखा था सुअरों के बाड़े में से गन्दा पानी बहकर पीने के पानी में मिल रहा था। चीनी शायद इसकी परवाह इस कारण नहीं करते कि वे पानी ठण्डा पीते ही नहीं, परन्तु हमें तो इतना गन्दा पानी उबाल कर भी पीने का विचार तक अच्छा नहीं लगा। टट्टियाँ निहायत गन्दी थीं। हम जब एक टट्टी देखने गये तो वहाँ जाना भी एक कठोर परीक्षा में से गुजरना जैसा लगा। सड़कें बहुत थोड़ी थीं, जो थी भी उन्हें ठीक रखने पर ध्यान नहीं दिया जाता था। स्कूलों की इमारतें अब हमारे यहाँ प्रायः प्रत्येक ग्राम में दिखाई देने लगी हैं। परन्तु चीन में उनका अभाव था। दवाखाना भी कहीं कहीं ही कोई दिखाई देता था। न तालीम मुफ्त थी न इलाज। पार्क में प्रवेश करने का भी मूल्य देना पड़ता था। हमारे राष्ट्रीय-विस्तार और सामुदायिक-विकास योजनाओं के क्षेत्रों में जो सामाजिक जागृति और चेतना अब दिखाई पड़ने लगी है उसका चीन में नाम भी नहीं था। इन सब बातों को हम अति महत्वपूर्ण मानते हैं और इनमें हम चीनियों की अपेक्षा कहीं अधिक आगे बढ़ चुके हैं।

जापान की सहकारिता-संस्थायें

३१. हमारे साथियों ने जापान के अनुभव पर बहुत थोड़ा ध्यान दिया है। परन्तु हमारा ख्याल है कि वह चीन के परीक्षणों की अपेक्षा हमारे देश के लिये अधिक मूल्यवान है। जापान में औसत खेत का नाप चीन के औसत खेत से तो छोटा है ही, भारत के अनेक भागों के खेतों से तो बहुत ही छोटा है। फिर भी, जापानी लोगों ने गत बीस वर्षों में प्रति एकड़ उपज बढ़ाने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है। आज जापान में प्रति एकड़ चावल की उपज एशिया भर में सबसे ऊंची है।

३२. हमने देखा कि जापान में किसान का जीवन और कार-बार, एक उत्पादन को छोड़कर, सब क्षेत्रों में पूर्णतया सहकारिता-मय बन चुका है। जापान में सहकारिता-संस्थाएं, ऋण लेने, माल बेचने, खरीदने और तैयार करने आदि सब कामों में किसान की सहायता करती हैं। ९५ प्रतिशत से अधिक किसान-कुटुम्ब सहकारिता-संस्थाओं के सदस्य हैं। जापान की ७७ प्रतिशत खेती की पुंजी का प्रबन्ध, ६४ प्रतिशत उर्वरकों की खरीद, किसान के ९६ प्रतिशत फालतू चावल और ८५ प्रतिशत गेहूं तथा जौ की बिक्री, इन सहकारिता-संस्थाओं की ही मारफत होती है। बहु-कर्मी सहकारिता-संस्थाओं की समस्त सदस्य-संख्या ६००, और प्रति सदस्य की औसत चुकता हिस्सा पुंजी ३४०० येन (४५ रु० से अधिक) है। परन्तु आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं के पास सदस्यों की रकम में बहुत बड़ी मात्रा में जमा रहती हैं और अधिकतर संस्थाओं की जमा रकमें ऋण दी हुई राशियों की अपेक्षा बहुत अधिक है। हमारे साथियों ने अपने प्रतिवेदन में एक स्थान पर कहा है

कि कौटुम्बिक खेती में पुंजी एकत्र नहीं हो पाती, परन्तु जापान की सहकारिता-संस्थाओं का जमा राशियों का परिमाण ऋण दी हुई रकमों की अपेक्षा बहुत अधिक होने से प्रकट होता है कि यदि सब प्रकार की सुविधाएं दी जायं तो छोटे छोटे कुटुम्वों की खेती में भी पुंजी एकत्र हो सकती है। मामाडा की सहकारिता की इकाई में हमने देखा था कि उस द्वारा ऋण दी हुई राशियों का योग तो ७१ लाख ३० हजार येन था और उसके पास जमा राशियों का योग वर्ष के अन्त में २९८ लाख ८० हजार येन था। (वर्ष भर में जमा करायी हुई रकमों का योग १४ करोड़ ६२ लाख ४० हजार येन होता था)।

३३. जापान की ऋण लेने-देने की व्यवस्था में सबसे ऊंचा स्थान सेण्ट्रल को-आपरेटिव-बैंक का है। यह जापान-भर का बैंक है। यह बैंक सब प्रकार की कृषि-सहकारिता-संस्थाओं और मत्स्य-सहकारिता-संस्थाओं को छोटी तथा बिचली मियाद के ऋण देता है। लम्बी मियाद के ऋण देने के लिये सरकार ने एक कृषि-जंगल-तथा-मत्स्य-वित्त-कार्पोरेशन का संगठन कर दिया है, परन्तु उसके ऋण भी दिये इस बैंक की ही मारफत जाते हैं। इस बैंक के मातहत, जिलों में जिला-ऋण-संघ और गाँवों में सहकारिताओं की इकाइयाँ हैं, जो ऋण लेने वालों की स्थानीय आवश्यकताएं पूरी करती रहती हैं। ऋण देने की व्यवस्था का बिक्री और खरीद की व्यवस्था के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। ग्रामों में सहकारिताओं की इकाइयाँ ऋण देने, माल बेचने और खरीदने के सब काम करती हैं। परन्तु जिलों के केन्द्र में ऋण देने का काम वही संस्था नहीं करती जो बिक्री और खरीद का करती है। इसलिए वहाँ ऋण-संघ के अतिरिक्त, क्रय-तथा-विक्रय संघ पृथक् होता है। राष्ट्रीय स्तर पर पहुंचकर क्रय और विक्रय के संगठन भी पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। कृषि की उपज की बिक्री करने वाली सहकारिता-संस्थाओं का संघ 'जेन-हुन-रान' और खरीद करने वाली संस्थाओं का संघ 'जेन-को-रान' कहलाता है। सहकारिता-संस्थाओं का यह संगठन जापान में किसानों की प्रायः प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति कर देता है।

३४. जापान के अनुभव से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि जिन देशों की आबादी अधिक हो उनमें प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ाने के लिये ठीक नीति यही है कि खेती तो किसान-कुटुम्ब करें और उनकी सब प्रकार की सहायता सेवा सहकारिता-संस्थाएं करती रहें, और कल्याण-राज्य की सरकार भी उनकी पीठ पर रहे। जापान में उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाएं संगठित करने का विचार पसन्द नहीं किया गया, और जो प्रयत्न इस दिशा में किये भी गये वे सफल नहीं हुए। यहाँ तक कि जो किसान पड़ती भूमि को तोड़ने के लिए सहकारिता-संस्थाओं में संगठित हुए थे वे भी भूमि तोड़ने का काम पूरा हो चुकने पर तोड़ी हुई भूमिका को बाँट कर अपनी खेती पृथक्-पृथक् करने लगे। हमारा विचार है कि जिन कामों से जापान में अन्न का उत्पादन बढ़ाने में सहायता मिली है वे हमारे देश के लिये भी बहुत उपयोगी हो सकते हैं। हम अपने साथियों के इस विचार से सहमत नहीं हैं कि सेवा-सहकारिता-संस्थाओं द्वारा छोटे किसानों की मूल समस्याएं हल नहीं की जा सकतीं।

भारत

३५. भारत की भावी नीति के सम्बन्ध में हम क्या सिफारिश करें इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हमने अपने सामने यह प्रश्न रक्खा है: "भारत में हमारा लक्ष्य क्या है? हमारा लक्ष्य लोकतन्त्री उपायों से सामाजिक न्याय करते हुए खाद्य के उत्पादन में तुरन्त वृद्धि कर लेने का है अथवा कृषि को सामुदायिक आधार पर करने का और सामाजिक न्याय एकमात्र कौटुम्बिक कृषि का अन्त करके करने का है?" हमारा उत्तर है कि हमारा लक्ष्य कृषि को सामुदायिक आधार पर करने का नहीं, अपितु कृषि का उत्पादन बढ़ाने की अपनी तात्कालिक आवश्यकता की हानि किये बिना सामाजिक न्याय करने का है। हम अपने साथियों के इस विचार से भी सहमत नहीं हैं कि कृषि को सहकारिता द्वारा करने लगना हमारी सभी भूमि-सम्बन्धी समस्याओं की रामबाण दवा है। उनके कथनानुसार तो, छोटे खेतों की, बेकारी की, खेती के घटिया तरीकों की, उपज तथा आय कम होने की, फसलों में विविधता लाने की, जांत-पांत की और बेजमीन मजदूरों आदि की सभी समस्याएं, इसकी एक ही चुटकी से हल हो जायंगी। हम तो यह भी नहीं समझते कि सब रोगों

की इस औषधि का प्रयोग केवल किसी एक उपाय से किया जा सकता है। हमारी देहाती अर्थ-व्यवस्था की एक-एक समस्या का हल करने के लिए, उसी के उपयुक्त विशेष उपायों का प्रयोग करना पड़ेगा। कुछ समस्याओं का हल भूमि के पुर्नवितरण से, कुछ का देहाती उद्योगों का पुन: विकास करने से, कुछ का सेवा-सहकारिता-संस्थाओं का संगठन करने और राष्ट्रीय-विस्तार-सेवाओं का प्रभावशाली प्रयोग करने से, और कुछ का उत्पादकों की सहकारिता-संस्थाओं का निर्माण करने से होगा। एक युक्ति यह दी गयी है कि यदि खेती सामुदायिक आधार पर होने लगेगी तो काम सबको मिल जायगा। इस युक्ति का समर्थन चीन तक के अनुभव से नहीं होता। हमने देखा था कि वहां की अधिकतर सहकारिता-संस्थाओं में भारी मात्रा में बेरोजगारी फैली हुई थी। सदस्यों से वर्ष में २०० दिन भी काम नहीं लिया जा सकता था। अधिकतर सहकारिताओं को संलग्न कार्यों का सहारा लेना पड़ता था। "संलग्न कार्यों" का मतलब भी चीन में बड़ा ढीला ढाला लगाया जाता है। हमने देखा था कि सरकार द्वारा बनवायी जाने वाली सड़कों पर काम करना भी संलग्न कार्य गिना जाता था। सड़क बनाने का काम करने वाले सदस्यों को मेहनताना बहुत ही कम दिया जाता था। इस कारण उसकी कमी सहकारिता-संस्था को पूरी करनी पड़ती थी, जिसका अर्थ यह था कि सरकार की कमी की पूर्ति सहकारिता को अपने अन्य सदस्यों का पेट काटकर करनी पड़ती थी। कृषि-मन्त्री श्री लियाऊ तक ने माना था कि सहकारिता-संस्थाओं का संगठन करने से मजदूर फालतू हो जाते हैं, और कहा था कि "भूमियों को एकत्र कर देने पर जो अतिरिक्त श्रम उपलब्ध होता है उसे उस क्षेत्र के लिये उपयुक्त संलग्न पेशों में लगा दिया जाता है।" हमारा ख्याल है कि हमारे साथियों ने कृषि-सहकारिता-संस्थाओं की वकालत करने के जोश में, भारत की देहाती अर्थ-व्यवस्था की सभी अप्रिय बुराइयों को कौटुम्बिक खेती के माथे मढ़ दिया है। उदाहरणार्थ, उन्होंने कहा है कि "यद्यपि गत दसियों वर्षों में फालतू मजदूरों की संख्या इतनी बढ़ चुकी है फिर भी उसका उपयोग कृषि का सुधार और उत्पादन को अधिक घना करने की योजनाएं क्रियान्वित करने के लिये कौटुम्बिक कृषि की परम्परागत बुराइयों के कारण नहीं किया जा सका।" उनके सुझाव के अनुसार तो भूमि सुधारने का काम केवल कृषि-सहकारिता-संस्थाएं हाथ में ले सकती हैं। हमें यह बात समझ में नहीं आयी कि अपने कुटुम्बिय जनों के फालतू श्रम का उपयोग भूमि का सुधार करने के लिये क्यों नहीं किया जा सकता। प्रत्युत, बम्बई राज्य में घेरेदार बांध बनवाने का अनुभव यह है कि जब किसी कार्यक्रम के लाभ लोगों को बतला दिये गये तब ग्रामीणों ने बड़ी संख्या में आ-आकर आग्रह किया कि उस कार्यक्रम का आरम्भ उनके ग्राम से किया जाय। वास्तविक कठिनाई केवल धनाभाव की होती है।

३६. जिन प्रदेशों में सामुदायिक विकास के कार्यक्रम आरम्भ किये जा चुके हैं उनका कार्य देखकर हमने यह भी अनुभव किया है कि यदि पूंजी, टेक्निकल जानकारी और संगठन-कुशलता की कमी न रहे तो देहाती जनता सामान्य लाभ के प्रत्येक काम को उत्साहपूर्वक पूरा कर दिखलाती है—उसे पारिश्रमिक पूरा मिला या अधूरा, इसकी वह बहुत परवाह नहीं करती, श्रमदान द्वारा तक वह काम करने को तैयार हो जाती है। सच्चाई तो यह है कि जबसे सामुदायिक विकास के कार्यक्रम चले हैं तब से देहातों में एक प्रकार की जागृति हो गयी है। देहाती जनता ने समझ लिया है कि राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था में उसकी स्थिति क्या है और वह उत्पादन में वृद्धि करने का प्रयत्न करने लगी है। लोगों में चेतनता फैलती जा रही है और वे नये विचारों, खेती की उत्कृष्ट विधियों, टेक्निकल सलाह-मशवरे और इसी प्रकार की अन्य बातों का स्वागत करने लगे हैं। यह बतलाने की तो आवश्यकता ही नहीं कि भूमि और पशु आदि खेती के साधन किसान के हाथ में सुरक्षित रहने के लिये जो कानून बनाये गये हैं उनसे भी किसानों का उत्साह बढ़ा है। निश्चय ही अब यदि उन्हें यह कहा जायगा कि तुम अपनी जमीनों की मालिकी छोड़कर और उन्हें सामुदायिक सम्पत्ति में सम्मिलित करके, स्वयं काम की प्रति इकाई के हिसाब से मजदूरी लेकर काम करने लगो तो उनके उत्साह में वृद्धि नहीं होगी। हमारे साथियों ने कहा है कि जागीरदारी जमाने में देहातियों से बेगार लेकर जमीन का सुधार करवा देने का जो रिवाज था वह तो अब उठ गया, परन्तु उसकी जगह नया काम कुछ नहीं हुआ। हमें आशा है कि ऐसा कहने में उनका अभिप्राय यह नहीं है कि कृषि सहकारिता-संस्थाएं देहातियों को नाममात्र मजदूरी देकर उन्हें काम में जोत दिया करें। परन्तु हमें यह भय अवश्य है कि उनके इस सुझाव का फल यही निकलेगा, क्योंकि

प्रति इकाई की मजदूरी का दर कम हो जाना निश्चित है। हमारे साथियों ने दसवें अध्याय के १५वें पैराग्राफ में कहा है : "प्राय: देखा गया है कि छोटी-छोटी खेतियों में अनेक बाधाओं के होते हुए भी, पैदावार अधिक ली जाती है और प्रति एकड़ पीछे उपज भी अधिक होती है। छोटे किसानों के पास मेहनत करने की फुरसत प्राय: इतनी अधिक होती है कि वे उसका पूरा उपयोग दूसरों के लिये मजदूरी करने में भी नहीं कर सकते, इस कारण उन्हें विवश होकर, फल का बिना कोई विचार किये, उसका उपयोग अपने ही खेत में अधिक पैदावार लेने के लिये कर लेना पड़ता है।" इसे पढ़कर हम समझे थे कि वे प्रति एकड़ में अधिकतम उपज लेने का उपाय कुटुम्ब की खेती को बढ़ावा देना बतलायेंगे। परन्तु उन्होंने सिफारिश की है सामुदायिक खेती की, और कहा है कि कौटुम्बिक खेती वहीं उपयोगी हो सकती है जहां आबादी घनी न हो और खेत बड़े-बड़े हों। सेवा-सहकारिताओं और उनके संगठन के विस्तार को भी वे वहीं उपयोगी मानते हैं जहां कि खेत बड़े-बड़े हों। हमें उनका तर्क बुद्धि-संगत नहीं जान पड़ता। हमारा विचार तो यह है कि भारत में आबादी घनी और खेत छोटे होने के कारण, कौटुम्बिक खेती की ही आवश्यकता है, और उसकी ही सेवा-सहकारिताओं तथा राष्ट्रीय-विस्तार-सेवाओं द्वारा सहायता की जानी चाहिए। जहां खेत छोटे हों, मजदूरी सुलभ हो और मनुष्यों तथा भूमि का अनुपात ऊंचा हो अर्थात् जमीन की प्रति इकाई के सहारे खाने वालों की संख्या अधिक हो, वहीं थोड़ी जमीन से घनी पैदावार लेने की आवश्यकता होती है। और घनी पैदावार तथा प्रति इकाई में अधिक उपज, जितनी सुगमता से कौटुंबिक खेती द्वारा ली जा सकती है उतनी अन्य किसी प्रकार नहीं। हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि जिन तथ्यों के कारण घनी खेती और कौटुम्बिक खेती, भारत के लिये अनिवार्य रूप से आवश्यक प्रतीत हो रहे हैं, उन्हीं को हमारे साथियों ने सामुदायिक खेती की समर्थक युक्तियों के रूप में पेश कर दिया है। यह देखकर भी आश्चर्य होता है कि एक ओर तो हमारे मित्रों ने बड़े पैमाने की अर्थ-व्यवस्था की चर्चा की है, और दूसरी ओर उन्होंने सहकारिता की खेती का एक बड़ा लाभ यह बतला दिया है कि "सहकारिता की खेती में लागत और लाभ का हिसाब लगाने का कोई महत्व नहीं रहता।" इस प्रकार, सहकारिता की खेती इसलिए अच्छी हुई कि उसमें लागत घट जाती है और इसलिए भी अच्छी हुई कि उसमें लागत का विचार नहीं रहता।

३७. हमारे मित्रों ने एक ओर तो इस बात पर जोर दिया है कि उत्पादन-सहकारिताओं में काम करने के लिये वैयक्तिक सूझ-बूझ की बड़ी भारी आवश्यकता होती है और दूसरी ओर उन्होंने इस बात की प्रशंसा की है कि चीनियों ने श्रमिकों को कठिन श्रम में प्रवृत्त करने के लिए काम के सैकड़ों पैमाने बना रक्खे हैं। स्पष्ट है कि उनका ध्यान इन दोनों बातों में परस्पर-विरोध की ओर नहीं गया। यदि उत्पादन-सहकारिता में कार्य की कुशलता बढ़ाने के लिए काम के ये पैमाने लागू करने की और श्रमिकों को अपना निर्वाह तक कठिनाई से कर सकने की विवशता का अनुचित लाभ उठाकर उन्हें अधिक कमाई का लालच देने की आवश्यकता पड़ती है, तो हम नहीं समझते कि उन्हें विवश करने के लिये इतना लम्बा-चौड़ा और खरचीला संगठन न बनाकर, अधिक कमाई की इस इच्छा का उपयोग पारिवारिक कृषि की स्वाभाविक अवस्थाओं में क्यों न कर लिया जाय। इसी प्रकार हम यह भी पूछना चाहते हैं कि यदि सहकारिता-संस्था में सदस्यों को टोलियों में बांटना और उन टोलियों से एक-एक नेता की निगरानी में काम करवाना गुण है, तो पारिवारिक खेती की स्वाभाविक परिस्थितियों में यह गुण क्यों नहीं रहता? वहां तो कुटुम्ब का प्रधान व्यक्ति टोली का स्वाभाविक नेता होता है और सब सदस्य परस्पर रिश्तेदारी तथा पारिवारिक प्रेम के सूत्र में गुंथे रहते हैं। हमारे साथियों ने, सरकार और सहकारिता-संगठन में अन्तर का विचार भी नहीं किया है। उन्होंने कहा है कि सहकारिता-संगठन के देश-भर में व्याप्त हो जाने पर सरकार को दस लाख से भी कम सहकारिता-संस्थाओं के साथ व्यवहार करना पड़ेगा और सरकारी कार्यक्रमों की पूर्ति के लिये वे सरकार का एक अंग बन जायंगी। इससे लगता है कि हमारे साथियों को जितनी चिन्ता सरकार की सुविधा की है उतनी लोगों के लाभ की नहीं है। एक ओर तो वे कहते हैं कि सहकारिताओं का संगठन करने के लिये दबाव और विवशता से काम नहीं लेना चाहिए और दूसरी ओर उन्होंने सुझाव दिया है कि जितनी भूमि कोई व्यक्ति अपने परिवार की सहायता से जोत सके उतनी उसके पास रहने देकर, शेष सारी को एक स्थान पर एकत्र कर दिया जाय और उसमें बे-जमीन मजदूरों से सम्मिलित खेती करवायी जाय। इस प्रकार सब बे-जमीन मजदूरों को

सम्मिलित खेती करने के लिए तो विवश कर दिया जायगा, परन्तु अब तक इसका कोई निश्चय नहीं कि उत्पादन में वृद्धि की दृष्टि से उसका फल क्या निकलेगा। यदि बे-जमीन मजदूरों के लिए सहकारिता-संस्था का सदस्य बन जाने और उसी में बने रहने के अतिरिक्त, भूमि प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग रहने ही नहीं दिया जायगा तो इससे बढ़कर उन पर दबाव डालने का व्यावहारिक तथा प्रभावशाली उपाय और क्या होगा ?

सिफारिशें

३८. हम बतला चुके हैं कि कृषि का हमारा लक्ष्य, कृषि का उत्पादन बढ़ाने की आवश्यकता की हानि किये बिना, सामाजिक न्याय करना होना चाहिए। उत्पादन में वृद्धि आज हमारी तात्कालिक आवश्यकता है। इस कारण हमारा निश्चित मत है कि खेतों के अधिकतम परिमाण का निश्चय तुरन्त ही कर देना चाहिये। यह परिमाण जहां इतना बड़ा नहीं होना चाहिए कि उसके कारण भूमि का पुनर्वितरण ही न हो सके, वहां इतना छोटा भी नहीं होना चाहिए कि जो आदमी खेती का पेशा अपना ले उसके माथे पर सदा के लिये निर्धनता का टीका लग जाय। हमारा ख्याल है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् बनाये हुए काश्त-कारी कानूनों से इतना लाभ अवश्य हुआ है कि साहसी और सुशिक्षित युवक भी खेती के पेशे में बने हुए हैं। इसे हम बहुत शुभ चिन्ह समझते हैं। हमारे विचार में हमें ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जिसके कारण साहसी, परिश्रमी और शिक्षित लोग खेती का पेशा छोड़ देने की सोचने लगें। इस कारण हम भूमि का अधिकतम परिमाण बहुत छोटा रखने के पक्ष में नहीं हैं। हम यह भी आवश्यक नहीं समझते कि खेती केवल परिवार के श्रम द्वारा की जाय। अपने साथियों के इस सुझाव को हम अव्यवहार्य मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के पास केवल उतनी भूमि रहने दी जाय जितनी में वह स्वयं और अपने परिवार की सहायता से खेती कर सके। प्रत्येक कुटुम्ब में कार्य-क्षम व्यक्तियों की संख्या सदा बदलती रहेगी। कुछ का देहान्त हो जायगा और कुछ बालक बड़े होकर काम करने योग्य हो जायंगे। कुछ समर्थ परिवार अब भी खेती में यन्त्रों का प्रयोग करके अधिक भूमि का स्वामी होने का दावा कर सकेंगे। इन सब कारणों से हम सरकार द्वारा स्वीकृत इस विचार का तो समर्थन करते हैं कि खेतों का अधिकतम परिमाण निश्चित कर दिया जाना चाहिए, परन्तु हमारी सिफारिश है कि वह न तो बहुत बड़ा निश्चित किया जाय और न बहुत छोटा।

३९. हमारा विचार है कि व्यक्तिशः पृथक् खेती करने वालों को भी, सेवा-सहकारिताओं द्वारा बहुतेरी आर्थिक सहायता दी जा सकती है। उदाहरणार्थ, उनके लिये ऋण सुलभ किया जा सकता, थोक खरीद और थोक बिक्री की व्यवस्था की जा सकती, और जिन्हें इसका पात्र समझा जाय उनके लिये जरूरी खेती के काम भी करवा दिये जा सकते हैं। इसलिए हम सिफारिश करते हैं कि वर्तमान सहकारिता-संस्थाओं को अधिक समर्थ बनाना चाहिये और राष्ट्रीय-विस्तार-सेवाओं के कर्मचारियों, सहकारिता-संस्थाओं के प्रबन्धकर्ताओं, तथा सहकारिता-विभागों के वर्तमान कर्मचारियों में सभी स्तरों पर कार्य के समन्वय में वृद्धि की जानी चाहिए, जिससे कि राष्ट्रीय विस्तार-सेवाओं वाले जो टेक्निकल सलाह देते और मार्ग-प्रदर्शन करते हैं उसका फल यह हो कि सहकारिता-संस्थाओं द्वारा दिये हुए ऋणों का और खेती के सामान का उपयोग वैज्ञानिक ढंग से किया जाने लगे। प्रथम पंचवर्षीय योजना के समय जो भूमि-सुधार किये और काश्तकारी कानून बनाये गये उनका एक बड़ा लाभ यह हुआ कि देहाती अर्थ-व्यवस्था में से शोषक बिचौलियों का अन्त होकर किसान को अपने श्रम का लाभ सदा स्वयं उठाते रहने का निश्चय हो गया। इस कारण अब खेती की उपज बढ़ाने का कार्य योजना-पूर्वक आरम्भ करने और उसके द्वारा किसान का रहन-सहन का दर्जा ऊंचा उठाने के लिये जमीन पूरी तरह तैयार है। अब तो कृषि का उत्पादन बढ़ाने के लिये जितनी आवश्यकता यन्त्र-वैज्ञानिक कार्य किये जाने की है, उतनी देहात के सामाजिक और आर्थिक गठन में पुनः परिवर्तन करने की नहीं। इस परिवर्तन से तो बहुत-से लोगों में असन्तोष फैल जाने और मानसिक क्षोभ उत्पन्न होने की सम्भावना है। यह भी भय है कि उसके कारण कहीं देश की राजनीतिक स्थिरता ही संकटापन्न न हो जाय। इसलिये हमारा सुझाव है कि अच्छे बीजों, उर्वरकों, कृमिनाशकों और खेती की वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग का अधिक प्रचार करने के लिए, राष्ट्रीय

विस्तार-सेवा के कार्यकर्ताओं को अब तक से अधिक प्रयत्न करना चाहिए। हमारा ख्याल है कि हमने जो सीधे से सुझाव दिये हैं उन पर अमल करने के लिये बहुत अतिरिक्त कर्मचारी रखने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, राष्ट्रीय-विस्तार के वर्तमान कर्मचारियों में ही कुछ वृद्धि करके उनका पूरा-पूरा उपयोग करने लगने और उनके और कृषि तथा सहकारिता विभागों के कर्मचारियों के कामों में समन्वय कर देने से काम चल जायगा। हम सिफारिश करते हैं कि गाँवों की बहु-कर्मी सहकारिता-संस्थाओं से ही ऋण देने, खेती करने का समान बाँटने और खेती की पैदावार एकत्र करने का काम लेना चाहिए। सहकारिताओं का सारा संगठन, इन्हीं आरम्भिक सहकारिता-संस्थाओं के आधार पर करना चाहिए, और किसानों को भी अपनी सब आवश्यकताएं इन्हीं सस्थाओं से पूरी करने का यत्न करना चाहिए। जिलों में इन बहु-कर्मी सहकारिताओं की सहायता बिज्दी-सहकारिओं और बैंकों को भी करनी चाहिए। जहाँ आवश्यक जान पड़े वहाँ हमें अच्छी कृषि-संस्थाओं का संगठन करके, खेत जुतवाने, सिंचाई के छोटे-छोटे कामों का विकास करने और पशुओं की आवश्यकता पूरी करने आदि के भारी कृषि-कार्य भी उनसे करवाने चाहिएं। परन्तु हम पसन्द यही करेंगे कि सम्भव हो तो ये काम भी बहु-कर्मी सहकारिता-संस्थाएं ही करें। हमारा ख्याल है कि इन कामों को भी बहु-कर्मी सहकारिताएं करने लगेंगी तो ग्रामीण सहकारिताओं की संख्या बढ़ जायगी और संयुक्त सहकारिताओं की घट जायगी। इसका फल यह होगा कि सिंचाई के केन्द्रों आदि का मालिक साझेदारी में बनने की प्रवृत्ति बढ़ जायगी और देहातों के सभी कामों का प्रबन्ध सहकारिता और साझेदारी से होने लगेगा। केवल उत्पादन सहकारिता के आधार पर नहीं होगा, और उसे हम आवश्यक और इष्ट भी नहीं समझते। परन्तु सहकारिता के उत्पादन का भी हम सर्वथा विरोध नहीं करते, हम तो इतना ही चाहते हैं कि वह लोगों की पूर्ण स्वेच्छा और स्वतन्त्रता से स्वयमेव होना चाहिए, ऊपर के दबाव से नहीं। भारत में ऐसे क्षेत्र भी हैं जहाँ संयुक्त सहकारिता की खेती को बढ़ावा दिया जा सकता है। हमारा मतलब बहुत पिछड़े हुए इलाकों से है। हम दो कारणों से वहाँ सहकारिता की खेती का प्रतिपादन कर रहे हैं। पहला (१) कारण यह है कि इन इलाकों के लोग पहले से सामाजिक जीवन बिताने के अभ्यासी हैं और जब उनसे मिलकर खेतों में काम करने को कहा जायगा तो उन्हें इसमें कोई क्रान्तिकारी बात नहीं लगेगी। और दूसरा (२) यह है कि उन्हें खेती की ओर खेती करने की विधियों की जानकारी इतनी कम है कि उन्हें खेती करना सिखलाने का सरलतम उपाय यही हो सकता है कि उन्हें खेती करने वाली सहकारिता-संस्थाओं में संगठित कर दिया जाय। यदि लोग स्वयं चाहें तो अन्य प्रदेशों में भी हम सहकारिता की खेती करने का विरोध नहीं करते। परन्तु हमारा यह विचार अवश्य है कि सह-कारिता द्वारा खेती करने का प्रचार, सरकारी कार्यक्रम का अंग बनाकर नहीं करना चाहिए, और इसलिए इस प्रतिवेदन के अन्तिम अध्याय में हमारे साथियों ने जो सिफारिश की है उसका हम समर्थन नहीं करते। जैसा कि हम पहले भी स्पष्ट कर चुके हैं, यदि कहीं भौतिक तथा मानसिक परिस्थितियाँ असाधारण अनुकूल होने के कारण, किसान स्वयं सम्मिलित खेती आरम्भ कर दें और उनको नेता भी अच्छे मिल जायं तो हम उसका हृदय-पूर्वक समर्थन करेंगे। परन्तु यदि सरकार सर्वत्र सहकारिता से खेती करने का आन्दोलन करने लगेगी तो वह खतरनाक होगा, क्योंकि उसका अर्थ किसानों को किसी न किसी रूप में दबाना हो जायगा।

चौदहवां अध्याय

श्री० बी० जे० पटेल और श्री एफ० एन० राना के मत-भेद पर प्रतिनिधि-मण्डल के नेता श्री आर० के० पाटील के विचार

मतभेद में कहा गया है कि चीन की घटनाओं को समझने और जापान की सहकारिताओं की सफलता की उपेक्षा कर देने में हम, प्रतिनिधि मण्डल के बहुमत के सदस्यों ने, पक्षपात-पूर्ण और असन्तुलित चित्र पेश कर दिया है। चीन में जिस भूमि-नीति पर अमल किया जा रहा है और उसे लागू करने के लिये जो उपाय काम में लाये गये उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता, और यदि हम चीन के कम्युनिस्ट आदर्शों को उसकी भूमि-नीति से पृथक् करके दिखलायंगे तो हम ऐसा भ्रम उत्पन्न कर देंगे कि भारत में इस नीति पर अमल चीन के उपायों का अवलम्बन किये बिना भी हो सकता है। उन्हें (मतभेद प्रकट करने वाले सज्जनों को) चीन में जो कुछ दिखाई दिया उससे हमारा पेश किया हुआ चित्र बहुत भिन्न है।

२. चीन ने जो भूमि-सुधार किये और खेती को सहकारिता पर आधारित करने के लिये जो नीति अपनाई, उन दोनों का उद्देश्य किसानों को निरा मजदूर बना देने का था। भूमि सुधार करते समय जिस हत्या और हिंसा-वृत्ति का प्रयोग किया गया वह लाखों छोटे किसानों को जमींदार और सम्पन्न किसान बतलाकर, उन सबके विरुद्ध किया गया था, और केवल आर्थिक कारणों से वैसा करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। स्वयं कम्युनिस्टों सूत्रों के अनुसार, खेती को सहकारिता के आधार पर संगठित करने में जितना अधिक तीखा और उलझन-भरा वर्ग-संघर्ष करना पड़ता है, उतना भूमि-सुधार लागू करते हुए नहीं करना पड़ता। यही कारण है कि भूमि-सुधार के समय तो केवल जमींदारों और सम्पन्न किसानों का अन्त करना पड़ा था, परन्तु कृषि को सहकारितामय करते हुए उससे कहीं अधिक कुछ करना पड़ा। चीन में कृषि का सामुदायिकीकरण स्वेच्छा से नहीं, प्रत्युत भारी संघर्ष और हिंसामय उपायों के द्वारा किया गया है।

३. चीनी सहकारिता-संस्थाओं का संगठन और कार्य-प्रणाली भी स्वेच्छा-प्रेरित और लोकतन्त्री नहीं है। उनकी कार्यकारिणी समिति और पदाधिकारियों का निर्वाचन लोकतन्त्री विधि से नहीं होता, क्योंकि सदस्यों को चुनाव कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा दिये हुए नामों में से ही करना पड़ता है। उनका हिसाब-किताब रखने और काम करने का ढंग भी असन्तोषजनक है। वे जिस प्रकार काम कर रहे हैं उसका अन्तिम परिणाम यह होगा कि आज जो लोग अधिकारी बने हुए हैं वे निरे निरीक्षक रह जायंगे और उत्पादन के कार्यों में तनिक भी भाग नहीं लेंगे। काम के पैमानों की प्रणाली किसानों को बेजान औजार बना देगी। उनकी सूझ-बूझ सर्वथा नष्ट हो जायगी, और खेती के पेशे की यही सबसे बड़ी विशेषता है। मतभेद में बहुमत के इस मत को सर्वथा निराधार बतलाया गया कि चीन में कृषि के उत्पादन में वृद्धि पूर्णतया अथवा मुख्यतया सहकारिता-पूर्वक खेती करने के कारण ही हुई। अपने भारतीय अनुभव के आधार पर उनका विचार यह है कि सहकारिता-पूर्वक खेती करने का उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, और चीन में शायद काम के पैमानों की प्रणाली इस प्रवृत्ति का प्रतिकार करने के लिए ही प्रारम्भ की गई है। चीन की खेती में सुधार का वास्तविक कारण, चीनियों की कठोर परिश्रम कर सकने की सामर्थ्य है। इसका लाभ अब इस कारण और भी अधिक हो रहा है कि इसके साथ ऋण की सुलभता, अच्छे बीजों और औजारों आदि का, और देश में शान्ति तथा सुरक्षा का भी मेल मिल गया है।

४. जापान के अनुभव से स्पष्ट हो जाता है कि घनी आबादी के देशों में प्रति एकड़ कृषि का उत्पादन बढ़ाने का सही तरीका यही है कि कौटुम्बिक खेती और सेवा-सहकारिता-संस्थाओं में सहयोग उत्पन्न करके, कल्याण-राज्य की सरकार उनकी सहायता उदारता-पूर्वक करती रहे।

बहुमत ने, सहकारिता की खेती का पक्ष समर्थन करके जोश में, उसे अपनी समस्त-भूमि-सम्बन्धी समस्याओं का रामबाण इलाज बतला डाला है, और भारत की देहाती अर्थ-व्यवस्था की प्रत्येक बुराई का कारण कौटुम्बिक खेती को बतला दिया है। कौटुम्बिक खेती करते हुए भी फालतू श्रम का उपयोग भूमि की दशा सुधारने के लिये किया जा सकता है। ऐसा करने में अब तक एकमात्र बाधा पूंजी की होती रही है। सामुदायिक विकास-योजनाओं के क्षेत्रों के अनुभव से प्रमाणित होता है कि यदि पूंजी का और संगठन का प्रबन्ध हो जाय तो देहाती लोग सामान्य लाभ का कोई भी काम उत्साहपूर्वक करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। कौटुम्बिक कृषि की पद्धति से ही खेतों में घनी खेती की जा सकती है और प्रति इकाई पीछे उपज बढ़ाई जा सकती है। भारत के लिये ठीक मार्ग यह है कि खेतों का अधिकतम परिमाण यथाशीघ्र निश्चित कर दिया जाय, परन्तु वह न तो बहुत ऊंचा हो न बहुत नीचा। देहातों में, खेती करने के अतिरिक्त, सब कामों का प्रबन्ध सहकारिता-संस्थाओं द्वारा किया जाय। खेती सहकारिताओं द्वारा करने की न तो आवश्यकता है, न वैसा करना इष्ट है। फिर भी, यदि लोग स्वयं और स्वेच्छापूर्वक सहकारिता के आधार पर खेती करना चाहें तो उसका विरोध करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु सरकार का सर्वत्र सहकारिताओं की स्थापना करने के लिए प्रयत्न करना खतरनाक होगा, क्योंकि उसके लिए किसी न किसी रूप में दबाव का प्रयोग करना पड़ेगा। इन कारणों से वे प्रतिवेदन के अन्तिम अध्याय में की हुई सिफारिशों का समर्थन नहीं कर सकते ।

५. हमने मतभेद का सारांश कुछ विस्तार से दे दिया है, जिससे कि हमारे ये विचार, पूर्ण तथा पृथक् लेख के रूप में, पढ़े जा सकें। हम अपने दल के इन दोनों सदस्यों का सचमुच धन्यवाद करते हैं कि उन्होंने अपने विचार इतनी स्पष्टतया और स्वतन्त्रता से प्रकट कर दिये। इससे न केवल देश को एक भिन्न दृष्टिकोण का ज्ञान होने में सहायता मिल गई, हमें भी यह प्रकट करने का अवसर मिल गया कि हम इस पर विचार को स्वीकार क्यों नहीं करते।

६. आरम्भ में हम मतभेद के अन्तिम वाक्य की ओर सबका ध्यान खींचना चाहते हैं। इससे न केवल उनका (दोनों सदस्यों का) विचार ज्ञात हो जाता है, यह भी प्रकट हो जाता है कि उन्होंने चीनी सहकारिताओं को कितना पसन्द किया था। उनके जोर देकर यह कहते हुए भी कि उनकी सम्मति में उत्पादन के सहकारिता-पूर्वक करने की न तो आवश्यकता है और न वह इष्ट है, उन्होंने बतलाया है कि यदि अच्छे नेता मिल जायं और भौतिक तथा मानसिक परिस्थितियाँ अनुकूल हों तो वे सहकारिता की खेती का पूरे हृदय से समर्थन करेंगे। परन्तु वे समझते है कि सरकार का सहकारिताओं की सर्वत्र स्थापना के लिये कोई कार्यक्रम आरम्भ करना खतरनाक होगा, क्योंकि इसके लिये किसी न किसी रूप में बल का प्रयोग करना पड़ेगा। यह समझना कुछ कठिन है कि जब वे उत्पादन में सहकारिता का प्रयोग करने के विरोधी हैं तब वे उक्त परीक्षण का पूरे हृदय से समर्थन किस प्रकार कर रहे हैं। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि यदि लोग इसमें स्वयं प्रवृत्त हो जायंगे तो वे इस अनिष्ट बुराई को नजरन्दाज कर देंगे। दूसरी ओर, यदि अच्छे नेता मिल जायं और भौतिक तथा मानसिक परिस्थितियाँ अनुकूल हों तो वे सहकारिता की खेती का पूरे हृदय से स्वागत करेंगे। अब यदि सरकार अच्छे नेता मिलने और अन्य परिस्थितियां अनुकूल हो जाने का वातावरण उत्पन्न करने का प्रयत्न करे तो इसमें किसी को कोई आपत्ति क्यों हो ?

७. सहकारिता की खेती या तो अच्छी है या बुरी। यदि अच्छी है तो सरकार का कर्तव्य है कि वह इसे आगे बढ़ावे। और यदि यह बुरी है तो इसे बन्द कर देना चाहिए। यह अच्छी हो या बुरी, इसे जनता पर लादने की सलाह कोई नहीं देता। हमने भी अपने प्रतिवेदन में इसे भली-भांति स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार की किसी भी सम्भावना को रोकने के लिए जो-जो सावधानताएं रखना हमने आवश्यक समझा उन सबका हमने अपने प्रतिवेदन में संकेत कर दिया है। हमने यह जिक्र नहीं किया कि अब भी बम्बई तथा उत्तरप्रदेश आदि कई राज्यों के वर्तमान कानूनों में ऐसा विधान है कि जिस गांव के इतने लोग अपने यहां सहकारिता-संस्था बनाना चाहते हों उस सारे ही गांव के लिये सहकारिता-संस्था बना दी जाय। स्पष्ट है कि इन राज्यों के विधान-मण्डलों को सहकारिता की खेती इतनी अच्छी लगी होगी कि उन्हें ऐसा कानून बना देने में भी

संकोच नहीं हुआ कि यदि गांव के शेष सब लोग सहकारिता बनाना चाहते हों तो शेष एक-तिहाई को उसमें सम्मिलित होने के लिए विवश किया जा सकता है। इस कानून में इस प्रकार का भी कोई जिक्र नहीं है कि सहकारिता का संगठन करने के लिए असाधारण अथवा अपवाद रूप से अनुकूल परिस्थितियां होनी चाहिएं, जैसा कि हमारे साथी चाहते हैं। परन्तु हम अपने प्रतिवेदन में इतना आगे नहीं बढ़े। किसी अल्प-संख्या को विवश करने की सिफारिश करने के स्थान पर, हमने तो उलटा यह सिफारिश की है कि प्रत्येक व्यक्ति को सहकारिता में सम्मिलित होने की और यदि वह चाहे तो फसल की समाप्ति पर उससे पृथक् हो जाने की स्वतन्त्रता रहनी चाहिए।

८. प्रतीत होता है कि हमारे साथी चाहते हैं कि सरकार सहकारिता की खेती की ओर से उदासीन रहे। परन्तु यदि उसका विकास स्वयं हो जाय तो उसका स्वागत किया जा सकता है। और यदि उसका विकास न हो तो उसकी परवाह नहीं, क्योंकि वह कोई इष्ट वस्तु नहीं है। यह विचार कल्याण-राज्य की कल्पना से संगत नहीं है। हम उन लोगों का रुख तो समझ सकते हैं जो कि सामाजिक और आर्थिक मामलों में सरकार का कम से कम दखल देना पसन्द करते हैं। उनका तो आदर्श ही यह है कि जो सरकार कम से कम शासन करे वही सर्वोत्कृष्ट सरकार है, क्योंकि तब प्रत्येक वस्तु अपना मार्ग स्वयं बनाकर यथाशक्ति बढ़ती चली जायगी। परन्तु स्पष्ट है कि हमारी सरकार का मार्ग यह नहीं है, और कल्याण-राज्य को आदर्श मानने वाली कोई भी सरकार इस मार्ग को अपना भी नहीं सकती। उदाहरण के लिये सामुदायिक विकास के काम को ही ले लीजिये। हमारे मित्रों ने भी इसकी बहुत चर्चा की है। यह काम सरकार ने आरम्भ किया है और उसके ही चलाये चल रहा है। इसका क्रमशः विकेन्द्रीकरण होता जायगा परन्तु आरम्भ इसे सरकार द्वारा ही किया जा सकता था। ऐसा इसलिये किया गया, क्योंकि इसे लोगों के लिये आवश्यक और लाभदायक समझा गया। केवल सरकार द्वारा आरम्भ किया जाने के कारण, किसी ने यह नहीं कहा कि इसे लोगों पर लादा जा रहा है या उन्हें इसे करने के लिये दबाया जा रहा है। यह बात भी नहीं कि इसे करते हुए किसी प्रकार का दबाव डाला ही नहीं जा सकता था। जनता की सहायता उसकी स्वेच्छा से और दबाव डालकर, दोनों प्रकार प्राप्त की जा सकती है। परन्तु कुछ विरोधी आलोचकों के अतिरिक्त, किसी ने भी ऐसा नहीं कहा कि इस काम को करते हुए जनता को दबाया जा रहा है अथवा इसका परिणत परिणाम लोगों को दबाना होगा। इस प्रकार, सरकार द्वारा आरम्भ किया हुआ प्रत्येक काम दबाव का हो सकता है, और वही लोगों को समझा-बुझाकर और प्रेरित करके भी किया जा सकता है। आज भी कभी कभी इस प्रकार की शिकायत सुनाई दे जाती है कि अमोनियम सल्फेट का वितरण दबाव डालकर किया जा रहा है, क्योंकि वह तकावी कर्ज के साथ जोड़ दिया गया है। ऐसे उदाहरण और भी दिये जा सकते हैं। हमने उनका संकेत केवल यह दिखलाने के लिये किया है कि सरकार द्वारा आरम्भ किये हुए कामों में ऐसी कोई बात नहीं होती जिसका फल स्वयंमेव दबाव पड़ने या न पड़ने के रूप में प्रकट होता है। यह तो शासकों की और जनता की भावना पर निर्भर करता है। जब तक दोनों ठीक और लोकतन्त्री आदर्शों और सिद्धान्तों पर चलते रहेंगे तब तक सहकारिता की खेती में भी ऐसी कोई विशेष बात नहीं होगी जिसे अन्य समाज-कल्याणकारी कार्यों की अपेक्षा अधिक दबाव डालकर करवाने की आवश्यकता पड़े।

९. हम चाहते हैं कि सरकार खेती करने वालों की सहकारिताओं के प्रति भी वही भाव रखे जो उसका अन्य किसी समाजकल्याणकारी कार्य के प्रति है—हम न इससे अधिक चाहते हैं, न कम। कहा जा सकता है कि यदि इतनी ही बात होती तो इसकी खास वकालत करने की जरूरत नहीं होनी चाहिए थी। परन्तु सहकारिता की खेती के लिए इसकी जरूरत इस कारण पड़ जाती है कि उससे पीढ़ियों पुराने एक रिवाज में परिवर्तन होता है और इसलिए बहुत-से लोग आदर्श के आधार पर उसका तीव्र विरोध करने लगते हैं। ठीक इसी कारण, हमने अपने प्रतिवेदन में स्पष्ट कर दिया है कि इसे आरम्भ करने से पूर्व इसके अच्छे या बुरे होने का निर्णय कर लेना चाहिए, क्योंकि किसी भी नये कार्यक्रम को आरम्भ करने से पहले इस शर्त को पूरा कर लेना पड़ता है। यदि यह अच्छा है तो इससे अगला कदम यह देखने का होगा कि लोगों पर इसकी प्रतिक्रिया कैसी हुई। हमने अपने प्रतिवेदन में भी लिखा है कि 'लोकतन्त्री प्रणाली में अन्ततोगत्वा किसी भी कार्यक्रम की प्रगति का निश्चय तो

उसके विषय में लोगों की प्रतिक्रिया के अनुसार होता ही है, देश के नेता भी उसका समर्थन या विरोध करने का निश्चय लोगों की भावना को देखकर करते हैं।' यदि भारत की जनता इस कार्यक्रम को पसन्द नहीं करेगी तो इसे छोड़ ही देना पड़ेगा, तब इसे चलाने का प्रश्न तक नहीं उठेगा। परन्तु इसे छोड़ना इसकी निष्पक्ष परीक्षा के पश्चात् ही चाहिये। हमने जो आरम्भ में इसके प्रदर्शन का एक कार्यक्रम बनाने की सिफारिश की है, उसे करने में हमारा अभिप्राय यही है। हमारा ख्याल है कि इस कार्यक्रम से देश का बहुतेरा भला हो सकता है। इसीलिए इसकी निष्पक्ष परीक्षा की जानी चाहिए। हमारे साथियों के विचार इसके विपरीत है। वे इस कार्यक्रम को अनिष्ट और अनावश्यक मानते हैं। उनका ख्याल यह भी है कि इसे लोगों पर दबाव डाले बिना क्रियान्वित किया ही नहीं जा सकता। चीन की सहकारिता-संस्थाओं को भी उन्होंने इसी भाव और इसी दृष्टि से देखा है।

१०. क्या कारण है कि हमें तो सहकारिता की खेती का विचार पसन्द है और हमारे मित्रों को नहीं है? क्या कारण है कि हमें तो इसमें अनेक लाभ दिखलाई देते हैं और हमारे मित्रों को नहीं देते? इसके मूल कारण तीन हैं। जिस किसी को कृषि में समाज-वाद पर आचरण करना पसन्द नहीं होगा उसे सहकारिता से खेती करने का विचार भी पसन्द नहीं आयेगा। स्पष्ट है कि सहकारिता-से खेती करना, कृषि के क्षेत्र में समाजवाद पर आचरण करने की दिशा में पहला कदम है। इसका आखिरी कदम—जब भी कभी वह उठाया जायगा—भूमि पर निजी स्वामित्व का अन्त कर देना होगा। जब लोग मिलकर एकत्रित की हुई जमीन में खेती करते हैं तब जमीन का मालिक बनने की भावना मन्द पड़ जाती है, और कुछ समय तक इसी प्रकार काम करते रहने से वह नष्ट ही हो जाती है। यह सहकारिता से खेती करने का स्वाभाविक परिणाम है। इसे बलात् उत्पन्न नहीं करना पड़ता। आरम्भ में ही लोगों को अपनी भूमि एकत्र कर लेने और उस पर मिल कर खेती करने के लिए प्रेरित करने में कठिनाई होती है, परन्तु जब वे एक बार ऐसा करने लगते हैं, तब उनमें क्रमशः अपने श्रम का प्रतिफल लेने की भावना बढ़ने लगती और स्वामित्व का लाभ लेने की घटने लगती है। और यदि खेतों के परिणाम में अन्तर अधिक न हो तो यह परिवर्तन करना बहुत सरल हो जाता है। जो कठिनाइयां होती भी हैं वे सहकारिता-संस्था संगठित करने के समय ही होती हैं, उसे सामुदायिक खेती में परिणीत करने में विशेष कठिनाई नहीं होती। लीएन-मीन सहकारिता-संस्था के अध्यक्ष श्री चेन-यूंग-कांग ने भी हमें अपना अनुभव यही बतलाया था। चीन-भर में प्रायः सर्वत्र हमें ऐसा ही अनुभव हुआ था।

११. सहकारिता के विचार का विरोध करने का दूसरा कारण यह भय है कि इससे हुकूमत-परस्ती, नौकरशाही वृत्ति और व्यक्ति के अधिकारों को दबाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जायगी। भूदान के पक्षपाती भूमि पर निजी स्वामित्व का समर्थन नहीं करते, परन्तु वे भी उक्त भय से यह विचार स्वीकार करने को तैयार नहीं होते। निःसन्देह उनका भय और आपत्ति रिाधार नहीं है। अपने प्रतिवेदन में इस भय से बचने के लिये हमने कुछ सावधानताओं का संकेत कर दिया है। परन्तु अन्त में जाकर इस य के निराकरण का इसके अतिरिक्त कोई उपाये नहीं रह जाता कि किसी को भी हकारिता में उभसकी इच्छा के विरुद्ध सम्मिलित न किया जाय और प्रत्येक को इच्छा होने पर उससे स क् होने की स्वतन्त्रता रहे। जब कोई किसान सहकारिता में सम्मिलित होता है तब उसे अपनी कुछपृथतन्त्रता का बलिदान कर देना पड़ता है, क्योंकि उसे दलीय अनुशासन की आधीनता स्वीकार करनी पड़ती है, परन्तु ऐसा वह एक आदर्श के लिपे और अधिक-तर आर्थिक समृद्धि के लिये बुद्धि-पूर्वक ही करता है। सहकारिता के बिरोध का तीसरा कारण यह है कि कुछ लोग इसके सब गुणों को स्वीकार करते हुए भी हृदय से ऐसा अनुभव करते हैं कि इस पर आचरण स्वेच्छा-पूर्वक और शान्तिमम उपायों के किया ही नहीं जा सकता। इस प्रकार के विचार को कुछ समय तक निष्पक्ष परीक्षा करने के पश्चात् व्यावहारिक अनुभव से ही ठीक माना जा सकता है। अक तो जो लोग यह विचार प्रकट करते है वे पीछे की हुई अनेक चर्चाओं के कारण और व्यक्तियों को होने वाले हानि लाभों को सामने रखकर करते है। यही कारण है कि सहकारिता के अनेक स्पष्ट लाभों को भी नही समझा जाता और शान्त तथा निर्विघ्न परिवर्तन के मार्ग में अनेक कठिनाइया खड़ी हो जाती है।

१२. हम अपने साथियों से सहमत हैं कि 'चीन के घटना-क्रम को मार्क्स और लेनन की विचार-धारा के मूल सिद्धान्त रखकर ही ठीक प्रकार समझा जा सकता है': परन्तु हमारा ख्याल है कि चीन के नेता ऐसे क्रम से आगे बढ़े कि उन्हें किसान जनता का सहयोग प्राप्त करने में सफलता हो गई। इसका लाभ यह हुआ कि किसान जनता खेती के सामुदायिकीकरण की दशा तक पूरी तैयारी के पश्चात् पहुंची और तब वह भली प्रकार जान चुकी थी कि वह किधर और क्यों जा रही है। हमने जो सहकारिताएं देखीं उनमें हमें यह बात भली-भांति समझाकर बतलाई जाती थी। हमें बतलाया गया था कि सहकारिताओं की आवश्यकता, समाजवाद की सफलता और रहन-सहन का दर्जा ऊंचा उठाने, दोनों प्रयोजनों के लिये हैं। हमने उपप्रधान मंत्री श्री तुंग-जे-हुई से यह प्रश्न विशेष रूप से किया था कि आपने पहले तो जमीन छोटे छोटे टुकड़ों में बांटी, उस पर किसानों को पूर्व सामित्व का अधिकार दिया, और फिर आप सहकारिताओं के मार्ग पर चल पड़े, आपने इस लम्बी-चौड़ी प्रक्रिया में से गुजरना क्यों पसन्द किया। उन्होंने तुरन्त ही उत्तर दिया कि यदि हम अन्य किसी मार्ग से आगे बढ़ते तो हमारे किसान हमारी बात न समझ पाते और वे हमारा साथ न देते। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि उनका अन्तिम लक्ष्य निरन्तर और स्पष्टतया उनके सामने रहता था, तो भी उन्होंने यह ध्यान आरम्भ से ही रखा था कि अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचने का मार्ग ऐसा होना चाहिए कि उसके एक एक चरण को किसान जनता समझ ले और उनका साथ देने के लिये तैयार हो जाय। ठीक इसी प्रयोजन से भूमि-सुधार लागू करने के पश्चात्, कुछ वर्ष तक किसानों को जमीनें बेचने खरीदने तक की निर्बाध स्वतन्त्रता दे दी गई थी। इस क्रमिक प्रगति से प्रकट होता है कि चीन के नेताओं को अपने उद्देश्य तक पहुंचने में, अधिकतर किसान जनता को साथ लेकर चलने की चिन्ता, सदा बनी रहती थी। जिन लोगों को चीन का घटनाक्रम-अर्थात् पहले भूमि-सुधार लागू करना और फिर सहकारिता की खेती करवाने लगना, पसन्द नहीं है, वे स्वभावतः उसका अर्थ यही लगायेंगे कि वह किसानों को मजदूर बना डालने के लिये सोच समझकर तयार की हुई कोई योजना थी। हमें लगता है कि हमारे साथियों ने घटनाओं के इस पहलू को समझने का प्रयत्न ही नहीं किया। चीन में, पहले की स्थिति से अगली स्थिति में जाते हुए, अगली स्थिति के लाभों पर भलीभांति विचार कर लिया जाता था कि वे पहली से अच्छे हैं या नहीं। इस प्रकार, जब भूमि-सुधार लागू होने के पश्चात् प्रत्येक किसान अपने खेत का निश्चित रूप से मालिक बन गया तब परस्पर-सहायक-दलों ने उसे गहरी जुताई, विशिष्ट श्रमिकों और अच्छे औजारों आदि की सहायता देने का यत्न किया। ये सब लाभ मिलते हुए भी, किसान ने निजी अनुभव से कुछ कमियां देखीं? और उनके कारण वह भूमि-सहकारिता के लाभों को भली प्रकार समझने में समर्थ हो गया। इस प्रकार यह प्रक्रिया, समझ-बूझकर विकास के मार्ग पर अग्रसर होने की थी, जोर-जबरदस्ती या दबाव के मारे नहीं। इसी कारण उच्चतर दशा की दिशा में परिवर्तन सर्वथा तर्क-संगत था। जब सभी खेतों के मालिक हों और सब मिल-जुलकर काम कर रहे हों, तब यदि देशभर निजी कार-बार को समाज की सम्पत्ति बना डालने का आन्दोलन आप से आप चल निकले तो कृषि को सामुदायिक आधार पर प्रतिष्ठित कर देने का काम कठिन नहीं रह सकता। इतनी बात समझने में कठिनाई किसी को भी नहीं होनी चाहिए। इसी को चीनी लोगों ने अपने आन्दोलन में 'उमड़ती हुई बाढ़' का नाम दिया है।

१३. चीन के भूमि-सुधारों की चर्चा करते हुए, उससे संलग्न हत्या और हिंसा को छिपानेका हमारा इरादा कभी नहीं रहा। चीन की सफलता के कारणों की मीमाँसा करते हुए हमने एक विशेष पैराग्राफ में इसकी वार्ता चर्चा इन शब्दों में की है: "हम न्याय-शासन की सर्वथा भिन्न प्रणाली के अभ्यस्त हैं। इस कारण चीन में अपनाई गई प्रणाली निश्चय ही हमें निन्दनीय लगती है। हम तो, वर्ग संघर्ष को बढ़ावा देने की बात को भी उतना ही अनिष्ट और अनुचित मानते हैं।" श्री लिउ-शओ-ची ने चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की आठवीं कांग्रेस के सामने जो प्रतिवेदन उपस्थित किया था और जिसमें उन्होंने इस हत्या और हिंसा का यह कह कर समर्थन किया था कि इससे किसानों की जन-भावना जागृत होती है, उसके भी बहुत-से उद्धरण हमने अपने प्रतिवेदन में इसी प्रसंग में दिये हैं। हमने चीन की इन अभियोग-सभाओं के विवरणों को अधिक उद्धृत इस कारण नहीं किया कि हमें सरकारी प्रतिवेदन में वैसा करना उचित नहीं जंचा। परन्तु हमारे साथियों ने इन विवरणों को उद्धृत न करने की हमारी त्रुटि की यह कहकर हंसी उड़ाने का प्रयत्न किया है, कि 'हमारी

इच्छा भूमि-सुधार के विस्तार और बारीकियों में जाने की' नहीं थी। उन्होंने ऐसा करके हमारे साथ न्याय नहीं किया। वे शायद एकमात्र इन अभियोग-सभाओं को ही चीन के भूमि-सुधारों को 'विस्तार और बारीकियां' समझते हैं। चीन के भूमि-सुधार कानून का अंग्रेजी अनुवाद ८५ पृष्ठों में आया है, और उसमें देहाती जनता के नाना वर्गों के पारस्परिक अन्तरों की विस्तार तथा सूक्ष्मता से चर्चा की गई है। उसमें यह भी बतलाया गया है कि सरकार ने इन वर्गों का विश्लेषण किस प्रकार किया और इनमें से प्रत्येक के विषय में क्या निर्णय किया और क्यों किया। उसमें यह चर्चा भी है कि भूमि-सुधार लागू करने के पश्चात्, श्रमिकों, अतिरिक्त श्रमिकों, खाते-पीते मध्य-वित्त किसानों, सम्पन्न किसानों द्वारा निर्धन किसानों के शोषण, और प्रतिक्रियावादी सम्पन्न किसानों आदि की क्या-क्या समस्याएं उत्पन्न होंगी और उन्हें हल किस प्रकार किया जायगा। इसके पश्चात् यह विचार किया गया है कि सम्पन्न किसानों के पास जो भूमि, मकान, पशु, और औजार रह जायंगे उनका क्या किया जायगा, और किसानों और मजदूरों में विवाह हो जाने किसे किस वर्ग में गिना जायगा इत्यादि। इस सबके बाद भी हम इस पुस्तक के केवल पूर्वार्ध को समाप्त कर पाते हैं। जब हमने लिखा था कि हमारी इच्छा भूमि-सुधार के विस्तार और बारीकियों में जाने की नहीं है, तब हमारा मतलब विस्तार और बारीकी की इन्हीं बातों से था।

१४. विचारणीय प्रश्न वास्तव में यह है कि भूमि-सुधारों के द्वारा भूमि पर स्वामित्व का अधिकार मिल जाने के पश्चात् भी, किसानों ने क्या सोच कर इतनी बड़ी संख्या में सहकारिता-संस्थाओं का सदस्य बन जाना पसन्द किया। हमारे साथी चाहते हैं कि हम उनके समान यह मान जायं कि यह सब हिंसा और भय के कारण हुआ। हमारी सम्पत्ति में, ऐसा समझना न केवल चीनी सफलताओं के साथ अन्याय करना है, उससे बहुत-से प्रश्न भी अनुत्तरित रह जाते हैं। यह सर्वविदित है कि पूर्वी यूरोप के भी कई देशों में इसी प्रकार का कार्यक्रम चलाकर देखा गया था, परन्तु वहाँ यह बहुत कम सफल हो सका था। इन देशों में भी मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों और परम्पराओं का पालन किया जा रहा है, परन्तु इनके २५ प्रतिशत किसान भी सहकारिता-संस्थाओं में संगठित नहीं किये जा सके। इसलिए ऐसा समझना निरा भ्रम है कि चीन को सफलता इस कारण हुई कि वहाँ पूर्वी यूरोप के देशों की अपेक्षा अधिक हत्याएं और अधिक हिंसामय कारवाइयाँ की गईं और किसानों को अधिक डराया-धमकाया गया। चीन की सफलता के कारण वास्तव में कुछ और ही हैं। रूस के उदाहरण से पता लगता है कि किसानों को मार-पीटकर और डरा-धमकाकर जबरदस्ती सहकारिता-संस्थाओं में धकेल देने का फल यह निकलता है कि उत्पादन घट जाता है। रूसियों को इस हानि की पूर्ति करने में वर्षों लग गये थे। यदि चीन में भी सचमुच यही मार्ग अपनाया गया हो तो वहाँ उसका ऐसा ही फल क्यों नहीं निकला? यद्यपि हमारे साथी उत्पादन में वृद्धि का श्रेय सहकारिता की खेती को देने के लिये तैयार नहीं है, परन्तु वे भी यह नहीं कहते कि सहकारिता की प्रणाली पर चलने का खेती की पैदावार पर और पशुओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। उन्होंने भी उत्पादन में वृद्धि होने की बात तो मानी ही है। हाँ, इसके कारण उन्होंने दूसरे-दूसरे बतलाये हैं। यदि किसानों की बहुसंख्या को सहकारिताओं में ठूंस देने के प्रधान साधन हिंसा और बलात्कार ही होते तो उनका चीन की खेती पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। उसके कारण उत्पादन की भी अवश्य बहुत हानि हो जाती। यदि किसान मन में असन्तुष्ट हों तो अच्छे बीज और उत्पादन बढ़ाने के अन्य सब साधन मिल कर भी कुछ नहीं कर सकते। रूस का उदाहरण बतलाता है कि उक्त प्रकार असन्तुष्ट होने पर किसान जान-बूझकर उत्पादन में बाधाएं खड़ी कर देते हैं। परन्तु चीन में ठीक इसका उलटा हुआ। वहाँ हमें उदासीनता और असहायता के स्थान पर, सर्वत्र उत्साह और सक्रियता के दर्शन होते हैं। वहाँ की दशा देखकर किसानों पर बल और हिंसा का प्रयोग होने की कल्पना का आपसे आप निराकरण हो जाता है। हमारे मित्रों ने इसे देखने और समझने का यत्न नहीं किया। लगभग इसी समय हमारे देश का एक और प्रतिनिध-मण्डल चीन की कृषि-योजनाओं और कृषि-प्रणालियों का अध्ययन करने वहाँ गया था। देखिए, उसका कथन इस सम्बन्ध में क्या है :

"कुछ लेखक ऐसे भी हैं जिन्होंने कहा है, कि चीन के नवीन शासन के आरम्भ में जिस क्रूरता का प्रयोग किया गया वही पीछे जाकर वैयक्तिक खेती को सहकारिता की खेती में परिवर्तित करने का कारण बनी। यह ठीक भी हो सकता है और नहीं भी। परन्तु हमने जो कुछ देखा इस सुझाव

का समर्थन नहीं होता। इस समय वहाँ के किसान जो भारी प्रयत्न और कठोर परिश्रम कर रहे हैं वह बल-प्रयोग, जोर-जबरदस्ती और इसी प्रकार के अन्य साधनों द्वारा नहीं करवाया जा सकता।" (पृ० १६२)

मि० वाकर ने चीन के विकास की प्रायः प्रतिकूल आलोचना की है। उन्होंने भी अपनी पुस्तक में लिखा है :

"८ जनवरी १६५४ को सामुदायिक कृषि के सम्बन्ध में जो निर्णय किया गया था उसका, माओ और उनके साथी, निरन्तर समर्थन करते रहे हैं कि कृषि को सामुदायिक बनाते हुए जलदबाजी और साहसिकता से सदा बचते रहना चाहिए। हमें किसानों को समझाना बुझाना चाहिए, उनके सामने नमूने पेश करने चाहिए, और उन्हें सरकारी सहायता देनी चाहिए, जिससे कि वे स्वेच्छया सम्मिलित होने के लिये तैयार हो जायं।" (वाकर द्वारा लिखित 'चायना अण्डर कम्युनिज्म' अर्थात् चीन पर कम्युनिस्ट शासन)।

१५. हमारे साथियों का ख्याल है कि सहकारिताओं के विकास में जो इतनी आश्चर्यजनक प्रगति हुई वह 'उमड़ती हुई बाढ़' के समय बहुत अधिक जोर-जबरदस्ती करने और दबाव डालने के कारण हुई होगी। उनके पास तो एक ही गुरू है। यदि ऐसा कोई काम हो जाय जो उनके ख्याल से साधारणतया लोगों को पसन्द नहीं आना चाहिए तो वे उसके हो जाने का कारण झट से बल-प्रयोग को बतला देते हैं। इसके विपरीत, हमारा ख्याल यह है कि जब कोई राष्ट्रव्यापी आन्दोलन होता है तब उसकी प्रेरक शक्ति बड़े-बड़े आदर्श हुआ करते हैं। चीन में भी इस काल में ऐसा ही हुआ दीखता है। इस काल में वहाँ भूमि की ही नहीं, समस्त देश की अर्थ-व्यवस्था का कायापलट हो गया। निजी व्यापार और उद्योग, अर्ध-समाजवादी निजी अथवा सरकारी कारबार में बदल गये। जब किसानों ने देखा कि सारी ही अर्थ-व्यवस्था पलटा खा रही है तब उन्हें भूमि के लिये भी नया राष्ट्रीय लक्ष्य स्वीकार कर लेने में देर नहीं लगी।

१६. हमने अपने प्रतिवेदन में सहकारिताओं के संगठन की विभिन्न प्रक्रियाओं का वर्णन किया है। पहली सहकारिताएं कम्युनिस्ट पार्टी ने गाँवों में बनाई थीं, और उनके सदस्य गरीब किसानों में से बनाये गये थे। आरम्भ आरम्भ में, जमींदारों और सम्पन्न किसानों को न केवल सहकारिताओं का सदस्य नहीं बनाया गया था, प्रत्युत उन्हें सदस्य बनाने से इनकार कर दिया गया था। इस समय सहकारिता का सदस्य बनना एक प्रकार का विशेषाधिकार समझा जाने लगा था और उसकी बड़ी तत्परता से रक्षा की जाती थी। जो कोई हृदय से ही सदस्य बनने का अभिलाशी नहीं होता था उसे सदस्य नहीं बनाया जाता था। निःसन्देह, सहकारिताए संगठित करना सरकार की नीति थी, परन्तु माओ के कथनानुसार 'शीघ्रकारिता और साहसिकता से सदा बचते रहना चाहिये। हमें किसानों को समझाना बुझाना चाहिए, उनके सामने नमूने पेश करने चाहिए, और उन्हें सरकारी सहायता देनी चाहिए, जिससे कि वे स्वेच्छया सम्मिलित होने के लिये तैयार हो जाय।' और इस सलाह पर प्रायः सर्वत्र अमल किया गया दीखता है। निःसन्देह कहीं कहीं इसके विपरीत भी आचरण हुआ। जोशीले कार्यकर्ताओं ने बल का प्रयोग किया और शीघ्रता से सहकारिता बना डालीं। परन्तु उन्हें सावधान कर दिया गया और उनकी भूल सुधार दी गई। शायद सरकारी सहायता भी आकर्षण का एक बड़ा कारण रही हो, और जो किसान सहकारिताओं में सम्मिलित नहीं हुए थे उनके साथ भेद-भाव-पूर्ण व्यवहार किया गया हो। सरकारी सहायता के कारण सहकारिताओं का उत्पादन बढ़ गया, और उसके कारण सन्देह में पड़े हुए अथवा डाँवाडोल होने वाले किसान भी सहकारिताओं की ओर आकृष्ट हो गये। उमड़ती हुई बाढ़ आने तक यही दशा रही, और तब सहकारिताओं में सम्मिलित होने की प्रवृत्ति ने जनता के आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार, समझाना-बुझाना, सरकारी सहायता, सफल सहकारिताओं के उदाहरण, निजी किसानों की सहायता पाने में असफलता और अ-सदस्य किसानों से अन्न की अधिक वसूली भी, किसानों को बहुसंख्या में सहकारिताओं की ओर आकृष्ट करने का कारण बन गये। यह भी सम्भव है कि कुछ मध्य-वित्त किसान केवल इस कारण सहकारिताओं के सदस्य बन गये हों कि उन्हें कहीं जमींदारों और सम्पन्न किसानों में न गिन लिया जाय। जमींदारों और सम्पन्न किसानों को

सहकारिताओं का सदस्य सबके अन्त में बनाया गया था। इससे स्पष्ट है कि किसानों की प्रबल बहुसंख्या सहकारिताओं में स्वेच्छा-पूर्वक अर्थात् बिना किसी विवशता या बिना अपनी इच्छा को दबाये, सम्मिलित हुई थी। हमने 'स्वेच्छा-पूर्वक' शब्द का प्रयोग इन्हीं अर्थों में किया है। परन्तु हमारे साथियों ने इस शब्द का जो अर्थ लगाया है, उसमें तो चीन में कोई भी काम स्वेच्छा पूर्वक हो ही नहीं सकता, क्योंकि वहां कम्युनिस्ट पार्टी के संगठित विरोध का सर्वथा अभाव है।

१७. हमारे साथियों ने सहकारिताएं बनाने के लक्ष्य निर्धारित कर देने पर भी आपत्ति की है। वे इसे भी स्वेच्छा-सिद्धान्त के विरुद्ध बतलाते हैं। परन्तु लक्ष्य निर्धारित कर देने मात्र से आन्दोलन के स्वेच्छा-प्रेरित स्वरूप का विरोध नहीं हो जाता, बशर्ते कि उसकी पूर्ति वस्तुतः स्वेच्छया ही होने दी जाय। भारत में भी हमने अनेक समाज कल्याण के कार्यों के लक्ष्य निर्धारित कर रक्खे हैं, और उनकी पूर्ति में जनता से भी सहयोग की अपेक्षा की जाती है। ये एक प्रकार सरकार के प्रयत्न के और उस पर जनता की प्रतिक्रिया के सूचक होते हैं। द्वितीय योजना के इन शब्दों का भी हम यही अर्थ समझते हैं: "द्वितीय योजना के प्रथम वर्ष में ही, राज्यों के साथ विचार-विनिमय करके और अब तक प्राप्त अनुभव को सामने रखकर, यह निश्चय कर लेना चाहिए कि हमें योजना की पंचवर्षीय अवधि में सहकारितापूर्वक खेती करने के किन-किन लक्ष्यों को पूर्ण कर लेना है।"

१८. चीन में 'काम के पैमानों' की जो पद्धति अपनाई गई है उसकी आलोचना हमारे साथियों ने यह कहकर की है कि उसके द्वारा किसान निरे औजार बन जायंगे, और अपनी सूझबूझ से काम करने की खेती के पेशे की जो विशेषता है वह नष्ट हो जायगी। वस्तुतः इन सज्जनों ने चीन की सहकारिता के प्रबन्ध की पद्धति को और उस प्रबन्ध में 'काम के पैमानों' की उपयोगिता को पूरी तरह समझा ही नहीं। चीनी सहकारिताओं के सदस्यों को पारिश्रमिक दैनिक काम या काम की मात्रा के हिसाब से नहीं दिया जाता। सदस्यों को अपने काम के बदले सहकारिता की उपज में कुछ भाग मिलता है। हम तो 'काम के पैमानों' की पद्धति चलाने का उद्देश्य ही यह समझे हैं कि प्रत्येक सदस्य के काम का मूल्य आंकने का एक ऐसा उपाय निकाल लिया जाय जिससे कि सहकारिता के खेत की उपज को सब सदस्यों में, उनके काम के परिणाम और प्रकार के हिसाब से, बांटा जा सके। किसी भी सामुदायिक कार्य में ऐसा कोई उपाय निकालने की आवश्यकता पड़ती ही है, जिससे कि विभिन्न सदस्यों की कार्य करने की सामर्थ्य को आंका और उन्हें अधिक अच्छा काम करने के लिए उत्साहित किया जा सके।

१९. हमारे साथी हमारे इस विचार से सहमत नहीं है कि चीन में उत्पादन बढ़ाने का एक कारण सहकारिता-पूर्वक खेती करना भी है। वे यहां तक कहते हैं कि यदि यह मान भी लिया जाय कि उत्पादन का कुछ अदृश्य तथा अनिश्चित अंश सहकारिता की खेती के कारण बढ़ा होगा—जो कि अतिसन्दिग्ध है—तो भी उसका श्रेय उच्चतर सहकारिताओं और सामुदायिक कृषि को तो किसी भी प्रकार नहीं दिया जा सकता। वे, उत्पादन में वृद्धि का कारण, चीनी किसानों की कठिन परिश्रम करने की सामर्थ्य और सरकार द्वारा ऋण तथा अन्य सहायताएं मिल सकने का संगठन तथा प्रबन्ध कर देने को बतलाते हैं। हम यहां यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जब हमने कहा था कि चीन में उत्पादन सहकारिता की कृषि के कारण बढ़ा, तब हमारा अभिप्राय आरम्भिक और समुन्नत, सभी प्रकार की सहकारिताओं से था। यद्यपि चीनी लोग दावा करते हैं कि समुन्नत सहकारिता में आरम्भिक सहकारिता की अपेक्षा अधिक उत्पादन किया जा सकता है और इस दावे की पुष्टि तर्क से भी की जा सकती है (अर्थात् समुन्नत सहकारिता में क्योंकि समस्त उत्पत्ति सदस्यों में उनके श्रम के हिसाब से बांट दी जाती है, जमीन की मालिकी का भाग पृथक् नहीं करना पड़ता, इसलिए सदस्यों को श्रम अधिक और अच्छी प्रकार करने का उत्साह होता है और इस कारण उत्पत्ति बढ़ जाती है) परन्तु हमने दोनों प्रकार की सहकारिताओं में भूमि की उपज की तुलना करके नहीं देखा। हमने अपने प्रतिवेदन के छठे अध्याय में (७ से २१ पैराग्राफ तक) दिखलाया है कि सहकारिताओं के प्रयत्न से किस प्रकार सिंचाई के प्रदेश में वृद्धि हो गई, भूमि में अन्य अनेक प्रकार के सुधार हो गये, खाद अधिक मिलने लगी और खेती की अधिक अच्छी विधियों का प्रयोग किया जाने लगा। हमने यह भी दिखलाया है कि यदि भूमि को सहकारिताओं

के संगठन में एकत्र न कर दिया जाता तो ये सब सुधार न हो पाते। सहकारिताओं के कारण ही खेती करने की अधिक अच्छी विधियां शीघ्रता-पूर्वक अपनायी जा सकीं। यह ठीक है कि ऋण तथा अन्य सहायताएं मिल सकने का प्रबन्ध सरकार के द्वारा कर दिया गया था, परन्तु हमें भारी सन्देह है कि भूमि-सहकारिता-संस्थाएं न होतीं तो केवल इन सहायताओं के द्वारा लाखों किसानों तक पहुंच हो सकती या नहीं। हमारे इस विचार का समर्थन उस प्रतिनिधि-मण्डल ने भी किया है जो चीनी कृषि की योजनाओं और विधियों का अध्ययन करने वहां गया था। उसने लिखा है: "विदेशी यात्रियों के सामने आंकड़े तो पेश किये ही जाते हैं, परन्तु उनको चीनी सहकारिताओं की सफलता का प्रत्यक्ष प्रमाण खेती की फसलें और उनमें काम करते हुए देहाती श्रमिकों को देखकर मिलता है। यह सब, और चीनियों द्वारा पेश किये हुए आंकड़े देखने के पश्चात् यह सन्देह नहीं रह जाता कि चीनी सहकारिताएं सफलता तथा संगठन पूर्वक कार्य कर रही हैं, और उन्होंने ऐसी अवस्थाएं उत्पन्न कर दी हैं कि आगामी वर्षों में प्रगति शीघ्र-शीघ्र हो सकेगी।" (पृष्ठ १६० पैरा ११।१२)। उन्होंने आगे चलकर लिखा है "इसमें सन्देह नहीं कि लाखों चीनी किसानों को सहकारिता की खेतियों में संगठित करके, चीन ने अपनी खेती को उस पुरानी लीक में से निकाल लिया है जिसमें कि वह न जाने कब से फंसी हुई थी, और वर्तमान सहकारिताएं उसके उज्वल भविष्य की ओर संकेत कर रही हैं......" (पृ० १६६ पैरा ११।१४)। स्पष्ट है कि चीनी सहकारिताएं इस समय अच्छा काम कर रही हैं। यह भी स्पष्ट है कि वे भविष्य के लिये भी प्रगति का संकेत कर रही हैं।

२०. हमारे साथियों को शिकायत है कि हमने जापान के अनुभवों पर बहुत कम ध्यान दिया। उनके विचार में, जापान के अनुभवों का भारत के लिए, चीन की अपेक्षा, अधिक महत्व है। हम इस विचार से सहमत नहीं हैं। हम खूब जानते हैं कि जापान के कृषि और उद्योग, दोनों ही बहुत अच्छी प्रकार विकसित हैं। परन्तु हम अपने प्रतिवेदन में लिख चुके हैं कि जापान का तथा अन्य देशों का आर्थिक विकास (उनकी कृषि का भी) औपनिवेशिक विस्तार के समय हुआ था। उस समय उनका कच्चे माल पर और तैयार माल के बाजारों पर प्रायः एकाधिकार था। उस समय तक लोगों की सामाजिक चेतना भी उन्नत दशा में नहीं थी, इस कारण स्वदेश और विदेश में उनका शोषण किया जा सकता था, और जिस पूंजी के बल पर इन देशों ने अपनी कृषि और उद्योग की उन्नति की वह इस शोषण के द्वारा ही एकत्र हुई थी। भारत में हमें प्रधानतया अपने आन्तरिक साधनों के ही भरोसे रहना पड़ेगा। 'कल्याण-राज्य' का विचार आज बहुत आगे बढ़ चुका है। इस कारण जनता का शोषण करके बड़ी पूंजी एकत्र कर देने की आज कल्पना तक नहीं की जा सकती। हमारे आन्तरिक साधन सीमित हैं। लोगों की आमदनियां कम हैं। अधिकतर लोग अपना निर्वाह-मात्र कर पाते हैं। उनका रहन-सहन का दर्जा ऊंचा उठाने के साथ-साथ विनियोग और विकास, दोनों प्रयोजनों के लिए बचत भी करनी होगी। कृषि का विकास करने के लिए हमें वित्त की तलाश अपनी कृषि में ही बचत करके करनी होगी, वरना हमें अपने औद्योगिक विकास में कटौती करनी पड़ जायगी, कृषि की सहकारिता-संस्थाओं का संगठन करना ही एकमात्र ऐसा मार्ग है, जिस पर चल कर उक्त प्रयोजन के लिए राष्ट्रीय साधनों का उपयोग किया जा सकता है, क्योंकि इसमें मुख्यतया जन-शक्ति से काम लिया जाता है। इस प्रयोजन की सिद्धि कौटुम्बिक कृषि के द्वारा नहीं हो सकती। इस कारण, भारत की स्थिति जापान की अपेक्षा चीन से अधिक मिलती-जुलती है।

२१. भारत कीभूमि-नीति के लक्ष्य की चर्चा करते हुए हमारे साथियों ने लिखा है कि 'हमारा लक्ष्य कृषि को सामुदायिक आधार पर करने का नहीं, अपितु कृषि का उत्पादन बढ़ाने की अपनी तत्कालिक आवश्यकता की हानि किये बिना सामाजिक न्याय करने का है।' इसकी पूर्ति के लिये उन्होंने, सेवा सहकारिता-संस्थाओं की सहायता से कौटुम्बिक कृषि को बढ़ावा देने की सिफारिश की है। उत्पादन के लिये सहकारिता के प्रयोग को न वे आवश्यक मानते हैं, न इष्ट। हम यह नहीं कहते कि हमारे विकास-कार्यक्रम ने सेवा-सहकारिताओं की कोई गुंजायश नहीं है। हम स्पष्ट कर चुके हैं कि निकट भविष्य में ही उनसे बड़ा काम निकलने वाला है। हमारे कथन का अभिप्राय

इतना ही था कि कौटुम्बिक कृषि और सेवा-सहकारिताओं की अपनी सीमाएं हैं, इस कारण शीघ्रता-पूर्वक आर्थिक विकास करने के लिये कृषि-सहकारिताएं अधिक उपयोगी हो सकती हैं। अपने प्रतिवेदन के दसवें अध्याय में हमने विस्तारपूर्वक बतलाया है कि हम आर्थिक और सामाजिक कारणों से सहकारिता की कृषि को अधिक इष्ट क्यों मानते हैं। प्रथम और द्वितीय, दोनों पंचवर्षीय योजनाओं में इस विचार का असन्दिग्ध शब्दों में समर्थन किया गया है। हमने अपने प्रतिवेदन में जो सिफारिशें की हैं, उनसे दोनों योजनाओं में बतलाये हुए उद्देश्यों की पूर्ति में बड़ी सहायता मिलेगी।

२२. हमारे साथियों का विचार है कि सरकार द्वारा सब कुछ सहकारिताओं के द्वारा करने का आन्दोलन छेड़ना खतरनाक होगा, क्योंकि वैसा करते हुए किसी न किसी रूप में दबाव का प्रयोग करना ही पड़ेगा। उन्होंने यह भी कहा है कि चीन की कम्युनिस्ट सरकार जिस भूमि-नीति पर चल रही है उसको कम्युनिस्ट आदर्शों से पृथक् करके प्रकट नहीं करना चाहिए। ऐसा किया गया तो देश में भारी भ्रम फैल जाने की सम्भावना है। उनका अभिप्राय शायद यह है कि कृषि-सहकारिताओं का संगठन बिना हिंसा और वर्ग-संघर्ष के नहीं किया जा सकता। हम इस विचार से सहमत नहीं हैं। हमारा ख्याल है कि संसदीय लोकतंत्र में भी, लोकतंत्री विशेषताओं की बिना कोई हानि किये, किसानों को कृषि-सहकारिताएं बनाने के लिये मनाया जा सकता है। भारत में अन्य भी अनेक विचारकों और योजना-निर्माताओं का विचार यही प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में द्वितीय पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य निम्न शब्दों में प्रकट किया गया है :—

"द्वितिय पंचवर्षीय योजना में मुख्य कार्य ऐसे उपाय करना होना चाहिए जिनसे कि सह-कारिता की खेती के विकास की नींव पड़ जाय और अगले दस वर्षों या लगभग इतने ही समय में कृषि की अधिकतर भूमि में खेती सहकारिता-पूर्वक होने लगे।" संसद् की अन्दाजा-समिति ने भी लिखा है :—

"इस देश के प्रायः प्रत्येक राज्य में बहुत-से किसानों के खेत इतने छोटे छोटे हैं कि उनमें खेती करके लाभ नहीं कमाया जा सकता। इस कारण इस समिति का मत है कि इस देश में कृषि-सहकारिता-संस्थाएं बनाने का महत्व बहुत अधिक है। परन्तु प्रतीत होता है कि इसका महत्व अभी तक पूरी तरह समझा नहीं गया। शायद यही कारण है कि इस दिशा में प्रगति बहुत सुस्ती से हो रही है। समिति ने सुना है कि चीन ने सहकारिता-पूर्वक खेती करने में बहुत सफलता प्राप्त की है : कहते हैं कि वहां ८५ प्रतिशत भूमि में खेती सहकारिता-पूर्वक की जा रही है। निःसन्देह वहां की परिस्थितियां इस देश की परिस्थितियों से भिन्न हैं। फिर भी समिति का ख्याल है कि इस क्षेत्र में हम चीन के अनुभवों से लाभ उठाने का प्रयत्न कर सकते हैं। हमारे यहां भी सर्वत्र सहकारिता-पूर्वक खेती करके देखनी चाहिए, विशेषरूप से उन इलाको में जहां कि लाभ-हीन खेतों की संख्या बहुत हो। यदि इस प्रकार खेती करने के लाभ किसानों को भलीभांति बतला दिये जायंगे तो समिति को निश्चय है वे स्वयमेव उचित मात्रा में सहयोग करने लगेंगे। समिति को आशा है कि कृषि-विशेषज्ञ और उस प्रतिनिधि-मण्डल के सदस्य, जो कि हाल में सहकारिता का अध्ययन करने चीन भेजा गया था, इस कार्य के तथा कृषि का उत्पादन बढ़ाने के लिए उपयोगी और व्यावहारिक सुझाव दे सकेंगे।"

२३. इस प्रतिवेदन में हमने, इसी प्रसंग में राष्ट्र-पिता के विचारों का हवाला दिया है। उन्होंने जिस लेख में अपने विचार प्रकट किये थे उसे हमने सारा का सारा उद्धृत कर दिया है। उनके विचार इस विषय पर बडे स्पष्ट हैं। खेती के विषय में ही नहीं, पशु-पालन के विषय में भी। उन्होंने न केवल सामुदायिक पशु-पालन और सामुदायिक कृषि के लाभों की प्रशंसा की है, वैयक्तिक खेती की यह कहकर निन्दा भी की है कि वह अन्यायपूर्ण है और उससे हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। लोगों को सहकारिता की पद्धति पर लाने की कठिनाई स्वीकार करते हुए भी, उन्होंने यह परिवर्तन करने की जबरदस्त सिफारिश की है। राष्ट्रपिता के विचारों का हवाल देने में हमारा अभिप्राय यह नहीं कि उन्हें वेदवाक्य के समान मान ही लिया जाय, अपितु यह दिखलाना है कि भारत के भी प्रगतिशाली विचारक क्या सोचते और कहते हैं।

२४. हमारे साथियों का जो यह विचार है कि कृषि का सामुदायिकीकरण किसानों पर जोर-जुल्म और जबरदस्ती किये बिना हो ही नहीं सकता, वह शायद रूस में सामुदायिकीकरण के समय की गई हिंसा तथा जोर-जबरदस्ती के कारण बन गया है। चीन के विषय में भी उन्होंने उसी के आधार पर कल्पना कर ली दीखती है। परन्तु हमारा विश्वास है कि भारत में सहकारिता का आन्दोलन अहिंसामय ही रहेगा। और हमारा यह विश्वास पर्याप्त साधार है। समाजवाद के विचार अब पर्याप्त पुराने हो चुके और दूर-दूर तक फैल चुके हैं। यह आवश्यक नहीं कि किसी देश ने आज से तीस वर्ष पूर्व इन विचारों पर आचरण करने के लिये जिन उपायों का अवलम्बन किया था हम आज भी उन्हीं उपायों से काम लें। भारत की दृढ़ परम्परा ही यह है कि प्रत्येक युक्ति-संगत और प्रगतिशाली विचार को प्रसन्नता-पूर्वक अपना लिया जाय। हम हाल में ही देख चुके हैं कि किस प्रकार इस देश के अनेक विस्तृत प्रदेशों में जमींदारों और राजाओं का शान्ति तथा अहिंसा-पूर्वक अन्त कर दिया गया। उसके बाद हमने यह भी देखा कि किस प्रकार लोगों ने स्वयमेव ४५ लाख एकड़ भूमि और २००० पूरे ग्रामों पर स्वामित्व के अधिकार का स्वेच्छा से परित्याग कर दिया। कुछ वर्ष पूर्व इन बातों को असम्भव समझा जाता। परन्तु समय और विचार की गति ने आज उन्हें प्रत्यक्ष कर दिखलाया है। इन ऐतिहासिक घटनाओं के कारण ही हम कहते हैं कि हमारे साथियों का यह विचार सर्वथा भ्रान्त है कि सब कामों में सहकारिता लागू करने का कार्यक्रम भारत में भी बिना हिंसा और दमन के पूरा नहीं हो सकता। हमारी सम्मति में ऐसी कुकल्पनाएं हमारी राष्ट्रीय परम्परा के प्रतिकूल हैं।

२५. हमारे साथी यह भी नहीं मानते कि सहकारिता से उत्पादन बढ़ जायगा या रोजगार मिलने के अवसर अधिक हो जायंगे। हमने दसवें अध्याय में इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है और युक्ति-पूर्वक दिखलाया है कि किस प्रकार सहकारिता की खेती से उत्पादन बढ़ सकता और उपलब्ध श्रमिकों का अधिकाधिक उपयोग भूमि को सुधारने, उतनी ही खेती से अधिक उपज लेने, मकानों को अधिक अच्छा बनाने, रास्ते सुधारने और अन्य अनेक सामाजिक कामों के लिये किया जा सकता है। उन्होंने लिखा है कि चीन में अर्ध बेरोजगारी बहुत अधिक थी और सहकारिताओं के सदस्यों को भी वर्ष में २०० दिन से अधिक काम नहीं मिल पाता था। वस्तुतः ये २०० दिन नहीं, २०० कार्य-दिन हैं। इसका अर्थ काम के दिनों की गिनती में, २४ घंटे के २०० दिनों से बहुत अधिक होता है। परन्तु हम यहां जोर इस बात पर देना चाहते हैं कि जितनी भी सहकारिताएं हमने चीन में देखी उनमें से प्रत्येक काम के दिनों की संख्या प्रतिवर्ष निरन्तर बढ़ती जा रही थी। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि सहकारिताओं के द्वारा लोगों को काम करने का पहले की अपेक्षा बहुत अधिक अवसर मिला है। हमें बतलाया गया था कि कृषि-मंत्रालय अब सहकारिताओं में उत्पादन का संगठन इस प्रकार करने वाला है कि कम से कम ९० प्रतिशत सदस्यों को प्रतिवर्ष अपनी आय में प्रत्यक्ष वृद्धि होती दिखलाई देने लगेगी।

२६. हमारे साथी हमारे भूमि-सुधार सम्बन्धी सुझावों से भी सहमत नहीं हैं। उनका ख्याल है कि फालतू जमीन इकट्ठी करके बेजमीन मजदूरों की सहकारिताओं को सौंप देने के हमारे सुझाव का परिणाम यह होगा कि बेजमीन किसानों पर सहकारिताओं का सदस्य बन जाने के लिये दबाव पड़ेगा, और वे कहते हैं कि "यदि बेजमीन किसानों के लिए, सहकारिता का सदस्य बन जाने और उसी में बने रहने के अतिरिक्त, भूमि प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग रहने ही नहीं दिया जायगा तो इससे बढ़कर उन पर दबाव डालने का व्यावहारिक तथा प्रभावशाली उपाय और क्या होगा?" हमारा निवेदन है कि हमारे सुझाव को हमारे साथियों ने ठीक प्रकार समझा ही नहीं। हमारे सुझाव की खूबी यह है कि उससे मजदूर को तो जमीन पर काम करने का अधिकतम बढ़ावा मिलेगा और जिन वर्गों पर उसका प्रभाव पड़ेगा उन्हें अपने आपको नयी परिस्थितियों के अनुसार ढाल लेने का अवसर मिल जायगा। परन्तु अपने प्रतिवेदन में हमने स्पष्ट कर दिया है कि यदि सहकारिता का संगठन न किया जा सके, अथवा कर देने पर भी उसे भंग करना पड़ जाय, तो उस जमीन को बेजमीन किसानों तथा छोटे मालिकों में बराबर बांट दिया जाय और यदि सम्भव हो तो उन्हें फिर सहकारिता में संगठित हो जाने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय।

केवल
जुताई
ात है,
ंया है
न हो
र सदा
ाकतम
प्रयत्न
दिया
ं भूमि
संख्या
रिमाण
र-बार
त कर
उपाय
। यह
र भाव
ने का
अपने

शेषत:
गमता
करने
उपाय
ना ले,
हो तो
े और
ंगत ।
पहले
है कि

इस प्रकार के वातावरण में, सामाजिक न्याय करने और लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठाने के उद्देश्य से, उन्हें जो भी कुछ करने को कहा जायगा उसे करने को प्रसन्नता से तैयार हो जायंगे।

—:समाप्त:—

LIBRARY

LAL BAHADUR SHASTRI

National Academy of Administration

MUSSOORIE

*Accession No.*____________

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving